पं॰ देशबन्धु लेखावलि

आध्यात्मिक निबन्ध

सम्पादक :

आदित्य प्रकाश आर्य

वेद मन्दिर (गीता आश्रम)

ज्वालापुर जनपद-हरिद्वार-249407

प्रकाशक :

श्रीमती लीलावती गुप्ता शास्त्री, बरेली

१५.६/८५

पुस्तकालय 103948

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

विषय संख्या ________ आगत नं० ________

लेखक ओमप्रकाश

शीर्षक पं. देशबन्धु के कोमल आध्यात्मिक निबन्ध

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य सख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

प्रकाशक- श्रीमती लीलावती गुप्ता शास्त्री, बरेली

पं० देशबन्धु लेखावलि

आध्यात्मिक निबन्ध

सम्पादक–

आदित्य प्रकाश आर्य
वेद मन्दिर (गीता आश्रम)
ज्वालापुर जनपद – हरिद्वार – 249407

प्रकाशक– श्रीमती लीलावती गुप्ता शास्त्री, बरेली

– श्रीमती लीलावती गुप्ता शास्त्री
A.47, सिविल लाइन्स, बरेली

– प्रथम संस्करण, 6 जनवरी, 1996
(श्री देशबन्धु जी का जन्म दिवस)

– पुस्तक प्राप्ति स्थान

✱ **श्री देश बन्धु**
आर्य वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर - 249407 (हरिद्वार)

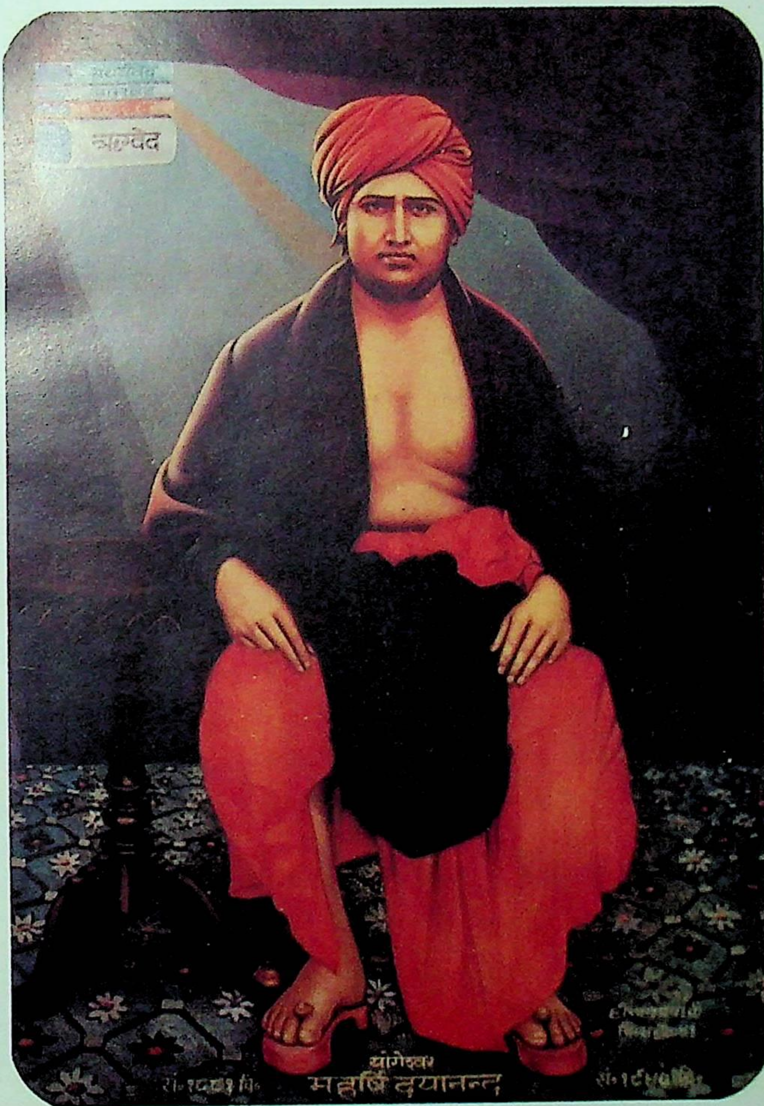
✱ **श्रीमती लीलावती गुप्ता, बरेली**

✱ **श्री आदित्य प्रकाश आर्य, ज्वालापुर (हरिद्वार)**

मूल्य 60.00

कम्पोजिंग: पालीवाल, महेन्द्र कुमार, ज्वालापुर (हरिद्वार)

मुद्रक : राधा प्रेस, गांधी नगर, दिल्ली



स्वामी दयानन्द सरस्वती

ओ३म्

आचार्य देशबन्धु जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

माननीय आचार्य देशबन्धु जी का जन्म 7 जनवरी, 1895 में हुआ था। आपके पूज्य पिताजी श्री शंकरप्रसाद जी तिवारी तत्कालीन वायसराय के वैयक्तिक कोषाध्यक्ष होने के कारण अनेक ग्रामों का स्वामित्व करते रहे। अन्त में तहसीलदार का पद ग्रहण किया। आपके पारिवारिक स्वजन 'जौहरी' के व्यापार में संलग्न थे। आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित बुद्धदेव जी विद्यालंकार जी की सहोदरा भगिनी साध्वी श्रीमती शकुन्तला देवी के साथ आचार्य प्रवर का पावन दाम्पत्य जीवन व्यतीत हुआ है। माता शकुन्तला देवी जी सीता-सावित्री के पद चिह्नों पर चलने वाली सच्ची पतिव्रता देवी हैं। दोनों का आदर्श जीवन भारतीय संस्कृति का पवित्र सन्देश प्रस्तुत कर रहा है।

सम्मान्य आचार्य जी की शिक्षा का शुभारम्भ गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी से हुआ। आर्ष पाठविधि में अध्ययन करते हुए पाणिनीय अष्टाध्यायी को कण्ठस्थ किया। नव्य प्राच्य व्याकरण की पूर्ण शिक्षा प्राप्त की । वैदिक-लौकिक संस्कृत साहित्य का भी गम्भीर स्वाध्याय किया । स्वामी श्रद्धानन्द जी के संरक्षण में ही सुशिक्षा प्राप्त कर उसी गुरुकुलीय संस्था में पवित्र सेवा भावना से मुख्याधिष्ठाता के पद को ग्रहण कर निरन्तर सेवा करते रहे। आपकी कठोर परिश्रम से की गई गुरुकुलीय सेवा प्रशंसनीय रही। अध्ययन काल में आप अत्यन्त कृशकाय प्रतीत होते थे। जिसे देखकर चतुर्वेद भाष्यकार श्री जयदेव जी विद्यालंकार को हार्दिक कष्ट हुआ । उन्होंने गुरुकुल निवासी आचार्य देशबन्धु जी को स्वस्थ बलिष्ठ बनाने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की । स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भी अपने सुयोग्यस शिष्य को उत्तम स्वास्थ्य हेतु प्रोत्साहित किया। परिणाम स्वरूप शीघ्र ही आपका शारीरिक सौष्ठव प्रकाशित होने लगा अपने स्वास्थ्य बल से ही अनेक आकर्षक प्रदर्शन प्रस्तुत करने लगे। भारात के अनेक प्रान्तों में ही नहीं विदेशों में भी अद्भुत भीम-प्रदर्शनों का तांता लग गया। गत के का प्रशिक्षण, वक्षस्थल के ऊपर से भरी गाड़ी को उतरवाना, कमिश्नर की कार रोकना, साढ़े तीन मिनट की जल में डुबकी लगाना आदि आपके जीवन के प्रमुख प्रभावोत्पादक कार्यक्रम रहे ।

सन् 1980 में गोलकुण्डा (हैदराबाद) में वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा प्राप्त कर के आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर को ही अपना आवास स्थान बना। इस आश्रम में प्रवेश करने के पश्चात्

प्रात:कालीन सत्संग में प्राय: आपके आध्यात्मिक शास्त्रीय प्रवचन चलते रहे हैं। संस्कृत कक्षाओं का सुचारुत: सञ्चालन करते रहे। आश्रम की विभिन्न गतिविधियों में भी आपका सर्वदा सहयोग प्राप्त हुआ।

योगाभ्यास, प्राणायाम के निरन्तर प्रयोग से आपने अपने शरीर को सबल सुपुष्ट बनाकर दीर्घायु प्राप्त की। 'जीवेम: शरद: शतं' 'भूयश्च शरद: शतात् अदीना: स्याम शरद: शतम्'' का वैदिक आदर्श प्रस्तुत किया । धर्मानुरागी आचार्य प्रवर माननीय देशबन्धु जी का 6 जनवरी 1995 को 101वें जन्मदिवस समारोह के अवसर पर आश्रमवासियों ने श्रद्धापूर्वक सादर अभिनन्दन किया। वैदिक संस्कृति के प्रति अनुराग, आजीवन कर्मठता, तपश्चर्या आदि से प्रेरणा पाकर भक्तों ने प्रार्थना की कि पूजनीय गुरुवर 21वीं शताब्दी में पहुँच कर अपने दीर्घ जीवन से सभी आश्रमवासियों को अपना वरदहस्त प्रदान करते रहें।

इस दीर्घ जीवन में आप निरन्तर लेखन कार्य में संलग्न रहे। गम्भीर दार्शनिक विद्वत्तापूर्ण लेखों से आपने सभी पाठकों को प्रभावित किया है। सरल, सुबोध, आलंकारिक भावपूर्ण शैली से निर्धारित विषयों को बोधगम्य बनाया। कुछ सारगर्भित लेख निम्नांकित हैं -

अतप्ततनुर्नतदामो अश्नुते, विन मांगे मोती मिले, विरोधाभास, प्रवचन, उद्यानं ते पुरुषनावयानम्, आशा हि परमं दु:खम्, साधना की भूमिका, वृद्धावस्था, दीक्षा, परम पुरुषार्थ, अब तब और फिर, नामरूपे विहाय, अस्तेय, पूर्णमद: पूर्णमिदम्, क्रियायोग, दु:ख का मूल, त्यागमीमांसा, कर्वन्नेवेहकर्माणि, जीवन की सार्थकता, समर्पण - इत्यादि ।

अनेक गम्भीर विचारपूर्ण लेखमालाएँ प्रस्तुत कर स्वाध्यायशील जनों का कल्याण किया है। सभी लेखों का भाव पक्ष एवं कला पक्ष स्तुत्य है। शब्दचयन तथा वाक्यविन्यास आपकी योग्यता का परिचायक है। आजीवन अध्ययनशीलता, चिन्तन, मनन का सुपरिणाम ही यह लेखावली है।

वेदानुकूल दीर्घायुष्य प्राप्त कर अब भूयश्च शरद: शतात् - के अनुसार 101वें जन्म दिवस में पदार्पण करने जा रहे हैं। प्रभु आपको लोक कल्याणार्थ विशेष बलवती प्रेरणा प्रदान करें। हम सब उनके सुपावन जीवन से शक्ति सम्पन्न होते रहें।

डॉ० सावित्री देवी शर्मा
वेदाचार्या



परिवार तथा स्वजनों के साथ (सितम्बर 1995 में)



पति-पत्नी संवाद

प्र

वै

क
क
(
वि

अ

गु
सं
अ
नि

प

प्रे
अ
ग
स

ओउम्

ओं पवस्व वृष्टिमा सु नो अपामूर्मि दिवस्परि
अयक्ष्मा बृहतीरिषः ।।
(ऋ.9.49.1)

प्रभो! वृष्टि को, जलों को, नीरोगता को, इच्छाओं को हमारे लिए सर्वत्र भलीभांति बरसाओ, पुरपूरित करो ।

दिनांक 6.1.95 को शतवर्ष पूर्ण किए वयोवृद्ध **आचार्य श्री देशबन्धु जी** की सेवा में

* अ भि न न्द न - प त्र *

वैदिक परम्परा के अनुयायी महापुरुष !

आपका समूचा जीवन आश्चर्य चकित घटनाओं का समुच्चय है। वायसराय के वैयक्तिक कोषाध्यक्ष और अनुपरान्त तहसीलदार पदधारी श्री शंकरप्रसाद तिवारी के घर आप जैसे महान् चिन्तक का जन्म 6 जनवरी 1895 में हुआ। माननीय श्री रामचन्द्र जी की पुत्री एवं स्वामी समर्पणानन्द (तत्कालीन पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार) की सगी बहन् श्री शकुन्तला देवी जी से 1922 में आपका विवाह हुआ । आज भी आप दोनों आर्यवानप्रस्थाश्रम को सुशोभित कर रहे हैं।

आचार्य प्रवर !

आपने पाणिनीय अष्टाध्यायी से शिक्षा प्रारम्भ करके स्वामी श्रद्धानन्द जी की छत्रछाया में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से 1918 में विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् आपने इसी संस्था में मुख्याधिष्ठाता का कार्य, दिल्ली में श्री राय जी के पास डी.सी.एम. में वैल्फेअर आफिसर, अपने गुरुकुल के सहपाठी श्री विनायक राव विद्यालंकार (तत्कालीन मुख्य मंत्री आ.प्र.) के निमन्त्रण पर गौशालाओं की स्थापना जैसे कई स्थानों पर कार्य किए ।

परम आदरणीय यशस्वी महोदय !

चतुर्वेद भाष्यकार श्री जयदेव विद्यालंकार तथा राष्ट्र के महामना स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणाओं से आपने अपने शरीर का वह कायाकल्प किया कि न केवल भारतवर्ष की सीमाओं में अपितु अमेरिका जैसे देश में शरीर सौष्ठव गतका एवं शारीरिक बल प्रदर्शन छाती के ऊपर भारी गाड़ी को उतरवाना, कारों को रोकना, पानी के भीतर साढे तीन मिनटा की डुकी का कीर्तिमान स्थापित करना, शब्दभेद बाण चलाना आदि अनेक प्रदर्शनों से जनता को मंत्रमुग्ध किया।

....

हे आश्रमवासियों के आदर्श पितृदेव ।

अपने-अपने कार्यों में व्यस्त एवं जीवन में सुव्यवस्थित आपके चार पुत्र हैं और तभी यह संभव हो सका कि गोलकुण्डा (हैदराबाद) में यज्ञवेदी के समक्ष वानप्रस्थ की दीक्षा प्राप्त की और जीवन के तृतीय आश्रम में प्रवेश किया तथा 1980 में आप आर्यवानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में आ गए। आपके आगमन से इस आश्रम के भाग्य जगे। आपके द्वारा विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों की झड़ी लग गई। चार-पांच वर्षों तक संस्कृत कक्षाओं का अध्यापन किया और अपने उत्तम परामर्श से समय-समय पीर आश्रम का सुधारात्मक मार्ग प्रशस्त किया । परम पिता परमात्मा की असीम कृपा से आपकी बाह्य एवं आन्तरिक इन्द्रियां स्वस्थ एवं जागरुक हैं। फलस्वप आश्रम अब भी आपका परामर्श प्राप्त कर रहा है।

हे त्यागमूर्ति महात्मन् !

जहाँ आप योगत्व की सिद्धि के कारण स्वस्थ शरीर के धनी हैं वहीं आपकी जीवनसंगिनी भी उसी रूप में अपनी पतिव्रता भावना एवं दृढ़ संकल्पों से आपके जीवन का साथ दे रही है। आपका पुत्र श्री लालकुमार कश्यप, जो गुरुकुल कांगड़ी के पुस्तकालय में कार्यरत है, भी आपकी सेवा सूश्रूषा में सहर्ष संलग्न है।

हे धर्मानुरागी कर्मनिष्ठ महामना !

वर्ष 1995 की जनवरी की 6 तिथि को आज हम आश्रमवासी आपके जीवन के शतवर्ष पूरे होने पर आपकी 101वां जन्म दिवस समारोह पूर्वक मनाते हुए आपकी ज्येष्ठता, श्रेष्ठता, कर्मठता, वैदिक प्रचार की लग्न, वैदिक संस्कृति के प्रति अनुराग एवं तपस्या आदि से प्रेरणा पाते हुए आपका सहर्ष अभिनन्दन करते हैं और परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि इक्कीसवीं शताब्दी में पहुँच कर आप अपने दीर्घ जीवन को इस प्रकार प्रेरणादायक बनाते रहें और सब आश्रम वासियों को अपना वरद हस्त प्रदान करते रहें।

हम हैं आपकी समस्त अधिकारी

सदस्य तथा आश्रमवासी

ह0
स्वा0 बलराम निर्वृत्तानन्द
प्रधान

आर्य वानप्रस्थाश्रम
ज्वालापुर - हरिद्वार

ओउम्



विद्वद्वरेण्य मनीषी माननीय श्री देशबन्धु विद्यालंकार जी द्वारा लिखे गए लघु निबन्धों को पढ़ने का अपूर्व सौभाग्य प्राप्त हुआ। वस्तुतः ये लेख गागर में सागर के समान हैं। वर्तमान मानव की व्यस्तता का चित्रण बड़ा सहज दिखाई देता है। एक उदाहरण देखिए -

"गृहस्थ से पूछो कि इतनी भागदौड़ किसलिए? कोई पत्नी के लिए, कोई पुत्र के लिए, कोई कोठी के लिए। समझ में नहीं आता कि हर कोई क्यों दौड़ रहा है? ये दौड़ किसी एक पदार्थ या लक्ष्य पर नहीं रुकती। उस पदार्थ के मिलते ही उसका लक्ष्य बदल जाता है। ऐसा क्यों?"

अपरिग्रह, ध्यान, संयम, स्वाध्याय, उपवास, ब्रह्मचर्य, मुक्ति, स्वास्थ्य, शौच, परम्परा, ज्ञान, विद्या, मुक्ति, योग, प्रार्थना आदि विषयों का जैसा विशद विवेचन इन निबन्धों में किया गया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

इसके अतिरिक्त - स्यामपतयोरयीणाम्, मुक्ति का उपाय, परोक्ष प्रिया इव हि देवाः, देवयज्ञ, अमृतोपस्रूतरणमसि, अमृत का स्वरूप, दीपक जलता है बोलता नहीं, अन्तिम ध्येय, भिखारी कौन? - जैसे निबन्ध अत्यन्त प्रेरणादायक एवं जीवनोपयोगी हैं।

मर्मस्पर्शी स्वाभाविक शैली में पिरोए गए विचारों के ये मोती अनमो हैं। आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता विचारों में अभिव्यक्ति संकलन की उपादेयता को बढ़ा देती है। भाषा में कहीं बनावट नहीं, शब्दाडम्बर भी नहीं।

धन्यवाद की पात्रा हैं श्रीमती लीलावती गुप्ता जो उदार-सरलमना हैं, जिन्होंने सासांरिक जीवों की उन्नति, उत्थान और कल्याण की सत्कामना से इन निबन्धों को संकलित कर प्रकाशित करने का पुण्य संकल्प लिया है।

मैं ऐसे महामना मनीषी श्री देशबन्धु विद्यालंकार जी एवं श्रीमती लीला गुप्ता जी की दीर्घायु की कामना करती हूँ।

वर्तमान लड़खड़ाते हुए मानव के लिए यह संकलन विचारों की सुदृढ़ यष्टि के समान होगा ऐसी मेरी आशा एवं शुभकामना है।

- शुभैषिणी
डॉ. (श्रीमती) मृदुला शर्मा

41, प्रभात नगर, बरेली ।

पूज्य पितृतुल्य पंडित देशबन्धु जी से मेरा परिचय कुछ ही वर्षों पूर्व हुआ ।



एक बार जब कि मैं ज्वालापुर अपनी कनिष्ठ भगिनी चन्द्रप्रभा के समीप लगभग एक माह के लिए विशेष कार्य हेतु आई हुई थी, तब मैंने सोचा, क्यों न कुछ अध्ययन हेतु, जानने हेतु, उनसे सम्पर्क किया जाय। इतने बड़े विद्वान् के समीप जाकर कुछ न कुछ ग्रहण होगा ही। मुझे उन्होंने अपना लिखा यजुर्वेद का भाष्य जो संस्कृत का संस्कृत में ही था, दिया। मैं ने कहा यह तो मैं बरेली ले जाऊँगी, अपनी आचार्या डा. सावित्री देवी शर्मा वेदाचार्या से ही समझ कर पढूँगी; तो फिर उन्होंने कहा, 'यहीं पढ़ लो, ले जाकर क्या होगा ....।" मैं समझ गई, यह अपना भाष्य लेख बरेली बिल्कुल नहीं ले जाने देना चाहते। मैंने फोटोस्टेट करवा कर उनके सम्मुख रखा और पूछा, "आप यह (अपने हाथ का लिखा) लेंगे या यह ?" उन्होंने आश्चर्य चकित हो, पहले देखा फिर अपनी पत्नी को पुकारा, "शकुन ! देखो इस लीला की शैतानी, इसने यह क्या किया!" मैंने कहा, "अब आप अपने हाथ का लिखा वापस लें या यह नई कापी?" तब मेरी ओर देखते हुए बोले, 'बेटी! तेरे बहुत पैसे खर्च हुए होंगे?" मैंने कहा, 'आप इसकी चिन्ता न करें, मैं तो आपको मोल की ही वस्तु भेंट कर सकती हूँ, परन्तु आप से हमें अमूल्यवस्तु प्राप्त हुई है।" फिर दूसरे दिन जब मैं उनके पास गई, तो उन्होंने अपने निबन्धों की ।।-।2 कापियाँ देकर उन्हें पढ़ने का आदेश दिया। मैंने कहा - मैंने कहा यह फिर पढ़ने के पश्चात् आपको वापस करनी होंगी? तो बोले "नहीं, यहाँ तो इनको जला कर आग ही तापी जाएगी, इन्हें तू ले जा ....." मुझे लगा तैसे एक अनमोल निधि मुझे मिल गई हो। उन पंजिकाओं में वृद्धावस्था, परम्परा, उत्तिष्ठ जागृत आदि आध्यात्मिक भावपूर्ण विशिष्ठ लेख लिखे थे, जिन्हें प्राथमिक दृष्टि में पढ़ने पर लगा कि अन्यों के लिए भी उपयोगी हैं। तब ही मैंने कहा, "आप मुझे जब यह हमेशा के लिए दे रहे हैं तो मैं इन निबन्धों की पुस्तक प्रकाशित करवाऊँगी; क्योंकि इससे अधिक बड़ी बात क्या हो सकती है कि लेख अपने कथन को सार्थक कर दे और अनुभूति की कसौटी पर खरा उतरे ।

बरेली आने पर मैंने वृद्धावस्था, परम्परा, दीक्षादि का संस्कृत अनुवाद कर अपनी मासिक संस्कृत शारदीया गोष्ठी में सुनाया । सबने बहुत सराहा तथा मैंने जब भी पूज्य पंडित जी से मिली उनकी वाणी टेप की और साथ में चित्र खिंचवाए। तत्पश्चात् अपनी 'शारदीया संस्कृत गोष्ठी' में

सबको दिखलाए। सब ही उनके शत आयु सम्पन्ने चित्र से बहुत आकर्षित हुए तथा साक्षात् दर्शन को आतुर हुए ।

ऐसे प्रेरक विद्वान् की विद्वत्ता, सरलता एवं उदारता से प्रभावित होकर इन आध्यात्मिक निबन्धों को पुस्तक के रूप में छपवाने का संकल्प स्वप्न आज साकार हो रहा है। यह प्रभु की परम कृपा है।

निश्चित ही इन निबन्धों को पढ़ कर पाठक लाभान्वित होंगे। इसी आशा और सद्भावना के साथ,

ए-47, सिविल लाइन्स,
बरेली ।

- लीलावती गुप्ता

वृद्धावस्था

साधारणतया वृद्धावस्था को सम्पन्न व्यक्ति एक अभिशाप समझते हैं । सम्पन्न शब्द पर ध्यान देना । जो सम्पन्न नहीं, जिनको मेहनत मज़दूरी करके पेट भरना पड़ता है, उनकी वृद्धावस्था उतनी अधिक शोचनीय नहीं होती । सम्पन्न व्यक्तियों को तो प्रायः, ये कहते सुना गया - 'बुरा हो इस बुढ़ापे का, इससे तो मरना भला है' । यह उनकी हार्दिक इच्छा नहीं होती ।

एक बार प्रार्थना करते बूढ़े को यमराज ने सुन लिया । यमराज को उसकी दशा पर दया आ गई । यमराज ने कहा, 'तो चलो मैं तुम्हारे नर्क में जाने का आज्ञापत्र लिख देता हूँ'। सिर पर खड़ी मौत को देख कर वृद्ध कांप गया और बोला - 'मैंने लाटरी का टिकिट लिया हुआ है, शायद निकल ही आये, ज़रूरत होगी तो फिर बुला लूँगा ।' फिर भी यह तो सत्य है कि सम्पन्न व्यक्तियों की वृद्धावस्था बड़ी दयनीय हो जाती है । क़ारण वही सम्पन्नता है । सम्पन्नता के कारण भोजन गरिष्ठ और मात्रा से अधिक अन्दर धकेल दिया जाता है । नौकर चाकर घर का सारा काम कर देते हैं । बाहर जाने के लिए सवारी तैयार है । - सारांश ये कि खाना-पीना आराम करना, इससे अधिक परिश्रम के नाम से कुछ नहीं । परिणाम यह होता है कि अनावश्यक चर्बी लद जाती है, रक्त प्रवाह में बाधा हो जाती है। यकृत और गुर्दे अधिक काम का बोझ होने से निर्बल हो जाते हैं। स्वास्थ्य गिर जाता है। सारा दोष सम्पन्नता का है जिसको नाना प्रकार के छल-कपट के द्वारा आपने स्वयं कमाया है - उलाहना देते हो वृद्धावस्था को ! मनुष्य जन्म तो उन्नति के लिए था। शैशव में एक विशेष प्रकार का सौंदर्य था । बालकपन में यदि स्वास्थ्य ठीक रहा तो सौन्दर्य में वृद्धि होती है । जवानी का सौन्दर्य तो प्रसिद्ध है, यदि कुछ कमी रह जाती है तो व्यायाम आदि से पूरी की जा सकती है। व्यक्ति का सौन्दर्य अपनी-अपनी आयु के अनुसार बढ़ता ही चला जाता है । यदि शरीर बीमारियों का शिक़ार न बन जाय तो, वृद्धावस्था का अपना ही सौन्दर्य है । ये सौन्दर्य केवल शरीर का ही नहीं - विचारों, अनुभवों, वाणी और चाल-ढ़ाल सभी में प्रदर्शित होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जीवन की कोई भी दशा शोचनीय नहीं होनी चाहिये । वृद्धावस्था के आगमन के साथ शरीर के सब ही उपकरण कमज़ोर होते जाते हैं। इस स्वाभाविक हानि को हानि न समझ कर प्रकृति की एक अमूल देन समझना चाहिये । हज़ारों में से कोई एक व्यक्ति

अपने मनुष्य जीवन को सार्थक बनाता है । शेष सब ही भूलों पर भूलें करते चले जाते हैं और अपने संस्कारों को जो कि जन्म-मृत्यु के कारण होते हैं - गठरी भारी करते जाते हैं । इस बोझिल गठरी को हलका करने के लिये किसी न किसी भोग योनि में जाना पड़ता है - वृद्धावस्था की दुर्दशा उस यात्रा की तैयारी है । पश्चात्ताप करने वाले को एक नया अवसर देने के लिए भी प्रौढ़ावस्था से वृद्धावस्था और फिर पुनर्जन्म की तैयारी के लिए अन्तिम काल जिसको उपनिषद् में परा काल कहा है, उपस्थित होता है । वृद्धावस्था में जो व्यक्ति अपने जीवन की भटकन का स्मरण करके उसके लिये प्रायश्चित् करता हुआ सच्चे हृदय से एक नये जीवन की कामना करता हुआ प्रयाण करता है, वो अवश्य मनुष्य जीवन का अधिकारी होता है। साधना आश्रमों में आये हुए साधकों की मनोवृत्ति में यदि संतोषवृत्त विद्यमान है तो, उनकी तो जैसी भी दशा है उसके लिए अदृश्य नियामक को धन्यवाद ही देना चाहिए, कि सारा जीवन जड़ प्रकृति के आकर्षण से मार्ग भ्रष्ट हुए मुझको, फिर भी इस योग्य समझा कि मैं श्वांस ले सकूँ, पढ़ सकूँ, सुन सकूँ, साधकों में अपनी गणना करा सकूँ । वृद्धावस्था आने पर आँख, कान, हाथ-पैर कमज़ोर हो जाने पर तो भगवान को धन्यवाद देना चाहिए कि उसने मेरी जवानी छीन ली, यदि ये जवानी का नशा अभी तक बना रहता तो न मालूम मेरी पाप की गठरी का बोझ कितना भारी हो जाता । अब वृद्धावस्था आने पर आँखों से उत्तेजक दृश्यों को कम देख सकूँगा, कानों से अपनी निन्दा स्तुति कम सुनाई देगी, अपशब्दों का उच्चारण कुछ कम आवेश के साथ करूँगा । इन सब वृद्धावस्था के चमत्कारों को ध्यान में रखें तो वृद्धावस्था तो एक वरदान है, अपने जीवन का सिंहावलोकन करने का 'कृतं स्मर' का यही तो स्वर्णीम समय है। मनुष्य शरीर धारण करके जन्म लेने के बाद उसको जीवन बनाने के लिए क्या किया? कहीं ऐसा तो नहीं कि मनुष्य जन्म धारण करने के लिए जो निश्चय किये उनको भुला कर फिर पशुवृत्ति में ही जन्म गँवा दिया । जन्म और मृत्यु जीवनधारा के दो तट हैं । जीवनधारा को उपयोगी बनाने वाला व्यक्ति देवयोनि की तरफ़ बढ़ जाता है और अपने लक्ष्य को भूल कर - 'आहारनिद्रा-भय-मैथुन' के चक्र में जो घूमते रहे उनका 'जन्म' मृत्यु का ही एक मार्ग बन कर रह गया। वृद्धावस्था जीवन का एक सार है । विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थी के लिये सत्र का आना उसकी परीक्षा का समय होता है । जिसने साल भर परिश्रम किया, वह परीक्षा में उत्तीर्ण होता है, उसके माता पिता प्रसन्न होते हैं और वह प्रसन्नता के साथ आने वाले वर्ष की प्रतीक्षा करता है । जो विद्यार्थी तीन तिमाही परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण हुआ हो तो वो चौथी में वार्षिक परीक्षा के ठीक पहिले लग कर मनोयोग के साथ परिश्रम कर ले, तो फिर उत्तीर्ण होने की सम्भावना रहती है। यौवन में और प्रौढ़ावस्था में भी जिसने अपने जीवन की दिशा नहीं बदली वो यदि वानप्रस्थ आश्रम में आकर भी अपने दैनिक जीवन के कार्यक्रम में आचार-विचार में सुधार कर ले तो बहुत संभव है कि उसको जीवन के वास्तविक लक्ष्य 'परमशान्ति' उपलब्ध हो सके। वृद्धावस्था जीवन का सार है।

'अन्त भला सो भला' की कहावत का क्षेत्र यही मनुष्य जीवन है। वृद्धावस्था के कष्टों को देखकर घबराना नहीं, अपने मनोबल को उन्नत करके आचरण में सुधार करना चाहिये। वृद्धों की इस निराशापूर्ण मन:स्थिति को देखकर मनोवैज्ञानिकों ने स्थिति का अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त वृद्ध शरीर के सब ही अंग अशक्त हो चुकते हैं। अशक्त होने का अभिप्राय ये है कि उठी हुई कामनाओं को तृप्त नहीं कर सकते। जीभ स्वादिष्ट भोजन मांगती है पर पेट उसको पचा नहीं सकता। अखबार पढ़ने की पुरानी आदत है - लेख, समाचार, विज्ञापन, बाज़ार भावादि पढ़ने में तीन घंटे निकल जाते थे अब आँख साथ नहीं देती। बच्चे कहते कुछ हैं, बाबा सुनते कुछ और हैं। सारांश ये कि अतृप्त वासनाओं की क्षणिक तृप्ति का साधन भी न रहा। जिसने अपने शरीर का यही उपयोग समझ गया था - अथवा अभ्यासवश यही उपयोग समझ रखा था कि कामना के उठते ही उसको पूरा करने के लिए दौड़ पड़ना - जैसे कीर्तिदास गुलाम-मालिक की आवाज़ सुनते ही जी हुजूर कह कर हाथ जोड़ कर सिर झुकाकर सामने उपस्थित हो जाता है - अर्थात् शरीर कामनाओं का गुलाम बना हुआ था, वृद्धावस्था में अशक्ति के कारण वो पहिले की तरह जी हुजीरी नहीं कर सकता। उधर अन्त:करण तो पाँच भौतिक पदार्थ नहीं जो कि बूढ़ा होकर अशक्त हो गया हो। उसकी अतृप्त कामनाओं की गठरी अधिकाधिक बोझिल होती चली जाती है। वृद्ध व्यक्ति इस स्थिति को दो दृष्टिकोणों से देख सकता है - एक दृष्टिकोण तो यह है कि मन कामनाओं को तृप्त करने के लिए मैंने जवानी और प्रौढ़ावस्था के पचास साठ वर्ष बिता दिये - सच पूछो तो - सारा जीवन ही इन्हीं कामनाओं को तृप्त करने पर न्यौछावर कर दिया। इनकी तृप्ति तो दूर इनकी भूख लगातार बढ़ती ही गई। मनु का एक श्लोक बचपन में याद किया था -

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

भोग के द्वारा कामनायें शान्त नहीं होतीं, आग पर घी ड़ालने की तरह भोग से अधिक वेग के साथ प्रज्ज्वलित होती है। इस श्लोक का अर्थ अब वृद्धावस्था में कुछ समझ में आया - पूरी तरह से अब भी नहीं। खान-पान की गड़बड़ी चलती ही है - समय को नष्ट करने की पुरानी आदत साथ नहीं छोड़ती। एक तो यह दृष्टिकोण है जिसमें साधक 'आदि मूल सत्ता जगत् नियन्ता' को धन्यवाद देता है कि उसके अटल नियमों के अनुसार बाल्यावस्था के बाद वृद्धावस्था आनी ही थी यदि न आती तो कामनाओं की तृप्ति के लिए मेरी घुड़दौड़ कभी समाप्त न होती। अब अवसर आ गया है कि लाचारी में ही सही इन आकर्षक कामनाओं के उत्पत्ति क्षेत्र प्राकृतिक विषयों से मुख मोड़ लूँ। मुख स्वेच्छा से नहीं मोड़ता तो इस वृद्धावस्था ने तो बलात् मोड़ दिया है। दूसरा दृष्टिकोण अपनी दशा पर रोना और कल्पित भगवान को गाली देना और नकली आँसुओं के साथ यमराज को पुकारना है।

''''''''''''

(2)

तब और फिर

'तब' प्रतिनिधि है भूतकाल का जो कि बीत गया। **'अब'** प्रतिनिधि है वर्तमान काल का जो कि अब है। इसके बाद एक और भी काल है जिसका नाम है **'फिर'** । हम लोग इन्हीं तीनों में विचरते रहते हैं। अधिक ठीक ये कथन होगा कि **'तब'** और **'फिर'** में ही विश्वास रखते हैं। और इन दोनों में इतने उलझे रहते हैं कि 'अब' का ध्यान ही नहीं रह आता । **'तब'** प्रतिनिधि है भूतकाल का और उसमें घटित घटनाओं का अथवा उस भूतकाल के व्यक्ति का जो कि कभी था और अब नहीं रहा ।

संसार शब्द का अर्थ प्रवाह है। ये संसार निरन्तर एक प्रवाह की तरह बहता रहता है। नदी के प्रवाह का जल जो आज स्फटिक की तरह स्वच्छ प्रवाहित हो रहा है घंटेभर बाद ही कीचड़ जैसा मैला हो सकता है। उसका पानी नहर में छोड़ दिया जाय तो बरसात में भी उसका प्रवाह सूख सकता है। मनुष्य जीवन भी नदी के प्रवाह की तरह एक प्रवाह है। प्रवाह का तात्पर्य यही है कि वह कल जो था आज नहीं, और आज जो है वो आने वाले कल में न होगा । जानदार जीवित व्यक्ति का तो यही शब्दचित्र हो सकता है। हाँ जो जीवित नहीं, जो बाहोश नहीं जो जागरुक नहीं जो परिस्थितियों अथवा अंधविश्वासों का दास है वो एक लाश की तरह प्रवाह के साथ बहता चला जाता है। सांसारिक परिस्थितियों के निरन्तर परिवर्तन को देखकर भी जो व्यक्ति अपने आचरण अथवा व्यवहार को नहीं बदलता, वो प्रवाह में बहने वाली लाश के समान है - जिसका अपना कोई भी व्यक्तित्व नहीं, जीवन का कोई लक्ष्य नहीं, प्रवाह चाहे जिधर ले जाये जाने को तैयार है। जीवित व्यक्ति अपने अस्तित्व को समझता है और जीवन का एक लक्ष्य निश्चित करके उसको प्राप्त करने का प्रयास करता है। अनुकूल परिस्थितियों से लाभ उठाता और प्रतिकूल परिस्थितियों से अप्रभावित होने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध ख़ूनी डाकू अँगुलिमाल का नाम सुना ही होगा, जंगल में एक टीले पर उसकी कुटिया थी, रास्ते में आते जाते को वो दूर से ही देख लेता था। लूटने के बाद उसको मार भी देता था। अपने शिकारों की गिनती के लिये, उसने

उनकी उंगली की एक माला बना रखी थी। इसीलिए उसका नाम अँगुलिमाल पड़ गया था। लोग रास्ते में आते जाते डरते थे। फिर भी यदि कोई भूला भटका उधर से निकल जाता, तो वह अँगुलिमाल का शिकार बन जाता था। महात्मा बुद्ध उधर से ही जाने को थे, लोगों ने समझाया, साथियों ने साथ छोड़ दिया, पर बुद्ध रुके नहीं। अहिंसा व्रती थे। भारी से भारी हिंसक के प्रति भी उनके हृदय में करुणा थी। वो अकेले उसी रास्ते से गये। अँगुलिमाल ने देखा एक संन्यासी अकेला आ रहा है - ललकारा और ख़बरदार किया कि लौट जा । बुद्ध नहीं माने, उसने अपने शस्त्र सम्भाले । महात्मा बुद्ध निःशंक उसके पास चले गये । अँगुलिमाल के लिए यह नया अनुभव था, कि उसकी चमचमाती कटार को देख कर भी कोई व्यक्ति शान्तमुद्रा में उसके पास स्वयं आये। डाकू ने फिर ललकारा पर इस ललकार में वह तेजी नहीं थी - बोला, होश में है - कि बेहोश ? मैं संन्यासी पर हाथ उठाना नहीं चाहता था। शान्त गम्भीर स्वर में बुद्ध ने कहा - मैं होश में हूँ, लेकिन तू बेहोश है। नहीं जानता कि क्या कर रहा है। **'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'** अहिंसाव्रती की उपस्थिति में वैरभाव का अभाव हो जाता है। अगले ही क्षण अँगुलिमाल बुद्ध के चरणों में था। यही अँगुलिमाल आगे चलकर एक महान् बौद्ध प्रचारक बना । वो **'तब'** अर्थात् भूतकाल में क्या और **'अब'** अर्थात् वर्तमान में क्या हो गया। रक्तरंजित कटार हाथ में लिए अँगुलिमाल को जिसने देखा था एक संन्यासी बौद्ध भिक्षु के रूप में देख कर केवल उसको आश्चर्य न होगा जिसने नदी के प्रवाह को सोते हुए नहीं जागते हुए देखा होगा। आज प्रातः जिस जल में आपने डुबकी लगाई थी अगले दिन 24 घंटे में वो 100 मील जा चुका था - इस समय जिस जल में आप डुबकी लगा रहे हैं - अगली डुबकी उसी जल में नहीं लगा सकते । इसका नाम प्रवाह है। और जागते 'मनुष्य-जीवन' की भी एक प्रवाह से ही उपमा दे सकते हैं। महर्षि दयानन्द के जीवन की घटनाओं में एक बड़ी ही प्रेरणादायक घटना रईस अमीचन्द को भक्त अमीचन्द के रूप में रूपान्तरित करना है । कहा है-

'क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णव तरणे नौका'

ये सज्जन संगति प्रभावशाली उसी पर होती है जिसके पूर्वार्जित संस्कार उच्चकोटि के होते हैं। यह सज्जन संगति सब ही को प्रभावित नहीं करती। यदि सबको प्रभावित करने लगे तो संसार प्रवाह ही चलना रुक जाय। सामूहिक जीवन में आवश्यकता इस बात की है कि साधक, अपने से भिन्न व्यक्तियों के साथ व्यवहार करने में अपने कर्तव्य का अधिक ध्यान रखे। स्वाध्याय का यही तात्पर्य है कि साधक सर्वदा अपने कर्तव्य का ध्यान रखे प्रायः होता इससे विपरीत है। अपने से भिन्न के इतिहास पूर्वकृत अनुश्रुतियों के आधार पर उसके सम्बन्ध में एक निश्चित चित्र

बना लेते हैं। यह नहीं सोचते कि वह भी एक जीवित मनुष्य है, उसमें परिवर्तन अवश्य आया होगा। यह परिवर्तन दोनों दिशा में हो सकता है। कठोर तप करके ऋषि पद को प्राप्त कर लेने के बाद भी दुर्वासा साक्षात् क्रोध की प्रतिमा बन जाय, और यह भी संभव है कि कल्याण मार्ग का पथिक लाला मुंशीराम एक साधारण पथभ्रष्ट परम् नास्तिक युवक के स्थान पर सत्संग के प्रभाव से कालान्तर में स्वामी श्रद्धानन्द बन गये। स्वयं स्वामी दयानन्द अपने गुरुचरणों में विद्या को समाप्त कर लेने के बाद मथुरा और आगरा में रुद्राक्ष की मालायें पहिनते और पहनाते थे - नशीले द्रव्यों का सेवन करते थे - जागृत थे बाहोश थे - उनमें निरन्तर परिवर्तन हुआ क्रमशः आगामी 20 वर्षों में महर्षि पद को प्राप्त कर गये। शक्तिशाली मनुष्य की शक्ति रूपान्तरित हो कर काम मांगती है, वह असामाजिक दिशा में चलती है, तो मनु उसको साहसिक कहते हैं। किसी भी कारण से वह अपनी दिशा को बदल देता है, तब वह महात्मा और सिद्ध पुरुष बन जाता है। काल अनन्त है। प्रत्येक साधक के जीवन में वह परिवर्तन का क्षण कभी भी आ सकता है। दो बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है - एक तो यह कि **'शक्तिशाली'** हों। अशक्त के सामने अवसर आ भी जायेगा तो उसको उठकर उस अवसर का स्वागत करने में इतना विलम्ब हो जायेगा कि अवसर आगे निकल चुका होगा। दूसरी बात यह कि **हमारी चेतना के द्वार खुले** हों। जो व्यक्ति अंधविश्वासों, परम्पराओं और पुराने अभ्यासों के बन्धनों में पड़े नये विचारों, नये आविष्कारों को सुनना भी सहन नहीं कर सकते वह उस व्यक्ति के समान है जो मकान की खिड़कियों, दरवाज़ों और रोशनदानों को भी बन्द करके प्रातःकाल के शीतल पवन और सूर्य्य की गुदगुदाती किरणों को भी जुंकाम हो जाने के डर से अन्दर नहीं आने देते। **'तब'** और **'फिर'** भूत और भविष्य केवल मन की कल्पनायें हैं। भूतकाल निकल गया उसकी स्मृतियों को दोहराते जाना साँप के निकल जाने के बाद उसके निशान को पीटने के समान है। भविष्य कोई वास्तविकता नहीं केवल दिवास्वप्न के समान है, केवल काल्पनिक है। भूतकाल का आधार स्मृति है जो कि मन का विषय है। भविष्य का आधार कल्पना है वह भी मन का विषय है। खाली समय काटने के लिये ये दोनों मन की शतरंज हैं। वास्तविकता केवल **'अब'** में है। इसलिए व्यवहार काल में किसी भी व्यक्ति के न तो भूतकाल को देखो और न उसके संभावित भविष्य को। देखो उसके वर्तमान को। व्यवहार करने के समय केवल प्रत्युत्पन्नमति होना आवश्यक है और इस तात्कालिक सूझबूझ के लिये जागरुक होना आवश्यक है। जागरुक वही हो सकता है जो न भूतकाल में रम रहा हो, न भविष्य में हिलोरें ले रहा हो। केवल वर्तमान में वर्तमान हो वही जागरुक है।

....

(3)

साधना की भूमिका

आधी शताब्दी तक सांसारिक आकर्षण इन्द्रधनुष के पीछे दौड़ने के बाद भी जब उसकी छाया तक को भी न पकड़ पाया तब कोई भाग्यशाली समझदार व्यक्ति अपने जीवन के दृष्टिकोण को बदलता है। वह समझ लेता है कि न तो सारे ब्रह्माण्ड की विभूति से मेरी भूख मिटने वाली है और इस विभूति के साथ मेरी मानसिक अशान्ति निरन्तर बढ़ती ही जाती है। इस मानसिक अशान्ति के साथ शारीरिक स्वास्थ्य भी गिरता चला जाता है । वैभव बढ़ने के साथ मधुमेह, बवासीर, अपच, हृत्कम्प आदि नाना प्रकार की बीमारियाँ एक-एक करके मेरे शरीर को खोखला किये दे रही हैं। समझदार व्यक्ति इतना अनुभव करने के बाद अपने जीवन क्रम में परिवर्तन करने की सोचता है । इस परिवर्तन के भी अनेक रूप होते हैं। भाग्यशाली व्यक्ति ही सही दिशा पकड़ता है। जीवन का क्रियाशील भाग तो समाप्त हो चुका था जो थोड़ी बहुत शक्ति या स्वास्थ्य बचा था, उसके साथ उसको अपना शेष जीवन व्यतीत करना था। अब रास्ते बदलने का समय नहीं है। यौवन में एक रास्ता ठीक न लगा, लौट कर दूसरा पकड़ा, तीसरा पकड़ा - ये सब मूर्खतायें क्षम्य थीं। जीवन को एक सुव्यवस्थित क्रम में न ढ़ाल कर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला बना लिया था परन्तु अब तो दिये में थोड़ा ही-सा तेल शेष है । नये-नये परीक्षण करने की न तो शक्ति है, न समय है; ऐसी दशा में साधक को एक पाक्षिक पत्र में एक अनुभवी योगी द्वारा संचालित योग शिविर की सूचना पढ़ने को मिली। साधक ने सोचा भाग्य अनुकूल है । योग-शिविर में जाकर केवल 10 दिन में योग सीख लूँगा । ख़र्च या फ़ीस भी तो केवल 250 रुपये मात्र है। जीवनभर में 50 वर्ष की धमाचौकड़ी में जिस शक्ति को प्राप्त नहीं कर सका था, केवल दस दिन में उस शक्ति को ही नहीं योगी बनने की कला भी सीख लूँगा ।

शिविर में आरम्भ में ही आचार्य जी ने बतलाया कि यम-नियम तो आपने पढ़ ही लिये होंगे, इनके पालन में कोई कठिनाई नहीं । यम-नियमों के बाद आसनों की बारी है, यही कठिन है। साधक प्रायः प्रौढ़ अवस्था के हैं। आसन तो सीखने चाहिये थे कच्ची आयु में । कोई बात नहीं फिर भी मैं प्रयत्न करूँगा कि आपको आसन आ जाय और आप योग में प्रविष्ट हो सकें।

बिना आसन के योग कैसे सिद्ध हो सकता है? आपने ऋषि-मुनियों के चित्र देखे होंगे। सब ही किसी न किसी आसन में दिखाई देंगे। इस लम्बी भूमिका के साथ शिविर संचालक ने यम-नियमों को तो एक तरफ रख दिया, आसनों पर सारा बल दिया। व्याधि जराग्रस्त स्त्री-पुरुष बड़ी लगन से पश्चिमोत्तान, शीर्ष, सर्वांग का गिरते-पड़ते अभ्यास करते रहे। मयूर और मत्स्येन्द्र की तो साधक देख कर ही प्रसन्न होते रहे। आचार्य जी ने उड्डियान और नौली आदि का प्रदर्शन करके नेति, धौति का वर्णन करके साधकों के हृदय में योग की गरिमा का सिक्का बैठा दिया। शिविर की समाप्ति पर प्रति तीन महीने ऐसा ही शिविर लगेगा। इस सूचना के साथ शिविर को विसर्जित किया। इसमें सन्देह नहीं कि शिविर संचालक ने अष्टांगयोग के तीसरे बहिरंग साधन पर जो बल दिया, वह शास्त्रसम्मत और यथार्थ है। परन्तु उनके अभ्यास का समय बाल्यावस्था है और उनकी उपयोगिता शरीर को तोड़ने-मोड़ने मात्र की नहीं, प्रत्येक चेष्टा का शरीर पर प्रभाव पड़ता है, और तथाकथित आसनों का भी अवश्य पड़ता है। परन्तु ये आसन ध्यान और समाधि-अवस्था के लिए कहाँ तक अनुकूल हैं, विचारणीय है।

स्वास्थ्य को ठीक रखने, या कुछ शारीरिक विकारों को दूर करने के लिए आसनों का उपयोग बतलाया जाता है, परन्तु प्रौढ़ावस्था में अथवा वृद्धावस्था में कई आसनों का अभ्यास करना असम्भव ही नहीं, हानिकारक भी हो सकता है। उदाहरण के लिये शीर्षासन को ही लीजिये, अपच और हृदय के रोगियों के लिये कौन चिकित्सक शीर्षासन करने की आज्ञा देगा? प्रायः 90 फ़ीसदी साधकों की पाचनक्रिया दूषित होती है। दूषित रस (*Chyle*) से दूषित रक्त ही बनेगा। शीर्षासन में यही दूषित रक्त सिर में अत्यधिक मात्रा में जायेगा। परिणामतः अंधाधुंध आसनमात्र का अभ्यास करने का प्रयत्न करने वाले कितने संधकों को लाभ के स्थान पर हानि हो गई है। ये हठयोग के आसन कुशल चिकित्सक के हाथ में अवश्य ही लाभप्रद होंगे, परन्तु राजयोग के साथ इनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं। राजयोग के अनुसार आसन की परिभाषा **'स्थिरसुखमासनम्'** की गई है। यम-नियम सिद्ध कर लेने वाले साधक की मनःस्थिति इतनी शान्त हो जायेगी कि उसके अनुसार चलने वाली शारीरिक स्थिति जिसका शास्त्रीय नाम आसन दिया है, उसमें स्थिरता होगी और सुख का अनुभव होगा। हठयोग में विहित आसनों में स्थिरता और सुख इन दोनों का सर्वथा अभाव है और स्थिरता एवं सुख के अभाव में वृत्तिनिरोध की अवस्था को प्राप्त करना असंभव है। तात्पर्य यह है कि शेष जीवन के बचेखुचे समय में जहाँ तक हो सके यम-नियमों के पालन पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यम-नियमों के पालन में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य आवश्यक हैं। किसी भी शारीरिक व्याधि से ग्रस्त अथवा पारिवारिक आदि चिन्ताओं से ग्रस्त साधक साधना में प्रवृत्त नहीं हो सकता। राजयोग शारीरिक रोगों की चिकित्सा का उपाय नहीं। शारीरिक रोगों की तो चिकित्सकों से ही चिकित्सा करवानी चाहिये। यम-नियमों के व्रतों का सम्बन्ध प्रायः मन के साथ है। युक्ताहार विहार के द्वारा 90 फ़ीसदी शारीरिक कष्टों का निवारण हो जाता है। वस्तुतः यह

सर्वोच्च चिकित्सा है। प्रचलित सब ही चिकित्सायें इस मुख्य चिकित्सा के अभाव में प्रभावहीन हो जाती हैं। इस सच्चाई को हृदयंगम करके साधक इसी मुख्य चिकित्सा का सहारा लेगा।

आहार - ऋत, हित, मित - इन तीन विशेषताओं से युक्त होना चाहिये। पहले तो वह सात्त्विक कमाई का हो, दूसरे साधक के शरीर के लिए हितकारक हो। प्रौढ़ावस्था के साधक को मालूम होना चाहिए कि उसके लिए क्या भोजन हितकर है । आवश्यकता होने पर चिकित्सक से या अनुभवी पड़ौसी से भी परामर्श करके निर्णय कर सकता है। इतना ही पर्याप्त नहीं, कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि डाक्टर ने कहा आप केवल सेव खा सकते हैं। रोगी सेव का शौकीन था, सेर-भर सेव लाया और खा गया । तो, वैद्यराज धन्वन्तरि ने तीसरी शर्त रखी मिताहार; भोजन नपातुला होना चाहिये, मात्रा से अधिक नहीं । मात्रा प्रत्येक साधक को निश्चित करनी होगी। वानप्रस्थी के लिए मनु का आदेश है कि -**'शोषयेद्देहमात्मनः'** अपनी देह को सुखा दे। गृहस्थाश्रम में अति भोजनादि से शरीर में वसा की मात्रा संचित हो गई है उसको मिताहार के द्वारा सुखा दें।

साधारणतया गृहस्थाश्रम में जितना भोजन करता था उसकी मात्रा आधी कर दें । साधारण भोजन करने वाला यदि अपच के कोई लक्षण देखे तो एक-एक ग्रास प्रतिदिन कम करते-करते जितने भोजन से शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का उचित संचालन हो सके उतनी तक कम कर लें । मिताहार के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम लागू नहीं हो सकता। आहार के बाद विहार क्रिया है। आहार का अर्थ है भीतर लेना, विहार का अर्थ है फेंकना। जिसको मलत्याग कह सकते हैं। पायु उपस्थ से अतिरिक्त आँख-नाक-मुख सब ही द्वारों से मल विसर्जित होता है। प्रश्वास भी मल विसर्जन का एक द्वार है। शरीर की त्वचा में असंख्य रोमकूप भी आहार-विहार का काम श्वास-प्रश्वास की तरह निरन्तर करते हैं। इन सब शरीर के साथ मानसिक क्रियाओं को भी ठीक करना है।

स्थूल शरीर और सूक्ष्म मन मिलकर ही एक सर्वांगपूर्ण शरीर की रचना करते हैं। शरीर का अंग स्थूल शरीर यदि साधनों में प्रवृत्त होने के योग्य बना लिया तो उसके सूक्ष्म अंश अन्तरंग साधन अन्तःकरण को लक्ष्यप्राप्ति के लिए उपयोगी बनाना होगा। लक्ष्य प्राप्ति समाधि है। समाधि का अर्थ है कि अब कोई सन्देह शेष न रहा जिसका समाधान करना शेष हो। संदेह करने वाला संदिग्ध पदार्थ का विश्लेषण करता है। और ये विशलेषण का स्वभाव है 'मन' का । वृत्तियाँ मन का स्वरूप हैं। मन केसहयोग से इन्द्रियों द्वारा किसी भी पदार्थ के ज्ञान का नाम वृत्ति है। योग की परिभाषा करते हुए पतंजलि मुनि कहते हैं **'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"** - वृत्ति निरोध का नाम योग है। मन की स्वेच्छाचारिता को समाप्त कर देना योग है। साधना प्रारम्भ करने वाले साधक को ये समझ लेना चाहिए कि यम-नियमों को जीवन का व्रत बना कर उनको पालन करने वाले साधक 'मन' जैसे शक्तिशाली और स्वेच्छाचारी तत्त्व को, घेर-घार कर समझा-बुझा कर निरोध की अवस्था में ला सकता है। यम-नियमों का शब्दार्थ न लेकर, प्रकरण संगत गूढ़ार्थ समझने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए ।

---

(4)

आशा हि परमं दुखम्

मानव मन दौड़ रहा है । यदि किसी तेज़ दौड़ते हुए को रोक कर पूछो कि - दौड़ किसलिए रहे हो ? तो, उसका उत्तर होगा कि "मैं तो मैडिकल कालेज में दाखिला पाने के लिए प्रभावशाली लोगों की सिफारशें इकट्ठी कर रहा हूँ। दूसरे क्यों दौड़ रहे हैं, यह उनसे पूछो।" कई तो ऐसे हॉफ रहे थे कि वे प्रश्नकर्ता प्रश्न सुनने की स्थिति में नहीं थे। कोई डाक्टर के पास जा रहा था, कोई फौज़दारी के वकील के पास । सबके अपने-अपने ध्येय थे। सब ही के मनों में बड़ी-बड़ी आशाऐं थी कि काम बन जाएगा। किसी का बना, किसी का आधा बना, और किसी का बिलकुल नहीं बना। जिसका बन गया उसको भी पूरी शान्ति नहीं हुई। आशा थी एक हज़ार की नौकरी की, मिली आठ-सौ की। जिसको कल फिर आने की आशा हुई, वह कच्चे धागे-सा लटका, चिन्तामग्न रहा और जिसकी आशा बिलकुल निराशा में परिवर्तित हो गई, उसके क्लेश का कहना ही क्या। ये सब दौड़ने वाले थके नहीं, अगले दिन नए मनसूबों के साथ फिर और भी अधिक तेज़ी के साथ दौड़ते देखे गए। दौड़ने वालों में एक कषाय वस्त्रधारी भी था। एक जिज्ञासु ने उससे पूछ ही लिया - "गुरु जी, ये सब क्यों दौड़े जा रहे हैं?" गुरु जी - "बेटा ये सब संसार में लिप्त हैं। सांसारिक वस्तुओं के पीछे पागल हो कर भाग रहे हैं। वस्तुएँ इनसे तेज़ दौड़ती हैं। फासला उतना ही बना रहता है। किसी के हाथ कुछ लग भी जाय तो इनको संतोष नहीं।"

जिज्ञासु - 'ये सांसारिक व्यक्ति तो अज्ञानी हैं, आप इनके साथ क्यों दौड़ रहे हैं?'

गुरुजी - 'बेटा । बेटा तुम इन बातों को नहीं समझ सकते। मैं किसी सांसारिक पदार्थ के पीछे नहीं दौड़ रहा हूं, मुझे तो अध्यात्म की तलाश है। मैं तो आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, मुक्ति-मोक्ष, ध्यान-समाधि ।'

जिज्ञासु - 'आपकी यात्रा तो बहुत लम्बी है, ये सब चीजें कहीं मिलती हैं? मुझे भी साथ ले चलो।

गुरु जी - 'मालूम होता है, तू कुछ दिन आर्य वानप्रस्थ आश्रम में रह कर आया है।'

जिज्ञासु - 'संसारी व्यक्ति सांसारिक पदार्थो - धन, मकान, शत्रु, मित्र आदि - की तरफ दौड़े तो बात समझ में आती है, परन्तु आप जैसे महात्मा जिन चीज़ों के पीछे दौड़ रहे हैं, उनकी

तो कोई भौतिक सत्ता नहीं है। इन सब का सम्बन्ध तो स्वयं आपके साथ है। आपने जो दस लक्ष्य गिनाए, क्या वह किसी स्थान-विशेष से सम्बन्ध रखते हैं? जिस स्थान पर जाने से वह आपको मिल जाएगी? इन सब का सम्बन्ध तो आत्मा से है, और वह है स्वयं आप । आप अपने को ढूंढ़ने के लिए निकल पड़े हैं। यह खोज तो कभी समाप्त नहीं होगी । एक कहावत है - **'दशमस्त्वमसि'**। दस आदमियों की एक टोली गंगास्नान को गई। स्नान के बाद घर चलने से पहले नेता जी गिनने लगे कि दसों पूरे तो हैं? उनकी गिनती में नौ आते थे। रोना पड़ गया कि एक डूब गया। कोई साधक उधर से निकल पड़ा और उसने उनके रोने का कारण जानना चाहा । नेता जी ने बतलाया कि 'हम घर से दस चले थे, अब स्नान करके लौटने लगे तो दस में से एक नहीं मिलता ।' साधक ने कहा कि 'नेता जी, दसवें तो आप स्वयं हैं।' यह तो हुआ उस दौड़ का शब्दचित्र । किसी भी दौड़ने वाले से पूछो - 'किसी को खोजने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं। हम और आप भी तो उसी दौड़ में शामिल हैं। आप इतने बरस तक दौड़े, तो इस दौड़ का उद्देश्य क्या था? सोचने के बाद उत्तर मिलेगा 'बेचैनी में कमी'। इस कमी का अनुभव पड़ौसी व्यक्ति को देखकर हुआ था। लक्ष्य प्राप्ति के बाद क्या बेचैनी में कमी हुई? यदि हो गई होती तो आप कभी के शान्त होकर बैठ चुके होते ।

वानप्रस्थ आश्रम में आने से पहले साठ साल में भिन्न-भिन्न अवसरों पर लाखों योजनाएँ बनाई। उनमें से अधिकांश में सफल भी हुए। परन्तु, क्या बेचैनी कुछ कम हुई? यदि कम होगई होती तो शान्त होकर बैठ जाते। आँख-कान, हाथ-पैर, कमर-घुटने कमज़ोर और असमर्थ हो जाने पर भी हमको चैन नही। दौड़ कर चीजों को पकड़ने की पुरानी आदत साथ नहीं छोड़ती। अब लक्ष्य बदल चुका है। पहले कालेज, कचहरी, बाजार आदि में दौड़ रहे थे, अब आश्रमों-शिविरों और मठाधीशों के पास पहुँचने का प्रयास है। पुत्र-पौत्र, नौकरी-धन आदि के स्थान पर लक्ष्य होगया है- आत्मा-परमात्मा, ध्यान-समाधि और मोक्ष। गृहस्थ जीवन में दौड़ने के बाद फलप्राप्ति हो जाने पर भी अशान्ति इसलिए थी कि ईर्ष्या से उत्पन्न महत्त्वाकांक्षा के कारण हम अपने पड़ौसी से ऊँची हवेली बना लेना चाहते थे। घरखर्च में कमी करके उधार लेकर नेतागिरी करके कैसे भी बना लिया, तब तक पड़ौसी एक बढ़िया कार ले आया और संयोगवश उसके घर में पुत्र उत्पन्न होगया। नाचरंग, बैंडबाजे के साथ गाँवभर को दावत दी। इस घटना ने आपकी ईर्ष्या अग्नि में आहुति का काम किया। इसी प्रकार अनेक घटनाओं के चक्रव्यूह में भटकते हुए सारा गृहस्थाश्रम समाप्त हो गया। वानप्रस्थ की शास्त्रीय सीमा की समाप्ति पर किसी आश्रम की खोज प्रारम्भ हुई। अब तक इतनी अधिक ठोकरें खाने के बाद इतना तो निश्चय हो जाना चाहिए था कि सांसारिक वस्तुओं की उपलब्धि के द्वारा चित्त की शान्ति प्राप्त नहीं होती है। प्रतिदिन प्रातःकाल उठते ही एक न एक लक्ष्य सामने आ जाता है और उस लक्ष्य को प्राप्त करने की योजना बन जाती है। यह लक्ष्य को प्राप्त करने की योजना किसी आशा को लेकर ही बनती है। यदि लुभावनी आशा सामने न खड़ी

हो तो बड़े से बड़ी कर्मठ व्यक्ति भी एक कदम भी न उठाए। यह आशा ऐसी आकर्षक और सर्वव्यापी है कि प्रयत्न के सदा विफल होने के बाद भी व्यक्ति को आगे ही आगे धकेलती जाती है।

महाभारत के युद्ध के अन्तिम चरण में जब भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि सभी महारथी धराशायी हो चुके थे - युद्ध बन्द होने की सलाह देने वालों को दुर्योधन ने उत्तर दिया - **'शल्यो जेष्यति पाण्डवान्'** - जुए का अप्रतिभ खिलाड़ी माया शल्य के रहते निराशा को कोई स्थान नहीं। अकेले ही पाण्डवों पर भारी पड़ेंगे । यह कल्पित भविष्य की आकर्षक पुत्री 'आशा' को अन्धकार से भरी अपनी जननी भवितव्यता की ओर नकेल डाल कर ले जाती है। याद रखना नकेल डाल कर पशु के समान मननशील मनुष्य को खींच कर ले जाती है। यह आशा क्या है ? कल्पना के द्वारा चित्रित अभावात्मक भविष्य की छाया है। इस अभावात्मक पदार्थ की प्राप्ति भी **'न प्राप्ति'** के समान होने से सारे प्रयत्न के अन्त में जिस सुखशान्ति की आशा की गई वह कभी हाथ नहीं आती। इस विवेचना का यह अभिप्राय नहीं कि साधक को निराश हो जाना चाहिए। आशा का परित्याग करने वाला निराशा का सहारा कभी नहीं लेगा। निराशा में भी तो आशा ही विद्यमान है। आशा में उसका यदि भावात्मक रूप था तो निराशा में वह अभावात्मक रूप में विद्यमान है। अभाव, भाव से सदा प्रबल होता है। अंधकार प्रकाश से प्रबल है। प्रकाश तो सृष्टि रचना के बाद उत्पन्न हुआ - अंधकार सृष्टि की उत्पत्ति से भी पूर्व विद्यमान था - **'तम आसीत् तमसा गूढ़मग्रे'** । सृष्टि रचना से पहले अन्धकार विद्यमान था - सृष्टि उत्पत्ति के बाद भी वह प्रकाश का पीछा नहीं छोड़ता। शीतकाल में तो भारत में भी 10 घण्टे का दिन और 14 घण्टे की रात्रि होती है। निराशा भी तो आशा का ही अभाव है। साधक के लिए अनुकूल स्थिति वह होगी जबकि वह न तो काल्पनिक स्वर्णिम भविष्य से आकृष्ट हुआ काम करेगा, और ना ही हाथ-पांव ढ़ीले छोड़ कर आलसी बन कर अकर्मण्य बन जाएगा। अकर्मण्य होकर जीवन यापन करने वाला व्यक्ति अपने को धोखा देता है। उपवास करने वाला भोजन कर लेने वाले की अपेक्षा भोजन के विषय में अधिक चिन्तन करता है। साधारण व्यक्ति केवल भोजन के समय भोजन का विचार करता है। उपवास वाला पेट, भूखा होने के कारण, निरन्तर भोजन की ही चिन्ता करता है। निराश व्यक्ति आशाओं की विफलता के सम्बन्ध में सोचा करता है। इसलिए आशा और निराशा का परित्याग करने वाला साधक ठीक दिशा में जा रहा है। निराशा के परित्याग से वह कर्म में प्रवृत्त होता है और आशा के परित्याग से कर्मफल के बन्धन से छूट जाता है ।

कर्तव्य कर्म को कर्तव्य समझ कर करने वाला साधक सफलता और विफलता से प्रभावित नहीं होता। सफल होने पर उसको हर्ष नहीं और विफल होने पर उसको विषाद नहीं होता। इस मानसिक स्थिति में जबकि उसको हर्ष-विषाद के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। कामनाओं से मुक्ति का नाम ही मोक्ष है जिसको उसने बिना दौड़धूप के पा लिया ।

---

(5)

संसार एक रंगमंच है

यह संसार केवल हमारी कल्पना ही नहीं, यह एक वास्तविकता है । यथार्थ सत्य होता हुआ भी है एक विडम्बना । वास्तविकता और विडम्बना इन दोनों में तालमेल कैसे बैठ सकता है, यही एक बात है जिसको समझ लेना साधक के लिए आवश्यक है। रंगमंच पर अभिनय करने वाले अभिनेता काल्पनिक वस्तु नहीं, हमारे जैसे हाड-मांस वाले व्यक्ति होते हैं। उनकी विशेषता यह है कि वह अपने सच्चे स्वरूप को छिपा कर किसी भी दूसरे रूप में प्रकट होने की कला में निपुण होते हैं।

महाशय को हम भली प्रकार जानते हैं, पहचानते हैं, परन्तु जब वह लंगोट बांध कर रंगमंच पर हनुमान् का पार्ट अदा करते हैं तब उनको पहचनाना कठिन हो जाता है। वह अपने वास्तविक रूप को ऐसा छिपा लेते हैं कि जिसका वह अभिनय कर रहे हैं, ठीक वही प्रतीत होता है। साधारण भाषा में एक व्यक्ति को नक्काल कह देते हैं, परन्तु जब उसी नक्काल को हम बहुमूल्य रंगमंच पर देखने के लिए, दस-पाँस रुपए का टिकट खरीद कर जाते हैं, तो उसको अभिनेता के विशेषण से अलंकृत कर देते हैं। इन अभिनेताओं की श्रेणियाँ हैं। उच्च श्रेणी के अभिनेताओं को रंगमंच पर स्थान मिलता है और नीचे की श्रेणियों के अभिनेता करोड़ों-अरबों की संख्या में संसार के देश-शहर-बाज़ार और गलियों में भटकते घूमते हैं। तो क्या, हम सब भी उसी श्रेणी क़े अभिनेता है ? हाँ, कहने में संकोच होता है , परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी ही प्रतीत होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने यथार्थ स्वरूप के छिपाने का यत्न करता और अपने से भिन्न किसी दूसरे के स्वरूप की नकल करता जाता है। इस वृन्ति का नाम महन्त्वाकांक्षा है। यह महन्त्वाकांक्षा केवल राजनीति तक सीमित नहीं, समाज के प्रत्येक वर्ग में पाई जाती है । राजनीति में इसका स्वरूप अधिक स्पष्ट इसलिए दिखलाई देता है कि राजनेता बनने का अभिलाषी उतावला और जल्दबाज होता है - वह अपने अभीष्ट लक्ष्य को छिपा नहीं सकता। धर्माचार्य, मठाधीश आदि अपने को सांसारिकता से सर्वथा रिक्त दिखलाने वालों की अपेक्षा अपने को अधिक धैर्य्यशाली भी दिखलाना होता है। यह उनके अभिनय का एक अभिन्न अंग है। राजनेता उज्ज्वल भविष्य के

शब्दचित्र खींच कर जनता को मंत्रमुग्ध कर देता है। महाधीश भविष्य में मरणोपरान्त मिलने वाले स्वर्ग का सुखद स्वप्न दिखला कर भक्तों के सर्वस्व का अपहरण कर लेता है। केवल राजनेता और मठाधीश ही महत्त्वाकांक्षी हैं, ऐसी बात नहीं ; प्रायः उनके सभी अनुयायी, साथी-संगी, यहाँ तक कि लगभग प्रत्येक व्यक्ति इस महत्त्वाकांक्षा के संसर्गदोष से पीडित है । संस्कृत भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ महत्त्वाकांक्षा रोग से पीड़ित दो-चार श्लोक कण्ठस्थ करके पण्डित कहलाना चाहता है। कुछ वेद-मन्त्र स्मरण कर लेने के बाद महत्त्वाकांक्षा उसको प्रचारक बनने के लिए उकसाती है। पण्डित और प्रचारक भी तो एक पद है। बिना किसी पद-प्राप्ति के स्वप्न देखने वाले साधारण कहलाने वाले व्यक्ति का विश्लेषण करें तो वह भी एक निकृष्ट कोटि का अभिनेता है। अभिनय कला में कुशलता की कमी से उसको निकृष्ट कोटि नहीं मिली । अभिनय तो उसका पूर्ण है, परन्तु उसको दर्शकों की तालियाँ सुनने का अवसर नहीं मिला। एक साधारण गृहस्थ पत्नी और पाँच बच्चों के साथ शहर के एक स्कूल में एक कोठरी में किराए पर रहता है। पौष्टिक भोजन का तो प्रश्न ही नहीं, शायद पेटभर भोजन भी नहीं मिलता। जब वह अपनी कोठरी से बाहर निकलता है तो, उसके वस्त्र, गले में लटकी टाई आदि को देखकर कौन उसके गृहस्थ की स्थिति को भाँप सकता है? अध्यापक की योग्यता उसकी उपाधि से नापी जाती है, कौन जानता है कि वह उपाधि रिश्वत से अथवा चाकू की नोक से प्राप्त की गई है। दान मांगने वाले भिखारियों को मरणोपरान्त पाया गया कि वे लखपति थे । रक्तक्षीणता से पीड़ित व्यक्ति क्रीम-पाऊडर आदि से मुख पर लालिमा लाकर रंगमंच के अभिनेताओं को भी नीचा दिखाता है । यह महत्त्वाकांक्षा व्यक्ति में से वास्तविकता को निकाल कर बाहर करती है और दिखावे पर सारा जोर देती है।

इतनी विवेचना के बाद यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि वास्तविकता से बचने के लिए अभिनय पर उतरा जाता है। अभिनेता अभिनय को इसलिए स्वीकार करता है कि अभिनय को देखने वाले उसकी प्रशंसा करते हैं। यदि राजनेता, धार्मिक नेता और मठाधीशों को अनुयायी न मिलें तो, उनमे से एक भी नेतापन न करे। वास्तविकता श्रमसाध्य है, अभिनय सस्ता माल है। यह सत्य प्रमाणित होता है, जनसाधारण की दिनचर्या से। प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तस् को छिपाता है। आजकल की मानी गई सभ्यता का मुख्य लक्षण यही है कि अपने विचारों को मुखाकृति, भावभंगिमा अथवा वाणी से प्रकट न होने दे। यदि कोई इस सभ्यता के लक्षण के विपरीत हृद्गत विचारों को स्पष्ट कह देता है तो उसको व्याख्यान कला से अनभिज्ञ माना जाता है। सारा मानव समाज सभ्यता की इस परिभाषा को क्रियान्वित कर रहा है। यह विषय स्थिति एक साधक के लिए अनुकूल नहीं। अन्दर कुछ और बाहर कुछ की स्थिति में मानसिक अशान्ति का रहना स्वाभाविक है। संस्कार से कामना, कामना से इच्छा, इच्छा से कर्म की उत्पत्ति होती है। जब इनमें सामञ्जस्य न हो तो बेचैनी होना स्वाभाविक है। अन्दर अपवित्रता हो तो बाहर से उसको छिपाने का यत्न स्वाभाविक है। जिसका हृदय पवित्र और विचार शुद्ध हैं, वह वाणी से अपने विचारों को प्रकट

करने में संकोच का अनुभव नहीं करेगा। मन-वाणी-कर्म में सामञ्जस्य ही साधु पुरुष के लक्षण हैं। वाणी और कर्म में सामञ्जस्य न होना मानसिक अशान्ति को जन्म देते हैं। अभिनेता का कौशल इसी में है कि वह अपनेपन को छिपा लेता है और वह जो नहीं है, वह बन कर सामने आता है। यह विस्मयता पारस्परिक अविश्वास का मुख्य कारण है। रंगमंच पर अभिनेता एक, और दर्शक अनेक होने से काम चल जाता है, परन्तु मानव समाज में जो प्रायः सभी अभिनेता हैं। कोई भी तो ऐसा नहीं जो अपने स्वरूप का प्रदर्शन चाहता हो।

शरीर भीतर से दूषित है, छाती में बलगम और पेट में मल भरा पड़ा है, किन्तु बाहर की सजधज परम पवित्रता की द्योतक है। भीतर, विचार छल-कपट के, वाणी में माधुर्य, हृदय में काम-क्रोधादि की भावना, चेहरे पर करुणा और वात्सल्य की मधुरता है। यह है जनसाधारण का व्यावहारिक संसार। समस्त विवेचन का सारांश यह है कि जनसाधारण तो दर्शक बन कर अभिनेताओं का साहस बढ़ाते ही हैं, परन्तु साधकों को तो जनसाधारण से भिन्न होना ही चाहिए। साधारण व्यक्ति रंगमंच पर उपस्थित अभिनेता के अभिनय को 'दर्शक' की दृष्टि से देखते हैं। दर्शक रंगशाला में जाता ही इसलिए है कि अभिनेता के अभिनय को तन्मयता के साथ देखे। इन तन्मयता के क्षणो में उसको अपनी और अपने कर्तव्यों की, अपने जीवन में घटित उलझनों की सुधबुध नहीं रहती। यह दर्शकपन उसको एक नशे का सा आभास देता है। जिसमें स्मृति वृन्ति बेकार हो जाती है। वर्तमान परस्थिति के जाने से शून्य हो जाता है। दर्शक भी अभिनय को देखने में ऐसा तन्मय हो जाता है कि उसको अपनी जेब में पड़े बटुए का भी ध्यान नहीं रहता।

'समाधि' का लक्षण करते हुए योगदर्शन में **'स्वरूपशून्यमिव'** कहा है। अभिनय को देखने वाला साधारणतया बाहोश दर्शक ऐसा बेहोश हो जाता है कि अपनी सुधबुध भी खो बैठता है। बंगाल के प्रसिद्ध पण्डित **'ईश्वरचन्द विद्यासागर'** खलनायक का पार्ट करते अभिनेता को देखकर उसके अभिनय से इतने उत्तेजित हो गए कि उन्होंने जूता उतार कर उस पर फेंक मारा। दर्शकपन की इस स्थिति से ग्रस्त संसार के मानवमात्र मंत्रमुग्ध होकर अभिनेता-राजनेता-धर्मनेता, समाजनेताओं के अभिनय की ताल पर नाचने लगते हैं। साधक को ऐसा दर्शक बनना अभीष्ट नहीं। साधक तो समझता है कि अभिनेता केवल अभिनय कर रहा है। उसका अभिनय यथार्थ नहीं है, नहीं वह अपने अन्तःकरण से दुःखी होकर रोता है और न हँसता है; उसका हँसना अथवा रोना उसका अपना वास्तविक रूप नही केवल अभिनयमात्र है। ऐसा समझने वाला साधक सांसारिक अभिनेताओं के अभिनय से प्रभावित होना बन्द कर देता है। प्रभावित नहीं होता - इसका यह अभिप्राय है कि सांसारिक मनुष्यों से सम्मान आदि प्राप्त कर वह प्रसन्न नहीं होता। उनके अपशब्दों को सुनकर उसको विषाद नहीं होता। इस स्थिति का नाम है **'साक्षीभाव'**। आत्मा को चार विशेषणों से याद किया गया है - **साक्षीचेताकेवलोनिर्गुणश्च**। जब तक व्यक्ति अभिनेता अथवा 'पर' के साथ तादात्म्य किये रहता है तब तक वह शान्त नहीं हो सकता।

---

(6)
उद्यानं ते पुरुषः

सांसारिक पदार्थ प्रीतिकर भी होते हैं और अप्रीतिकर भी । प्रीतिकर पदार्थों से व्यक्ति आकृष्ट होता है और अप्रीतिकर से दूर रहना चाहता है, जिससे आकृष्ट होता है उसको अपनाना चाहता है । अपनाने के कई तरीके हैं । हिमालय प्रीतिकर लगा तो हिमालय को या उससे प्रवाहित गंगा को अपनी कोठी में बन्द तो नहीं कर सकता, किन्तु स्वयं उसके पास जाकर उसकी समीपता के सुख का अनुभव कर सकता है। आचार्य अथवा सद्गुरु की उपस्थिति उसको प्रीतिकर होती है तो आचार्य की कुटी में उपस्थित होता है । यदि उसको एक फूल प्रीतिकर है तो उसके व्यवहार में अन्तर आ जाता है। उसके पास बैठ जाने के स्थान पर उसको तोड़कर अपने घर ले जाता है। तोड़ कर घर ले जाने की क्रिया में क्या भाव काम करता है - यह विचारणीय है। पहाड़, नदी और आचार्य भी प्रीतिकर थे परन्तु उनको अपने स्थान से हटा कर घर ले जाना शक्ति से बाहर की बात थी, परन्तु पौधे पर लगा फूल , अपनी रक्षा में असमर्थ, परन्तु अपने स्वभाव से लाचार, खिल कर अपने प्रेमियों, शहद की मक्खियों, तितलियों, भौरों और अहिंसक साधकों का मनोरंजन कर रहा था, साथ ही अपनी मूकभाषा में चित्र-विचित्र संसार के रचयिता को करबद्ध होकर हँसते खिले चेहरे से धन्यवाद दे रहा था, जिसके अटल नियमों के अनुसार मिट्टी और कीच से सनी उसकी जड़ों से, उसको यह सुन्दर रंग-रूप, यह आकर्षक सुगन्ध मिली । अपनी आँख और नाक के विषयों की तृप्ति के लिए एक व्यक्ति ने उस निरीह फूल को उसके जन्मदाता पौधे से पृथक् करके उसके लोकोपकारी जीवन की समाप्ति कर दी ।

यह तो ऐसा हुआ कि प्रीति करने में असमर्थ किसी माता की गोद में एक सुन्दर बच्चा देख कर आपका जी मचल गया और आपने बलात् उस बच्चे को उसकी माता की स्नेहमयी गोद से छीन लिया। छोटा और बड़ा प्राकृतिक पदार्थों में होता है, भावनाओं में नहीं। हिंसा की भावना हिंसा है, उसमें छोटे-बड़े का भेद नहीं। असहाय माता की गोद से सुन्दर लगने वाले बच्चे को छीन लेने में जो हिंसा है - उसके जन्मदाता पौधे से अपनी आँख और नाक के विषयों की तृप्ति के लिये एक सुन्दर फूल को तोड़ लेना भी वैसी ही हिंसा है। दोनों में कोई अन्तर नहीं।

अहिंसा व्रती जिज्ञासु प्रश्न करता है - हिंसा की इस भावना का जन्म कहाँ से होता है ? उत्तर - हिंसा का जन्म कामना से होता है। कामना संचित संस्कारों से उत्पन्न होती है। संस्कार अतृप्त वासनाएँ चित्त के संग्रहालय में सुरक्षित होती हैं। जीवात्मा की अतृप्त वासनाओं के ये संस्कार अनुकूल परिस्थितियों की प्रतीक्षा में रहते हैं। परिस्थिति जीवात्मा के वश की वस्तु नहीं।

अनुकूल परिस्थिति आने पर संस्कार कामना का रूप उसी तरह धारण कर लेते हैं जिस प्रकार सोये पड़े घास के बीज ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर, आषाढ़ की पहली बौछार के पड़ते ही अंकुरित हो जाते हैं।

कामना से इच्छा का जन्म होता है जिसका स्वरूप प्रीतिकर पदार्थो को हस्तगत करना होता है। हस्तगत करने के लिए चेष्टा की आवश्यकता है। चेष्टा के लिए शक्ति आवश्यक है। यह शक्ति प्राणीमात्र को भोजन के द्वारा प्राप्त होती है। भोजन की शक्ति में रूपान्तरित करने का काम न तो जड़ प्रकृति का है और न अल्प जीवात्मा का। इस रहस्यमय प्रक्रिया का संचालन आदिमूल सत्ता के हाथ में है। संचित संस्कारों से कामना का निर्माण होता है। इस कामना का ही चित्त पर संस्कार भी पड़ता है। यही कामना जीवात्मा को बांधे हुए पशु की तरह हठात् खींचकर तृप्ति के लिए संसार में लाई थी। यही कामना वृत्ति का रूप धारण कर चित्त के संग्रहालय को सुशोभित करती और रात-दिन उसको बढ़ाती रहती है। इस वृत्ति का ही परिणाम है कि मनुष्य को संसार में निरन्तर कड़ुवे-मीठे फलों का आस्वादन करना पड़ता है। इसलिए महर्षि पतंजलि ने अपने योगदर्शन के दूसरे सूत्र में चित्तवृत्ति निरोध पर बल दिया है। वृत्ति निरोध का उपाय बतलाया है - **'राग-द्वेष का अभाव। राग-द्वेष के अभाव का ही नाम 'वैराग्य' है।** वैराग्य की साधना विषयों में दोष दर्शन से होती है। विषयों में आकर्षण है। आकर्षण से प्रीति का नहीं, प्रीति से आकर्षण का जन्म होता है। सुख और दुःख की तरह जिस पदार्थ से प्रीति होगी, कालान्तर में उसी में दोष दर्शन हो जाने पर अप्रीति भी होती है। रुचिकर भोजन का सेवन करते-करते उससे उत्पन्न रोगों से ग्रस्त होने पर साधक को उसी रुचिकर भोजन में दोष दर्शन हो जाता है और परिणामतः वह अरुचिकर हो जाता है।

यह विवेचना ,मनुष्य के लिए है, जो सब काम बुद्धिपूर्वक करता है। मनुष्य देहधारी ऐसे प्राणियों की संख्या कम नहीं जोकि दोष-दर्शन के बाद भी आसक्ति को नहीं छोड़ते। दोष-दर्शन, वैराग्य और अनासक्ति में जो भेद है उस पर सूक्ष्मता से ध्यान देना चाहिए। दोष-दर्शन के बाद वैराग्य हो जाना स्वाभाविक है, परन्तु आसक्ति उसमें बाधक हो सकती है। शराबी शराब के दुष्प्रभाव को जान कर भी आसक्ति के प्रभाव के कारण उसको छोड़ नहीं सकता।

सारांश यह कि मूल बाधा कामना है। कामना के निर्माण में संचित संस्कारों का हाथ है, परन्तु कामना का जन्म अहंकार से है। मुमुक्षु साधक अपने परम सखा आदि मूलसत्ता के साथ एक्य भाव के लिए ऊपर की ओर उठना चाहता है। परन्तु यह अहंकार रूपी लंगर उसके गले में बंधा उसकी ऊर्ध्व गति को रोकता है। अहंकार ने ही परम चेतन आदिमूल सत्ता से अपने को पृथक् कर के अपने को कर्ता बनाया। कर्ता बनने के कर्मफल को लक्ष्य बनाना पड़ा। परन्तु यह कर्मफल उसकी सम्पत्ति नहीं है। भिन्न-भिन्न रूपों में मिलने वाले कर्मफल का अन्तिम लक्ष्य मानसिक शान्ति था। सफलता ने लोभ को जन्म दिया और विफलता ने संताप अथवा क्रोध को जन्म दिया।

जुआरी एक दांव जीत लेने पर निवृन्त होकर घर नहीं चला जाता । कर्मफल जीत की आशा में रातभर उसी में व्यस्त रहता है, उसे अभीष्ट कर्मफल मिले अथवा न मिले। जिस परम तृप्ति मानसिक शान्ति के लिए अहंकारी कर्ता प्रयत्न कर रहा था, उसे वह न मिली । उसका वास्तविक दु:ख तो अहंकार है। वह एक छोटी-सी कमजोर नाव के समान है जिसने महासागर में यात्रा करते एक जहाज से अपने को पृथक् कर लिया है और अपने को चतुर मल्लाह नाविक मालिक और कर्ता समझ कर हाथ-पांव पटक रहा है। बड़े जहाज पर सवार यात्री उस अहंकारी के दुष्प्रयत्नों को देख कर मंत्रद्रष्टाओं से उच्चरित वाक्य **'उद्यानं ते पुरुष'** का स्मरण करते हैं। अहंकार रूपी शिला को गले में बांध कर तू भवसागर जैसे दुस्तर अन्तराल को पार करना चाहता है। इस मिथ्या अहंकार का परित्याग कर नश्वर एव टूटी नाव को छोड़ कर परमात्मविश्वास रूपी जहाज पर सवार होजा। उस जहाज पर सवार हो जाने के बाद आँधी, पानी, भोजन, वस्त्र, शत्रु, मित्र सब चिंताओं से तू मुक्त हो जाएगा। इन सांसारिक चिन्ताओं से मुक्ति का नाम ही '**मुक्ति**' है।

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' इत्यादि वाक्यों के अनुसार जो साधक वाणी से नहीं, मन से नहीं, हृदय से इस सचाई को स्वीकार कर लेता है कि संसार का वास्तविक संचालक एक अदृश्य सर्वशक्तिमती सत्ता है। उसका सच्चा भक्त अर्थात् आज्ञा पालक बन कर चलने से, मनुष्य सब चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। अहंकार से पीड़ित व्यक्ति अपने मिथ्या कर्तव्य को उचित ठहराने के लिये फल की आशा से अपने को धोखे में डालता रहता है। जब तक उसका अहंकार नहीं छूटता तब तक वह निरन्तर पदार्थ मात्र के शोषण द्वारा समझता है कि अपने को सुरक्षित कर रहा हूं। यह शोषण जड़, चेतन, वनस्पति, पशु-पक्षी से लेकर मनुष्यों और अपने आश्रितों पत्नी, पुत्र आदि का भी शोषण करता है।

कहना चाहिए कि ये अहंकारी त्रिकाल में कामना ग्रस्त रहता हुआ अहिंसाव्रती के स्थान पर हिंसाव्रती बन जाता है। कामनाग्रस्त व्यक्ति उस व्यक्ति के समान है जो नदी पार करने के लिये गले मे पत्थर बांध कर पानी में उतरता है। ऐसा व्यक्ति निरन्तर गहरे पानी में जाएगा। ऊपर उठने के लिए उसको अहंकार की सुरक्षा के लिए उद्यत कामनाओं का परित्याग करना होगा। कामनाओं का परित्याग अहकार का विसर्जन है। अहकार के विसर्जित होते ही मनुष्य को ऊर्ध्वगति प्राप्त होगी । वह गंभीर जल से ऊपर उठ कर स्वच्छन्द शांत पवन की झंकोर वाले वायुमण्डल में खुल कर श्वांस ले सकेगा, और प्रभात कालीन सूर्य की गुदगुदाती किरणों का भी आनन्द ले सकेगा। तभी **'उद्यानं ते पुरुष'** वाक्य चरितार्थ होगा ।

(7)

आत्मज्ञान

सबसे बड़ा आश्चर्य पूछा जाय तो, प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के अपने ही अपने उत्तर होंगे, और होने भी चाहिएं; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का अपना ही अलग संसार है। इस आश्चर्यमय चित्रविचित्र संसार कों जो जिस दृष्टिकोण से और जिन साधनों से देखता है, उसको वैसा ही दिखाई पड़ता है। इसलिए परमेश्वर का संसार एक है। पाँच अरब मनुष्यों के संसार पाँच अरब हैं और उससे पृथक् हैं ।

संसार में दृश्य पदार्थो की संख्या अनन्त है, उन अनन्त पदार्थो को केवल मनुष्य प्राणी पाँच अरब प्रकार से देखता है। मनुष्य की ज्ञानपिपासा इतनी तीव्र है कि इतने असंख्य पदार्थों को जानने का निरन्तर प्रयत्न करता जाता है। .जिनके सम्बन्ध में कुछ जान जाता है उनको विज्ञान का नाम देकर एक तरफ रखता जाता है और न जाने पदार्थो की गणना अज्ञानों में भी करता जाता है। मन की यह दौड़ कभी समाप्त होने वाली नहीं। किसी बड़े विद्वान् ने जीवनभर इस दौड़ में सम्मिलित होने के बाद कहा था -

"अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्
स्वल्पं तथाऽऽयुर्बहवश्च विघ्नाः।"

शब्दशास्त्र के महासागर का पारावार नहीं, मनुष्य की आयु औसतन सौ वर्ष बिल्कुल थोड़ी है। फिर आधि-व्याधि-जरा आदि के विघ्न भी मानते नहीं। बीच में आकर रुकावटें डालते हैं। बालकपन से लेकर इस जिज्ञासा ने पीछा किया था। एक तीन वर्ष का होनहार बालक अपने पिता के साथ एक तांगे पर जा रहा था - घोड़े को प्रतिदिन देखा तो नहीं था, नया पशु देख कर जिज्ञासा हो गई, तड़ातड़ पिताजी से कई सवाल पूछ डाले - पिताजी, घोड़े के दो कान क्यों होते हैं? पिताजी उत्तर सोच ही रहे थे, दूसरा प्रश्न आ गया पिताजी, घोड़ा बैठ क्यों नहीं जाता? यह प्रश्न अधिक गम्भीर था। पिताजी कुछ सोच कर ही उत्तर देते, तब तक एक तीसरा प्रश्न सामने आगया- पिताजी, घोड़े ने अपने पंख क्यों नहीं लगवा लिये? हमारे कुशल वैज्ञानिकों से बालक कम नहीं। तब से लेकर आज तक वह निरन्तर प्रश्न पर प्रश्न करता और मनमाने समाधान खोज कर आविष्कर्ता बना हुआ है। आज तक किसी ने उसके मौलिक प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। पानी सौ डिग्री पर भाप की जगह बर्फ क्यों नहीं बन जाता ?

अस्तु , मनुष्य संसार में घटने वाली अनेकानेक घटनाओं का समाधान प्राप्त कर चुका है और निरन्तर आगे ही आगे बढ़ता जाता है। सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि इतने बड़े खोजी मनुष्य की अज्ञात पदार्थों की गिनती में उसका अपना 'मैं' नहीं आया । अपने मार्ग दर्शक प्राचीन ऋषिओं ने इस 'मैं' का वास्तविक नाम 'आत्मा' कहा है। अपने से सर्वथा भिन्न विशाल ब्रह्माण्ड के जड़ पदार्थों को जानने में, जो प्राप्त किया उसको याद करने में जीवन का प्रारम्भिक एक चौथाई भाग विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अपार धनराशि व्यय करके भी मनुष्य संतुष्ट नहीं होता।

इतना बड़ा जिज्ञासु मानव, अपने को जानने का प्रयत्न ही नहीं करता। मनुष्य का यह स्वभाव आधुनिक नहीं बड़ा प्राचीन है। सम्भवतः बृहदारण्यक उपनिषद् में 'नारद-सनत्कुमार' संवाद इसी सचाई को प्रकट करने के लिए रखा गया है। आजकल के कालेज में नहीं, प्राचीनतम गुरुकुल में लोकोपयोगी सोलह विद्याओं में पारंगत होने के बाद नारद मुनि महर्षि सनत्कुमार के पास अध्यात्म विद्या प्राप्त करने गए थे। ब्रह्मचारी श्वेतकेतु स्नातक हो जाने के बाद भी पिता के प्रश्नों का उत्तर न दे सके।

इस आख्यायिका का ही सन्देश है कि अपने से भिन्न के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानने के बाद भी मनुष्य को अपने जीवन को सार्थक बनाने वाली विद्या नहीं मिलती । आत्मज्ञान के सम्बन्ध में साधक प्रश्न करता है - आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, उसके सम्बन्ध में अज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ है। दूसरी बात - आत्मा का यदि अज्ञान है भी तो अवास्तविक अभावात्मक है; उस अभावात्मक पदार्थ से भय कैसा ? प्रश्न सार्थक प्रतीत होता है, परन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि प्रकाश के अभाव का नाम अन्धकार है। अन्धकार कोई भावात्मक वस्तु नहीं। परन्तु इसी अन्धकार में चोरी, हिंसा आदि सभी पापकार्य होते हैं। अंधेरे में कांटे भी लगते हैं, ठोकरे भी लगती हैं। गिर जाने से टांगे भी टूट जाती हैं। इस अंधकार से होने वाले अनिष्ट परिणामों से बचने के लिए हम अभावात्मक अन्धकार से लड़ाई नहीं लड़ सकते, उसको धकेल नहीं सकते, तलवार से काट नहीं सकते। केवल एक काम कर सकते हैं कि प्रकाश उत्पन्न कर लें। प्रकाश उत्पन्न करने वाला टार्च हमारे पास है, केवल बटन दबाने की देर है। प्रकाश होते ही अंधकार बिदा हो जाता है। आत्मज्ञान होते ही अनात्मज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है । उसको नष्ट करने के लिए पृथक् प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती ।

साधक का अभी समाधान नहीं हुआ, वह फिर प्रश्न करता है - ज्ञानस्वरूप आत्मा का अज्ञान से सम्पर्क कैसे हो जाता है? जो ज्ञानस्वरूप है उसका अपने से विपरीत अज्ञान के साथ मेल कैसा? शब्दों का हेरफेर होने से साधक को शंका हो गई। मनुष्य जागता भी है और सोता भी है। आत्मा इस प्रकार सोता और जागता तो नहीं, परन्तु शास्त्रों में 'मनुष्यों के लिए **'जागृवांसः'** विशेषण का प्रयोग अनेक स्थलों पर आया है। जागरण का अर्थ बुद्धि से काम लेना है। स्वस्थ शरीर में बुद्धि कभी जीवात्मा का साथ नहीं छोड़ती । मादक द्रव्यों और औषधियों से बुद्धि को निश्चेष्ट किया जा सकता है। इसका सर्वोत्तम नाम 'मूर्च्छा' है। जीवात्मा उस स्थिति में मूर्च्छित हो जाता है। इस मूर्च्छा का जो स्वरूप है वही स्वरूप विषयासक्त व्यक्ति का भी हो जाता है। जो व्यक्ति प्राकृतिक विषयों की जानकारी में, अनुभव में, परिग्रह में आसक्त है, उसकी आत्मा मूर्च्छित दशा में है। ज्ञानस्वरूप आत्मा विद्यमान है, पर मूर्च्छित है। सूर्योदय हो जाने के बाद भी एक साहब कहलाने वाला युवक, मुँह ढ़क कर, दरवाजे-खिड़की से आने वाले प्रकाश को रोक कर लेटा है, वह जीवित अवश्य है, उसकी सब इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं, परन्तु उसके लिये दिन भी रात है। मूर्च्छित आत्मा के लिये भी प्राकृतिक विषयों में आसक्त व्यक्ति के लिये सारा संसार अंधकार है, आत्म अज्ञान है । आत्मा अपने जागरण के साधन बुद्धि को काम में नहीं ला रहा है। बुद्धि विवेकख्याति द्वारा उसको प्राकृतिक विषयों से हटाकर उसके परम सखा के साथ उसका संसर्ग करा सकती है, परन्तु अब वह प्राकृतिक विषयों के ज्ञान में रत उनके ज्ञान का संग्रह करने में दुनियादारी में रत है जिस तरह अंधकार को हटाने के लिये प्रकाश उत्पन्न करने की आवश्यकता है। आत्मज्ञान की स्थिति में आने के लिए प्राकृतिक पदार्थों से विमुख होने की आवश्कता है।

साधक को अभी समाधान नहीं मिला, वह फिर प्रश्न करता है। प्राकृत पदार्थों के ज्ञान अनुभव और उपभोग की प्रवृत्ति कहां से उत्पन्न हुई और उससे विमुख होने का क्या उपाय है? प्रकृति स्वभाव से जड़ है। परमेश्वर की चेतना से ही उसमें क्रियाशीलता उत्पन्न हुई। परमेश्वर की चेतना में आनन्द ममता का गुण है। उसकी छाया जड़ प्रकृति में सुख रूप में हुई। आनन्द के अभाव में जीवात्मा, इसी सुख को भोगने के लिए प्रकृति में अनुरत हुआ। यथायोग्य उपभोग अथवा आवश्यकतापूर्ति तक तो प्रकृति का भोग सुखदायक ही था परन्तु अनादिवासना से पीड़ित भिखारी की तरह हाथ पसारे जीवात्मा प्राकृतिक पदार्थों में अपनी कामनाओं की भी तृप्ति करने लगा। तभी कर्मबन्धन के चक्र मे फंस कर सुख के साथ दुःख भी भोगने लगा। सुख भोगने का तो उसने अपना अधिकार समझा, और दु ख को परमात्मा की देन । यथार्थ स्थिति इससे ठीक विपरीत है। अन्न-जल-अग्नि-वायु का सेवन करते हुए मनुष्य को परमेश्वर का धन्यवाद करना चाहिये था। सारे जीवनभर इन ईश्वर प्रदत्त पदार्थों का उपाभोग करते हुए कभी उसका ध्यान न किया। अधिक खा लेने से सिरदर्द होने पर परमात्मा को दोष दिया।

हमारे अन्त:करण की अपवित्रता इस दु:खद स्थिति का कारण है। मनुष्य यदि जागने का सदा बुद्धिपूर्वक काम करने का अभ्यास बना ले तो अन्त:करण को अपवित्र करने वाले काम-क्रोधादि छह शत्रु ही उसको मलिन नहीं कर सकते। यदि अन्त:करण पवित्र हो जाय तो मनुष्य जन्म कीं सबसे अधिक मूल्यवाली उपलब्धि 'आत्मज्ञान' अधिक प्रयत्नसाध्य न रह जाय। मलिन अन्त:करण वाला मनुष्य सोते हुए मनुष्य से भिन्न नहीं है। सोते हुए मनुष्य को अपने शरीर और अपने वस्त्रों तक की होश नहीं रहती। ये सोये हुए व्यक्ति परमात्मा के दर्शन के लिये निकल पड़ते हैं तो आश्चर्य के साथ उन पर दया भी आती है। इस विषम स्थिति से निकल कर बाहर होने के लिये अपने स्वभाव को बदलना आवश्यक है। पुराना स्वभाव भी अभ्यास बन जाता है, परन्तु हमें निरन्तर जागने का अभ्यास तत्काल करना है। तत्काल फलप्राप्ति का केवल एक उपाय है - 'दृढ़संकल्प'। व्रतधारण की चर्चा तो प्रतिदिन सुनने में आती है, परन्तु उस व्रत को निभाने का संकल्प कमजोर होने से वह विस्मृत हो जाता है । शिवसंकल्प सूत्र का अभिप्राय ऐसा प्रतीत होता है कि यदि संकल्प शिव होगा तो भगवान् भी उसके पूर्ण होने में सहायक होंगे। संकल्प से व्रत और व्रत सिद्धि से जागरण की प्राप्ति होगी । जागृत व्यक्ति के शुद्ध अन्त:करण में आत्मा का स्वच्छ प्रतिबिम्ब झलकेगा । यही आत्मज्ञान है ।

....

(8)

प्रवचन

जलसों और उत्सवों में व्याख्यानों की धूम रहती है और मठों तथा आश्रमों में प्रवचनों की धूम रहती है। व्याख्याता प्रायः सामाजिक कुरीतियों, शासनसूत्र विधर्मियों पर आक्षेप आदि विषय लेते हैं; मठों और आश्रमों में प्रवक्ता शास्त्रों के नए से नए उद्धरण देकर श्रोताओं को परोक्ष तत्त्व- आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष, ध्यान, योग आदि पर प्रकाश डालने का यत्न करते हैं । ऐसा अवसर कभी ही आता होगा जबकि दो प्रवचनों में एक समान बात कही गई हो। यदि कोई नौसीखिया प्रवक्ता सीधीसाधी बात जोकि पहले भी कई बार सुनी जा चुकी है, कह देता है तो श्रोता उसमें दिलचस्पी नहीं लेते। आश्चर्य यह है कि विषय एक, प्रायः प्रमाण भी वही, वेदी वही, श्रोता भी प्रायः वही, परन्तु प्रवचन के शब्दों में शास्त्रोक्त वाक्यों के अर्थों में भारी भेद उपस्थित हो जाता है। इस अर्थभेद पर श्रोताओं का ध्यान जाना चाहिए, परन्तु श्रोता भी तो केवल सत्य की खोज में नहीं निकले। उनको कान का रस अधिक अभीष्ट है। प्रवक्ता की आवाज़ मधुर हो, भावभंगिमा, आवाज में उतार-चढ़ाव, हास्य रस की अधिकता आदि श्रोताओं को मुग्ध करने वाले हथकण्डों की अधिकता होगी।

श्रोता उसी को पसन्द करेंगे। श्रोता की पसन्द और नाराजगी की बात छोड़ दें। ध्यान देने की बात यह है कि शास्त्र के वाक्यों के अर्थों में इतनी भिन्नता कैसे हो जाती है। प्रवक्ता एक प्रकार से क्षणिक भाष्यकार है। प्रवक्ता बोलकर निवृत्त हो जाता है। भाष्यकार भाष्य के लेखबद्ध होने से पकड़ में आ जाता है। वेदों के प्राचीनतम काल से असंख्य भाष्य हो चुके हैं। आज भी, जबकि महर्षि दयानन्द ने अपना भाष्य प्रकाशित किया, भाष्यकारों की बाढ़-सी आगई है। भाष्यकारों में इतना भारी अर्थभेद क्यों है? यदि अर्थभेद न होता तो नए भाष्य की आवश्यकता ही क्यों होती।

रंग मुख्यरूप से सात हैं। सात रंगों वाली ऐनक लगाकर सात व्यक्तियों को एक सफेद चादर दिखाओ, सातों व्यक्ति अपने-अपने चश्में के रंग के हिसाब से चादर का रंग बतलायेंगे। सब ही विद्वान् हैं, शास्त्रों के ज्ञाता हैं। भावना शुद्ध, उनके मन-वचन-कर्म में विषयता नहीं, परन्तु चश्मे के शीशों का रंग अलग-अलग है। यह देखने वाले की आँख पर चढ़े चश्मों के रंग हैं जो कि

संसार में अनर्थ किये हुए हैं। जब तक बिना रंग के चश्में से देखने वाला **चादर** को नहीं देखेगा, उस चादर का वास्तविक रंग दिखलाई नहीं पड़ेगा। शास्त्रोक्त वाक्यों के पाण्डित्यपूर्ण अर्थ करने वाले जब तक निर्मल अन्त:करण वाले नहीं होंगे, वाक्यों का सत्य अर्थ प्रकाशित नहीं होगा।

शुद्ध अन्त:करण का क्या मतलब है? अन्त:करण के मनोवैज्ञानिक प्रकार से चार विभाग हैं - अहंकार, मन, बुद्धि और चित्त। स्थूल ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को शान्त अथवा निश्चल कर देने के बाद भी अन्त:करण शान्त नहीं होते। अहंकार अपनी कमजोरी, अवास्तविकता, व्यर्थता को जानता है, इसीलिए अपनी सुरक्षा के लिए किलेबन्दी करने के लिए मन को प्रेरणा देता है। मन योजनाएँ बनाकर शरीर की शक्ति को प्रेरणा देता है, जिससे अर्थ की उत्पत्ति होती है। मन की इस चेष्टा को कामनापूर्ति की दौड़ कहते हैं। मन है संकल्प विकल्पात्मक, निश्चय नहीं कर पाता- 'करूँ या न करूँ'। तब बुद्धि से सहायता मांगता है। अभी कर्मफल पुनर्जन्म आदि सिद्धान्तों का जन्मदाता चौथा अन्त:करण शेष है। इसको भूतकाल के अनुभवों का गोदाम या अधिक सार्थक केदख़ाना कहना चाहिए। उन कैदियों के नाम हैं - 'संस्कार'। ये बड़े दीर्घजीवी होते हैं। बीजरूप से हजारों-लाखों वर्षो तक पड़े अपने अंकुरित होने के लिए अनुकूल परिस्थिति की प्रतीक्षा किया करते हैं। इन कैदी संस्कारों के सामने प्राय: मन और बुद्धि की सारी योजनाएँ विफल हो जाया करती है। इसी कैदखाने के कैदियों को न पहचान कर दुर्योधन ने कहा था - **'केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'** । जानता सब हूँ कि भला क्या है, बुरा क्या है; फिर भी मेरे अन्दर कोई (संस्कार) बैठा है, वह जैसी प्रेरणा देता है, वैसा करता हूँ।

इस अन्त:करण चतुष्टय को बहिरंग इन्द्रियों की तरह निश्चेष्ट कर देना बड़ा कठिन काम है। इसी भाव को अधिक स्पष्ट करते हुए महर्षि व्यास ने कहा था - **'रस वर्जं'** । खाना-पीना छोड़ देने से बहिरंग वृत्तियाँ तो बन्द हो ही जायेंगी, परन्तु उनका 'रस' उनका उद्‌गम स्थान और भी अधिक बेचैनी के साथ अपने अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में रहेगा। इसी रस की निवृत्ति के लिए पतञ्जलि मुनि ने अपने योगशास्त्र का उपेदश किया। प्रारम्भ में कह दिया - **'योगांगानुष्ठानात् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्ति:'** । हमारे बतलाए योग के आठ अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय हो जाता है। अशुद्धि से मुनि का क्या अभिप्राय है, अशुद्धि का निराकरण करना नहीं, अशुद्धि का नाश करना है। विष को शुद्ध करने से उसकी क्षमता और भी बढ़ जाती है। अन्त:करण को भी अधिक शुद्ध किया जाय, तो उसकी क्षमता, कार्यशक्ति और भी बढ़ जायेगी। इसलिए पतंजलि मुनि का आदेश है कि अशुद्धि को शुद्ध करने के स्थान पर उसका क्षय (नाश) करना ही है। अन्त:करण अशुद्धि का गढ़ है। इसलिए चित्तवृत्ति को शुद्ध करने पर नहीं, **'चित्तवृत्तिनिरोध'** पर बल देते हैं।

अब आइए प्रवक्ता के प्रवचन पर । प्रवक्ता अपने मंतव्यों, सिद्धान्तों और संस्कारों का चश्मा लगाकर शास्त्रों के वाक्यों का अर्थ करता है। उसको वैसा करना ही पड़ेगा। जब तक **आँख**

पर रंगीन चश्मा चढ़ा हुआ है, दृश्य पर उसके रंग का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए रंगीन चश्मा उतारना आवश्यक है। शास्त्रोक्त वाक्यों के यथार्थ अभिप्राय को समझने के लिए भी अपने सभी मंतव्यों, सिद्धान्तों, संस्कारों और अंध परम्पराओं को तिलांजलि देनी ही होगी।

एक कट्टर कृष्णभक्त एक दिन कह रहे थे, आज रात मैंने भगवान् कृष्ण के दर्शन किए। वह रो रहे थे। साष्टांग प्रणाम करने के बाद मैंने कारण पूछा तो वह बोले - मैंने गीता का उपदेश अर्जुन को दिया था, उसने भी उसको ठीक समझा या नहीं, संसार के सैंकड़ों पण्डित लोगों ने उसके अर्थ का अनर्थ करके नाम रखा 'गीताभाष्य'।

अब श्रोताओं के सम्बन्ध में कुछ विचार करें। प्रवक्ताओं की तरह श्रोता भी कान पर छलनी लगा कर प्रवचन को सुनते हैं। उस छलनी में से केवल उनकी मनचाही बात ही भीतर प्रवेश कर पाती है। प्रवक्ता ने कहा - आत्मा सर्वथा शुद्ध-मुक्त है। श्रोताओं में बैठे जमाखोर, टैक्सचोर, मिलावटकुशल, सेठ बड़े जोर से सिर हिला कर बोले, 'यही तो हम कहते हैं'। पण्डित जी का कहना बिलकुल सत्य है। दुकान की दुकानदारी बिलकुल अलग चीज है, हमारी आत्मा तो शुद्ध और पवित्र रहती है। प्रवक्ता अंधविश्वास आदि का रंगीन चश्मा लगा कर अपने को और श्रोताओं को मार्गभ्रष्ट करता है तो श्रोता भी कम समझदार नहीं। कानों पर ऐसी छलनी लगा कर बैठता है जिससे केवल काम की बातें भीतर जा सकें। **लोभी गुरु लालची चेला दोनों खेलें दाँव** ।

साधक पूछता है - फिर कोई मार्ग है भी ? पतंजलि का बताया अष्टांगयोग ही एक मार्ग सुरक्षित है। समाधि अवस्था तक जाने के लिए 'ध्यान' की स्थिति प्राप्त करनी आवश्यक है। **'ध्यानं निर्विषयं मनः'** - मन विषयों से सर्वथा शून्य हो जाय। पहले कहे गए मन्तव्य सिद्धान्त अंधविश्वास आदि के संस्कार भरे पड़े हैं। उनको निकाल बाहर करने के बाद किसी नई उपलब्धि की आशा की जा सकती है। निकाल बाहर करने का मार्ग वही है जिससे उनको भीतर प्रविष्ट किया था। जिन-जिन अंधविश्वासों को अपना कर उनमें ममत्व की स्थापना करके उनके संस्कारों से चित्त का घड़ा भरा था। ममत्व का परित्याग करने से **'निग्रहः किं करिष्यति'** । दमन अथवा संघर्ष से नहीं उपेक्षावृत्ति के साथ द्रष्टा मात्र होकर स्थिर होने से नई उपलब्धि के लिए स्थान रिक्त हो जाएगा। इस ही स्थिति का नाम है ध्यान। इस ध्यान को उपलब्ध हुए बिना न प्रवक्ता प्रवचन दे सकता है और न श्रोता उसे सुन सकता है ।

:::::::

(9)

विरोधाभास

आदिमूल सत्ता परब्रह्म की सर्वोत्तम रचना ब्रह्माण्ड का एक अत्यन्त क्षुद्र (परिमाण में) अपनी सृष्टि साधारण सांसारिक व्यक्तियों के लिए द्वन्द्वात्मक है। उपनिषद् में ऋषि ने भी कह दिया कि सृष्टि रचना में परब्रह्म ने आदि में दो तत्त्वों की रयि प्राण की, भोक्ता और भोग्य की रचना करके संतोष की सांस ली कि अब सृष्टि का क्रम चालू होगया। उसी उपनिषद् में अलग ही वाक्य है जिसमें उसने कहा कि प्राण भी कभी रयि बन जाता है और रयि प्राण बन जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि रयि और प्राण का विभाजन कोई पत्थर, कील वगैरा नहीं, और जो वास्तविक नहीं वह काल्पनिक है। कल्पना करना मन का काम है। मन अल्प शक्तिवाला साधन किसी भी ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान एक समय में नहीं कर सकता। काल और दिशा उसके अज्ञान के कारण बन जाते हैं। किसी भी वस्तु को हम देखते हैं तो सामने का भाग ही दिखलाई देता है। पीछे का नहीं। यह दिशाबाधा है। किसी भी व्यक्ति को हम देखते हैं तो केवल उसका वर्तमान देखते हैं, वह पहले क्या था और कल क्या होगा, उसके सम्बन्ध में यह तो नहीं जान सकते, यह मन के सामने 'कालबाधा' है। इन बाधाओं को अहिंसक रूप से कम करने के लिए मन ने यह युक्ति निकाली कि प्रत्येक पदार्थ के प्रत्येक ज्ञान के प्रत्येक अनुभव के कम से कम दो टुकड़े कर लिए। यह विभाजन वास्तविक नहीं, केवल मन की अपनी उपज है। सबसे पहले सारभूत अनुभव सुख और दुःख को लें, दोनों में 36 जैसा परस्पर विरोध का सम्बन्ध प्रतीत होता है। दोनों की उत्पत्ति ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान से है। दोनों का परिणाम एक-सी मानसिक अशान्ति है। वस्तुतः ये दोनों एक छड़ी के दो सिरों की तरह हैं। सुख परिणाम में दुःख बन जाता है। दुःख परिणाम में सुख बन जाता है। अधिक स्वादिष्ट, गरिष्ठ भोजन में सुख का अनुभव करने वाले आगे चल कर नाना प्रकार की बीमारियों से पीड़ित होते हैं और प्रायः अकाल मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। अकाल मृत्यु का अभिप्राय यह है कि जो जीवम की संध्या वास्तविक तत्व देने में सहायक होकर मनुष्य जीवन को सार्थक करने वाली थी, व्याधिग्रस्त शरीर के साथ प्रोढ़ावस्था में ही उनके जीवन का चिराग बुझ जाता है। यह हो गया सुख का दु.ख में रूपान्तरित होना।

ब्रह्मचर्यकाल में कठोर जीवन बिता कर बालक जब मैदान में पदार्पण करता है तो सांसारिक विषयो के भोग करने की उसमें क्षमता होती है। इसी आशय को महर्षि व्यास ने इन शब्दों में श्लोकबद्ध किया है - **'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'** - वह सारी तपस्या रूपान्तरित होकर सांसारिक सुख का रूप धारण कर लेती है। सुख-दुःख के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती । परन्तु मन इन दोनों को विभक्त किए बिना नहीं मानता और इसी विभाजन से भ्रांत होकर मानव नाना प्रकार के अकर्म किया करता है। अंधकार प्रकाश में, शीत उष्ण में, मोटे पतले में, दूर और निकट में, संसार के सब ही द्वन्द्वों में कभी किसी ने कोई विभाजन रेखा नहीं खींची। परन्तु संसार द्वन्द्वात्मक है, यह नहीं माना जाता। असत्य को सत्य मानकर चलने वाला, व्यवहार करने वाला समाज कैसे अपने को अशान्ति से बचा सकता है। इस ही विरोधाभास को एक अलंकार के रूप में ईशोपनिषद् में - **"तद् दूरे तदन्तिके"** - आदि में प्रायः सारे उपनिषद् में अनेक बार प्रदर्शित किया है। अर्वाचीन विज्ञान के प्रारम्भ में ही इस सबको मानो कि प्रदर्शित करने के लिए बतलाया जाता है कि प्रकाश का वास्तविक रूप तो श्वेत है, परन्तु त्रिपार्श्व कांच में से निकल जाने के बाद वह श्वेत प्रकाश सातरंगों में विभक्त प्रतीत होता है। मन के द्वारा यह विभाजन की प्रक्रिया संसार में सबसे बड़े मात्र ज्ञान का कारण है। उसी उपनिषद् में विद्या अविद्या संभूति विनाशः को सर्वथा भिन्न दिखलाई देने वाले पदार्थों अथवा सत्ताओं में एकत्त्व प्रदर्शित करने का यत्न किया गया है। यदि विरोधाभास की घटना का यथार्थ रूप, उसका कारण हम हृदयंगम कर सकें तो हमारी विचारधारा में, विचार करने के ढ़ंग में (विचारों में नहीं) एक भारी परिवर्तन आ सकता है। विभाजन की रेखाए एक-एक करके गिरती चली जाएंगी और कभी वह स्थिति भी आ जाएगी जब उस उपनिषद् के **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'** - इस वाक्य के अनुसार साधक सारे ब्रह्माण्ड के मूल में केवल एक तन्त्व का दर्शन करने लग जाएगा। **'तस्मिन्निदं स च विचैति सर्वं'** के अन्दर जिस सत्य का उद्घोष है, यह सारा दृश्य ब्रह्माण्ड उसी में से निकल कर बाहर प्रकट होता है और प्रलयावस्था में शक्ति रूप में परिवर्तित होकर उसी में लीन हो जाता है।

आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व आधुनिक विज्ञान ।।0 तत्व मान रहा था। विज्ञान उन्नति करता गया और तत्वों की संख्या में कमी आती गई। आज से 50 वर्ष पूर्व विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सारे स्थूल ब्रह्माण्ड का मूल एक विद्युत् है। इस विद्युत् के कण परस्पर भिन्न-भिन्न प्रकार से मिल कर भिन्न-भिन्न दिखलाई देने वाले पदार्थों का निर्माण करते हैं। वैज्ञानिक प्राचीनतम वैदिक सिद्धान्त के बहुत पास आ चुके हैं। अब केवल अन्तर इतना रह गया है कि विद्युत् में शक्ति अथवा ऊर्जा तो विद्यमान है पर चेतना का नाम भी नहीं। दोड़धूप जारी है। चेतना के स्रोत को भी वह किसी बड़े सूक्ष्म दर्शक यंत्र की सहायता से देख लेना चाहता है। **वैदिक ऋषियों ने**

उसको आदिमूल सत्ता परमचेतना परब्रह्म आदि अनेक नाम देकर अनादिकाल से स्वीकार किया हुआ है। आधुनिक वैज्ञानिक अपनी खोज में ईमानदारी के साथ लगे हुए हैं। अधिक विलम्ब नहीं जबकि वे सृष्टि के मूल एकमात्र विद्युत् के स्थान पर एकतत्व को स्वीकार कर लेंगे। इस आदिमूल एक तत्व को जहाँ तक स्वीकार कर लिया जाएगा संसार में वैमनस्य क्लेश रागद्वेष आदि में कमी होती जाएगी।

आइए, हम संसार की चिन्ता करने से पहले अपनी साधनास्थली और साधनाप्रणाली 'ध्यान' पर इसका प्रभाव देखें। साधक प्रतिदिन दो घण्टा ध्यानमग्न होने का प्रयत्न करता है। एक मानी गई सर्वसाधारण स्थिति है कि 'ध्यान' लगता नहीं। जहाँ तक ध्यान लगने का प्रश्न है, ध्यान तो प्रत्येक व्यक्ति का लगा हुआ है प्राकृतिक विषयों में। प्राकृतिक विषयों में अनेक दशाब्दियों तक ध्यान लगाने के बाद भी साधक को जब मानसिक शान्ति की छाया भी न मिली तब उसके स्थान पर मिला अशान्त वातावरण, निर्वीर्य वृद्धावस्था में उठते-बैठते तृष्णा का बवण्डर। इस ध्यान से घबरा कर आश्रम में आया। सिद्धपुरुषों ने बतलाया ध्यान करो। साधक ने प्रश्न किया – किसका ध्यान करूँ? सिद्ध ने कहा – अभी तक प्राकृतिक विषयों का ध्यान किया था, अब उधर से ध्यान हटा कर परमात्मा में ध्यान लगाओ। साधक भी कई जगह भटक चुका था। संतों के कई प्रवचन सुन चुका था, बोला - ध्यान तो लगाया जाता है किसी पदार्थ में परमात्मा की तो पदार्थों में गणना नहीं। स्थूल भौतिक पदार्थों के तो गुण हैं, उन गुणों का ध्यान करने मात्र से गुणी का द्रव्य का ज्ञान हो जाता है। सिद्ध बोले, तो क्या परमात्मा सर्वथा निर्गुण है। महर्षि दयानन्द का मन्तव्य है कि वैदिक वाङ्गमय के शब्द मात्र उसके गुणों के परिचायक हैं। उसका निर्गुण स्वरूप अवश्य है। जीवों के कल्याण के लिए अपने-अपने को ब्रह्माण्ड रूपी रचना में अपने सगुण रूप को प्रकाशित किया है- **'वायो ! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि'** - हे अन्तरिक्षस्थ वायु तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। अर्थात् ब्रह्म अप्रत्यक्ष तो है ही, इन्द्रियों और मन सब का अविषय है फिर भी उसकी रचना में केवल वायु में नहीं घास की पत्ती-पत्ती में उसके दर्शन का अभिलाषी अनेकता में भी उस एक तत्व का दर्शन कर सकता है। साधन है 'ध्यान'। जिसकी व्याख्या कपिलाचार्य ने भी **"ध्यानं निर्विषयं मनः"** की है; विषयासक्त मन जीवात्मा पर आवरण बन कर उसको मलिन किए रहता है। तरंगित जलाशय में सूर्य का स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। मन के निर्विषय होने पर साधक 'ध्यान' की स्थिति में होता है। आत्मा निर्मल होती है, उसी में परमात्मा प्रकाशित होता है।

....

(10)

बिन मांगे मोती मिले

जो वास्तविक भक्त हो गए उनके चरित्र निराले हैं। महर्षि दयानन्द ने भक्ति का अर्थ आज्ञापालन किया है। शास्त्रों को बिना पढ़े भी मनुष्य धर्माचरण कर सकता है। **"नास्ति सत्यात् परो धर्मः"** का नियमित पाठ करने वाला संभव है आचरण में ठीक इसके विपरीत हो और आधुनिक सभ्यता एवं शिष्टाचार से अनभिज्ञ आदिवासी आज भी असत्य अथवा स्तेय के नाम तक से परिचित नहीं ।

आजकल के भक्त परमेश्वर से प्रार्थना करने में अधिक विश्वास रखते हैं। भगवान हमको सुबुद्धि दे, भगवान हमको ऐश्वर्य दे, भगवान हमारे पुत्रों और पशुओं की रक्षा करे इत्यादि ।

प्रार्थनाका अर्थ मांगना नहीं, दृढ़संकल्प के साथ पूरे पुरुषार्थ से इष्टसिद्धि के लिए प्रयत्न के बाद भी जब सफलता और विफलता की आँखमिचौनी चल रही होती है, उस समय साधक की जो मनःस्थिति होती है, उसका नाम प्रार्थना है। उस प्रार्थना की स्थिति में साधक के उद्गार सार्थक होते हैं। तोते की तरह प्रतिदिन **'स्याम पतयो रयीणाम्'** का पाठ करके कोई साधक ऐश्वर्यशाली नहीं हो सकता। शास्त्रों में प्रार्थना के जितने भी वाक्य हैं उन सबका तात्पर्य यही है - अपनी साधना को दृढ़संकल्प और पूर्ण पुरुषार्थ के साथ जो व्यक्ति करता है सृष्टि का नियामक अपने अटल नियमों के अनुसार उसके प्रयत्न को अवश्य सफल बनाएगा । वह आदि मूलसत्ता तो ऐसी न्यायप्रिय और दयालु है कि नास्तिकों को ही नहीं परमेश्वर को अपशब्द कहने वालों को भी आग, पानी, वायु आदि का उसी प्रकार दान करती है जिस तरह बड़े से बड़े भक्तों, उपासकों, याज्ञिकों और सन्त महन्तों को करती है ।

एक गाँव में एक साहसिक (लुटेरा) बड़ा उपद्रव करता था। बचपन से उसकी आदतें अच्छी नहीं थीं। बड़ा होकर तो वह गाँवभर के लिए अभिशाप बन गया। मन्दिर के पुजारी के पास गाँव वाले यह समझकर गए कि यह तो साक्षात् परमात्मा के दरबार का पेशकार है। लुटेरे को परमात्मा से कठोर दण्ड दिलवा देगा। पुजारी रोज़ काँपती आवाज़ में उस लुटेरे को दण्ड देने, हाथ-पाँव तोड़ने आदि की प्रार्थना करता रहा । कोई फल न निकलने पर, एक दिन, पुजारी ने भगवान्

को झुकाने के लिए आमरण अनशन की घोषणा कर दी। रात्रि में पुजारी को स्वप्न में भगवान ने दर्शन देकर कहा - "मैं तो 38 साल से इसके अत्याचारों को सहन कर रहा हूँ, तू तो चार दिन केवल प्रार्थना शब्द मात्र से प्रार्थना कर ही घबरा गया, और जान देने पर उतारू होगया।" संसार में जो कुछ भी हो रहा है, किसी न किसी विधान के अनुसार ही हो रहा है। हमारी प्रार्थना हमारे स्वार्थ के पुष्ट करने मात्र के लिए होती है। प्रार्थना करने वाले हम ही नहीं, संसारभर में चक्रवर्ती साम्राज्य की प्रार्थना संसार का कौन-सा देश नहीं करता? प्रतिस्पर्द्धा में मुकाबिले में कौन-सा व्यक्ति अथवा दल जीतना नही चाहता ? सभी अपने-अपने तरीके से, अपने-अपने इष्टदेव की आराधना करते और विजय की प्रार्थना करते हैं। विजय तो केवल उस ही को मिलती है जो अधिक कुशलता से उस काम को करता है। ऐसी दशा में प्रार्थना में सर्वथा विश्वास न करने वाले, अपने कौशल से ही विजय प्राप्त कर लेते हैं। मानना पड़ेगा कि सफलता प्राप्त करने के लिए प्रार्थना (चालू प्रार्थना) की अपेक्षा कौशल अधिक उपयोगी है। फिर भी प्रार्थना का अपना महत्त्व है ।

सांसारिक पदार्थ धन, पशु, पुत्र, पौत्र, स्वास्थ्य, शत्रुनाश आदि के लिए जो प्रार्थना की जाती है उसमें स्वार्थ की मात्रा का प्रायः समावेश रहता है। जो प्रार्थनाएँ सामूहिक हैं उनमें भी अपने वर्ग, अपने समुदाय मानवमात्र, प्राणीमात्र आदि की संकुचित भावना विद्यमान रहती है । प्रार्थना का उद्देश्य बतलाते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं, **"अहंकार का परिहार"**, जब तक 'मैं' और 'मैं' की छाया 'मेरा' विद्यमान है। अहंकार की उपस्थिति रहती है। प्रार्थना से उत्पन्न नम्रता में अहंकार का विनाश हो जाता है। अहंकार के विनाश हो जाने पर व्यक्ति का कर्तृत्वाभिमान जाता रहता है। कर्ता कर्म को करता है फल की कामना के लिए, कर्ता जाता रहा तो फल भी चला गया। कर्ता के न रहने पर फल की कामना करने वाला भी न रहा। फल की कामना न रही तो सकाम कर्मो की भी समाप्ति हो गई। सकाम कर्म तो फल की आशा से ही किए जाते हैं। फल की आशा न हो तो किसान खेती क्यों करे? माली बाग क्यों लगाए? विद्यार्थी दिन-रात एक कर पाठ्यपुस्तकों को क्यों रटे? कर्म तो फल की कामना के वशीभूत है। यदि परीक्षक को चाकू दिखाकर, नकल करके, रिश्वत लेकर, विद्यार्थी पास हो सकता है, तो वह सालभर की कठिन पढ़ाई का कष्ट कभी नहीं करेगा। यदि सेंध लगाकर ताला तोड़ कर एक रात में मनुष्य धनी बन सकता है तो वह कभी खेती-मजदूरी आदि कर्म नहीं करेगा। मनुष्य बुद्धिमान् है। सबसे पहले उसकी बुद्धि श्रम से बचने के तरीकों पर जाती है। जब धर्माचार्य ने यह पाठ पढ़ाया कि प्रार्थना करने से भगवान् प्रसन्न होकर सब कुछ दे देता है, तो स्वभावतः श्रम से, कर्म से बचने वाला संसारी मनुष्य प्रार्थना पर उतर पड़े। भक्ति सम्प्रदायों की बाढ़ आगई । परीक्षक, तहसीलदार, थानेदार भेंटपूजा लेकर उचित-अनुचित का विचार न करके प्रार्थी का काम सिद्ध कर देते हैं। अवतारवादी मनोवृत्ति वालों ने भगवान् को भी पत्र, पुष्प, नारियल, मिठाई आदि से प्रसन्न करना प्रारम्भ कर दिया। यह भी एक परम्परा बन गई।

आफिस के क्लर्कों और चपरासियों तक की मनोवृत्ति पर इन धार्मिक अनुष्ठानों, प्रार्थना, पूजा आदि का प्रभाव हुआ कि जब भगवान तक प्रसन्न होते है, भगवान् भी इन खुशामदी और प्रलोभनों में फँस सकते हैं तो ये ही हमारे मार्गदर्शक हैं। क्यों न हम भी पूजा, प्रार्थना, रिश्वत आदि को बढ़ावा दें। होगया सत्यानाश । कहाँ प्रार्थना का आध्यात्मिक महत्त्व, और कहाँ सांसारिकता में उतर कर स्वार्थसिद्धि के लिए भगवान् की पत्र, पुष्प से पूजा और करबद्ध प्रार्थना में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ कर वास्तविक कर्मकाण्ड से सर्वथा विमुख होना। सांसारिक प्रार्थना में साधक अपने को सर्वथा दीन-हीन, शक्तिहीन होने का दिखावा करता है । वह जितना अधिक अपने इन दुर्गुणों से अपने को अलंकृत करता है वह उतना बड़ा भक्त समझा जाता है। परमात्मा तो अपने पुत्रों को ऐसी दीन दशा में ग्रस्त देखना कभी पसन्द नहीं करेगा । साधारण गृहस्थ माता-पिता भी पिटकर आने वाले भोंदू बच्चों से प्रसन्न नहीं होते। प्रार्थना का शुद्ध और सात्विक अभिप्राय नम्रता से है। नम्रता का एक मात्र साधन अहंकार विसर्जन है। जब तक मनुष्य, अपने को एक मात्र कर्ता मान कर फलप्राप्ति की कामना को लक्ष्य बना कर कर्म करता रहेगा, उसको सिवाय अशान्ति और बेचैनी के और कुछ भी हाथ न लगेगा। प्रार्थना करने वाले का सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह कर्तव्य-कर्म को साधना मान कर पूरे मनोयोग के साथ सारी शक्ति लगाकर उसको सम्पन्न करने का यत्न करे।

यजुर्वेद के प्रथम मंत्र में आता है - **"आप्यायध्वमघ्न्या:"**। उच्चस्वर से इस मंत्र का सामध्वनि से गान करके प्रतिदिन ईश्वर से प्रार्थना करने वाले साधक को गऊ माता का दूध तो क्या दर्शन भी नहीं मिल सकते। एक अनक्षरभट्ट ग्रामीण किसान जोकि वैदिक प्रार्थनाओं से सर्वथा अपरिचित है, घर में गोएं पालता है। उनको यथेष्ट चारा-दाना देता है। अपने घर के सदस्यों को यथेष्ट दूध पिलाता है और मनु के आशीर्वाद के बिना प्रार्थना आदि किए लाभ उठाता है।

"तस्यनित्यं क्षरत्येव पयोदधि घृतं मधु" - इस विवेचन का सारांश यह है कि प्रार्थना का अभिप्राय मांगना नहीं । जब हम गायत्री मन्त्र का जाप करते हुए कहते हैं कि **'वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे"** - इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह अभी तक हमारी बुद्धि को अपनी प्रेरणा से वंचित किए हुए है, और अब हमारी दीनताभरी प्रार्थना को सुनकर वह हमको प्रेरणा देना प्रारम्भ कर देगा । इसका अभिप्राय यह है कि वह निरन्तर हमारी बुद्धि को प्रेरणा देता रहता है। हमको सदा जागरुक रहकर उसकी दी गई प्रेरणा को सुनने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्न करने पर कर्म का फल तो मिलता ही है, फल की कामना न करने वाला अहंकार से शून्य व्यक्ति परिश्रम भी करता है और फिर आदिमूल सत्ता के सामने विनम्र हो उसी को एकमात्र कर्ता स्वीकार करता है। उससे कुछ मांगता नहीं, उसने जो दिया है उसके लिए धन्यवाद देता है। ऐसी प्रार्थना करने वाला मानसिक शान्ति रूपी बहुमूल्य मोती बिना मांगे पा जाता है ।

::::::::

(11)

अतप्ततनुर्नतदामोऽश्नुते

जीवात्मा भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है, परब्रह्म द्रष्टा है। भोग्या प्रकृति के आकर्षक चित्र-विचित्र रूपों में परब्रह्म आसक्त नहीं होता। वह स्वयं अक्षय आनन्द का भण्डार है। उसको जीवात्मा की तरह आनन्द की छायामात्र प्राकृतिक सुख में कोई आकर्षण नहीं, उसमें कोई आसक्ति नहीं। जीवात्मा किसी सीमा तक सत् भी है और चैतन्य होने से आंशिक चित् भी है। परन्तु अनादि वासना से बँधा हुआ नकेल पड़े भैंसे की तरह, आनन्द की छायामात्र काल्पनिक सुख की लालसा में प्रकृति के विषयों में आसक्त मानव जीवन जैसे दुर्लभ अवसर को खो देता है, केवल खोता ही नहीं, निरन्तर खोता चला जाता है। एक ही मनुष्य जीवन में कितना ऊँचा उठ सकता है और कितना प्रभावशाली हो सकता है इस तथ्य को वर्तमान काल के ही व्यक्ति महर्षि दयानन्द और महात्मा गाँधी के प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित कर सकते हैं। जिस मनुष्य जीवन में इतनी ऊंची संभावनाएँ छिपी हैं, उस जीवन को किस तरह उनके समकालीन पाँच अरब मनुष्य लूट के माल की तरह प्राकृतिक विषयों के क्षणिक, काल्पनिक और परिणाम में दुःखमूलक आकर्षण को भी अंधकारमय बना रहे हैं। विचारक को सोचना है इन दोनों प्रकार के जीवनों में इतना भारी अंतर क्यों है? संक्षिप्त-सा, सरल-सा और लगभग शास्त्रीय उत्तर यह है कि महापुरुष आनन्द की अथवा आध्यात्मिक तृप्ति की खोज में रहे और साधारण जन सुख की इन्द्रियों को तृप्त करने में लगे रहे। इन्द्रियों की तृप्ति सदा क्षणिक होती है और उस क्षणिक तृप्ति के बाद ही एक नई कामना खड़ी हो जाती है जोकि मन को बेचैन कर देती है, और यह बेचैनी का अनुभव ही दुःख है। जब तक नई कामना पूरी नहीं हुई तब तक दुःख है। पूरी होगई पर बेचैनी न गई, क्योंकि एक और नई कामना सामने आकर खड़ी हो गई। ये कामनाओं का निरन्तर आक्रमण एक के बाद दूसरा आकर खड़ा हो जाना क्यों होता है ? इसलिए कि जीवात्मा को जिस परम सुख या आनन्द की आशा थी उस कामना को प्राप्त कर लेने के बाद भी वह शन्ति जो मिली नहीं, तत्काल आत्मा के परम हितैषी मन ने अपने स्वप्नों के अनन्त भण्डार में से एक नई आकर्षक कल्पना **'कामना'** के रूप में लाकर खड़ी कर दी। निरन्तर घूमता हुआ यह दुश्चक्र ऐसा प्रतीत होने लगता है कि ये स्वाभाविक है, इससे बचना असंभव है, और इससे बचने का प्रयत्न करना भी मूर्खता है। ऐसी मन:स्थिति का परिणाम यही है जो कि साधारण मनुष्य के जीवन में घटित होरहा है।

एक के बाद एक कामना सामने आकर भविष्य के रंगीन चित्रविचित्र स्वप्नों को लेकर उपस्थित होती है। स्वप्नों के चरितार्थ हो जाने के बाद भी मन की अशान्ति दूर नहीं होती। आत्मा की जिस अनादि अभाव की आनन्दित होने की कामना वेसी ही बनी रहती है। धन्य होंगे वे मनुष्य जिन्होंने ऐसी मन:स्थिति में इस वाक्य का सहारा लिया - **"अतप्ततनुर्नतदामो अश्नुते"** । जिस व्यक्ति ने अपने शरीर को तपाया नहीं वह अभी प्राण नहीं हुआ, और जो व्यक्ति प्रौढ़ नहीं हुआ, अभी अपरिपक्व है, वह उस परम सुख आनद का उपभोग नहीं कर सकता। इस कथन में तीन-चार शब्द विचारणीय हें - । तनु, 2. तप, 3. आम्, 4. अश्नुते; इनमें से एक-एक के साथ परिचय लें ।

सबसे पहले **तनु** शब्द लें । तनु का अर्थ शरीर है। यह शरीर इन्द्रियों का संघात है। दसों इन्द्रियाँ बहिष्करण तथा चार अन्त:करण पाँच प्राणों के साथ मिल कर उन्नीस संख्या बनाते हैं। इनका संघात यह शरीर है। यह शरीर चेतन जीवात्मा का निवास है। कहते हैं जब तक इस शरीर को तपाओगे नहीं इसको **'आम'** (कच्चा/अपरिपक्व, जिसको मन्त्र में अपुष्ट भी कहा है) व्यक्ति तब तक वास्तविक आनन्द का उपभोग नहीं कर सकता।

दूसरा शब्द है **'तप'** । तप का साधारण अर्थ है तपाना, अग्नि आदि दाहकारक पदार्थों से संयुक्त करना। अग्नि संयोग से, धातुओं की मलिनता दूर करने की विधि अत्यन्त प्राचीन है। स्पष्ट है कि मानव शरीर धातुओं की तरह तपाया नहीं जा सकता। इस स्थल पर तप का अर्थ स्पष्ट करते हुए मनु महाराज कहते है -

"दह्यतेदह्यमानानां धातुनां हि यथा मला: ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्तेदोषा: प्राणस्य निग्रहात् ।।"

भौतिक अग्नि जिस संयोग से जिस तरह स्वर्णकार सोने के मल का निराकरण करके उसको शुद्ध कर लेता है, वैसे ही प्राण के निग्रह रूपी तप से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। रोग ग्रस्त होने पर अथवा विषयासक्त मन का साधन बन जाने पर इन्द्रियों में दोष अथवा मल उत्पन्न हो जाता है। ये मल शुद्ध रक्त को विषाक्त करके शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करता है। प्राणायाम द्वारा शुद्ध प्राणवायु ओक्षिजन भीतर जाकर रक्त को मल के साथ मिलकर प्रश्वांस द्वारा बाहर निकल जाता है। इस प्रक्रिया में अग्नि द्वारा दाह करने की प्रक्रिया के साथ सर्वथा साम्य है। दोनों में मल को दग्ध कर के रासायनिक प्रक्रिया द्वारा **'कार्बन डाईआक्साइड'** बनाकर पृथक् कर दिया जाता है। इसलिये प्राणायाम से इन्द्रियों के मल दग्ध हो जाते हैं, कहना शुद्ध विज्ञान सम्मत है।

तीसरा शब्द है **'आम'** । आयुर्वद में पाचनक्रिया के दूषित होने पर अपरिपक्व रस का नाम 'आम' है। **"व्याधीनामाश्रयोह्येष आम संज्ञेति दारुण:"** - प्राकृतिक परिपाक विधि में से न निकला हुआ कोई भी खाद्य 'आम' ही कहलाएगा । यह शरीर भी जब तक उस परिपाक विधि में से न निकला

जाए जिसका शास्त्रीय नाम **'तप'** है तब तक वह 'आम' संज्ञक ही रहेगा।

अब इस **'नम्'** की व्याख्या रह गई है। कर्मेन्द्रियां ज्ञानेन्द्रियां अन्त:करण इन तीनों का संघात 'तनु' शरीर है। कर्मेन्द्रियों का प्रतिनिधि स्थूल शरीर है। उसकी तपस्या के दो मुख्य साधन हैं- ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा। ब्रह्मचर्य का अर्थ है कि आवश्यकता से अधिक शक्ति (वीर्य का व्यय न करना)। दूसरा तप है 'अहिंसा'। हिंसा का अर्थ है आक्रमण शोषण। शरीर के अवयव उतना ही आहार लें जितना कि शरीर को आवश्यक है। इस समय-समय पर बदलने वाली आवश्यकता को वही ठीक प्रकार जान सकता हे जो अभ्यासवश कोई भी कर्म न करता हो। छोटी-से-छोटी क्रिया को भी सावधानी के साथ करता है; यहां तक कि नाक पर बेठी मक्खी को उड़ाने का काम भी अभ्यासवश नहीं, होश के साथ हो। यह अभ्यास सांसारिकता में तो बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है, परन्तु चेतना को सुला देना इस अभ्यास का ही परिणाम है। इस अभ्यास की पकड़ को दूर करना बड़ा कठोर काम हे। इसी का नाम तप है।

दूसरा तप है वाणी का। सब ही ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संग्रहीत ज्ञान को प्रकाशित करना वाणी का काम है। वाणी चाहे उस ज्ञान को सत्य में अथवा असत्य में लोकोपकार के लिए या छलकपट से स्वार्थ सिद्धि के लिए अहंकार के वशीभूत होकर, वाणी को नियन्त्रित करके, हितकारी, स्पष्ट ओर कोमल शब्दों में उसको प्रयुक्त करना वाणी का तप है। इसी प्रकार मन का भी अपना क्षेत्र और अपना ही तप है। सफलता, विफलता, हर्ष, शोक आदि द्वन्द्वों में रमण करना, भूतकाल की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओं में, जोकि सर्वथा अवास्तविक है, उलझने में व्यस्त रहना आदि अनावश्यक और पतनोन्मुख कार्यों से उसको विरत करना यह मानसिक तप है। तीनों प्रकार के तप, साधारण सांसारिकता से सर्वथा विपरीत होने में कष्टसाध्य हैं। इसीलिए इनका नाम तप है। इन तीन प्रकार के तपों को करने से जीवात्मा के निवास इस शरीर को इस योग्य बनाया जा सकता हे कि वह प्रौढ़ अथवा पुष्ट कहा जा सकता है। ओर यही प्रौढ़ शरीर उस परम सुख आनन्द को भोगने की योग्यता रखताा है जिस परम सुख को प्राप्त करने के लिए अनन्त प्रकार के तपों से स्थूल शरीर व्याधिमुक्त, समर्थ और शक्तिसम्पन्न होगा। सारे अन्त.करण ब्रह्मचर्य साधना के द्वारा अपने-अपने क्षेत्र में, कार्यक्षम होने से धारण-ध्यान आदि में बड़े सहायक होंगे। जब मन वाणी ओर शरीर तप के द्वारा पवित्र और शक्ति सम्पन्न होंगे तभी जीवात्मा, बन्धनमुक्त, पवित्र और शुद्ध कहलाने का अधिकारी होगा। ऐसा मलावरणों से रहित अपनी इन्द्रियों, शक्तियों का स्वामी जीवात्मा **'तत् अश्नुते'** उस परम सुख आनन्द का उपभोग कर सकता है। **'अश् भोजने'** धातु से 'अश्नुते' शब्द सिद्ध होता है। अजीर्ण, व्याधिग्रस्त व्यक्ति यदि शुद्ध गोघृत का भी आहार करे उसको 'अश्नुते' नहीं कहेंगे। तपों से तप्त 'शरीर मन्दिर' का मालिक जीवात्मा जब प्राकृतिक सकाम कार्मो से विरक्त हो।

''''''''''

(12)

उत्तिष्ठत जाग्रत

रात्रि का समय था, कृष्ण पक्ष रहा होगा, एक युवक ने दरवाज़े पर दस्तक दी- 'जल्दी खोला' । दरवाजा खोल कर देखा, एक युवक खड़ा था, थर-थर काँप रहा था, मुझे धकेल कर भीतर आगया। पूछने पर बोला - 'मुझे डर लगता है; मैं अंधकार से बहुत डरता हूँ। अभी मार्ग की प्रकाशित करने वाली बिजली बुझ गई, अंधेरा होगया । साइकिल, पत्थर, चोर, उग्रवादी न मालूम किससे टक्कर हो जाय, थोड़ी देर बाद जब प्रकाश हो जाएगा, मैं चला जाऊँगा । आपके घर में लैम्प का प्रकाश देख कर आगया हूँ ।"

मैं कुछ देर पहले मित्रों से उपनिषद् में आए वाक्य - **'उत्तिष्ठत जाग्रत"** पर कुछ चर्चा कर रहा था, उसी विचारधारा में बहते हुए मैंने कहा - सड़कों पर प्रकाशित करने वाली बिजली तो मनुष्य की कृति है, पूर्व दिशा में होने वाला सूर्य भी दस-बारह घण्टे के बाद अरुण हो जाता है और सारे जगत् को अंधेरे की चादर में लपेट देता है। बाहर के सब ही प्रकार के प्रकाश किसी एक केन्द्र से विकीर्ण होते और उस केन्द्र के बुझने पर अस्त होने या नष्ट होने पर समाप्त हो जाते हैं। इन भौतिक केन्द्रों पर विश्वास करके जीवनयात्रा में अपने मार्ग को खोजने वालों की यही दशा होती है जैसे इस समय आपकी है। भौतिक संसार में विचरण करने वाले सभी मनुष्यों को भौतिक नश्वर प्रकाशों का सहारा लेना ही पड़ता है और जब तक यह क्रम चालू रहता है तब तक उनको आपकी तरह भयभीत भी होना ही पड़ता है। सब भौतिक प्रकाश अपने उद्गम केन्द्र पर आधारित होते हैं। केन्द्र स्वयं भौतिक होने से नश्वर और परिवर्तनशील है। उसके साथ प्रकाश की भी वही दशा हो जाती है। प्रकाश तो आता और जाता है, उसका स्थान लेने वाला अंधकार सर्वदा सेवा करने को उद्यत रहता है। उसको अपनी सत्ता के लिए किसी केन्द्र पर निर्भर रहना नहीं पड़ता। इसलिए भौतिक जगत् में विचरण करने वाले को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। स्वयं अंधकार में होने से वह प्रकाश की तलाश मे रहता है और बाहर का प्रकाश उसको निरन्तर परेशानी में रखता है। कभी आता, कभी जाता है, यदि उसका सहारा न ढूंढें तो जावें कहाँ ? अंधकार तो डरावना मुँह बाये हर समय डराने को तैयार रहता है। मैंने कहा जब तक आप अभय के लिए भौतिक प्रकाश पर अवलम्बित रहेंगे आपको केवल क्षणिक

समय की ही प्राप्ति हो सकेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। युवक के बाह्य प्रकाश के सम्बन्ध में निष्कर्ष स्वतः सिद्ध है और बाहर के प्रकाश पर अवलम्बित व्यक्ति कभी निर्भय नहीं हो सकता। जब तक मार्गदर्शन के लिए व्यक्ति किसी भी प्रकाश केन्द्र पर अवलम्ब लेकर जीवनयात्रा को सफल बनाने की चेष्टा करेगा असफल ही रहेगा। **"प्लवाहेप्ते अदृढ़ा यज्ञरूपाः"** का भी यही अभिप्राय है कि केवल कर्मकाण्ड आदि पर पूर्ण विश्वास रखने वाले इन्हीं को भवसागर से पार उतारने के साधन समझने वाले अज्ञानी हैं। ये शुभ कर्म हैं। परन्तु साधक यह समझ कर इनका अनुष्ठान करें कि ये सब कागज की नाव हैं।

वास्तविक प्रकाश जिसको किसी भौतिक केन्द्र की आवश्यकता नहीं, प्रत्येक व्यक्ति के भीतर विद्यमान है, वह या तो आवरण से ढ़का है या साधक को उसकी सत्ता का बोध नहीं। इसी स्थिति में पड़े साधक को सावधान करता हुआ ऋषि का उद्‌बोधन वाक्य है - **"उत्तिष्ठत जाग्रत"।** साधक! प्रकाश केन्द्र तेरे भीतर है, तू प्रकाश को बाहर टटोल रहा है। गाढ़ निद्रा का परित्याग कर आँखे मल कर उठ और जाग कर देख कि तेरे ही अन्दर कभी न बुझने वाला प्रकाश तुझे कब से बुला रहा है और तू कम्बल ओढ़ कर मुँह ढक कर केवल आलस्य और प्रमाद का शिकार बन कर स्वयं ही अंधकार को नियन्त्रित करके भयभीत अवस्था में पड़ा है। भय का स्वरूप उसका कारण समझने का प्रयत्न होना चाहिए। भय के स्वरूप और कारण को जान लेने के बाद साधक समझ जाएगा कि भय भी अंधकार का रूप है। जैसे अंधकार अभावात्मक है वैसे भय भी केवल कल्पना मात्र है। अभावात्मक अंधकार से काल्पनिक भय की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। लोहे से बना चाकू सोने का नहीं हो सकता। अंधकार केवल प्रकाश के अभाव का नाम है। इसलिए अंधकार से भीत व्यक्ति प्रकाश के होते ही निर्भय हो जाता है। परन्तु, अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी को देख कर कल्पित साँप का भय उत्पन्न हुआ था, टार्च का प्रकाश पड़ते ही अंधकार के साथ सांप का कल्पित भय भी जाता रहा । प्रकाश में सांप को देख कर सावधान व्यक्ति जोकि आँख खोल कर चल रहा है, भयभीत होकर किसी का आश्रय मांगने के स्थान पर या तो उस सांप को मार देगा या उससे बचकर अपने रास्ते पर आगे चला जाएगा। यह सारी विवेचना तो भौतिक प्रकाश और उसके अभाव अंधकार से उत्पन्न प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में होई, ठीक सही स्थिति अध्यात्म पक्ष में भी होती हैं। साधक जब तक जागा हुआ नहीं संसार के प्राणी मात्र से भयभीत होकर अपनी रक्षा के लिए ईंट-पत्थर की दीवारें, खाने-पीने के सामान रुपया-पैसा, सोना-चांदी के ढ़ेरों के बीच में बैठ कर भी अपने को असुरक्षित समझता है। बीमारियों से डर कर डाक्टरों के पास सामाजिक बन्धनों से डर कर वकीलों के पास भटकता फिरता है। केवल एक कल्पित भय के कारण जो कि अज्ञानान्धकार से उत्पन्न होता है। आज तो हूँ, कल का पता नहीं, मृत्यु का कुछ पता नही यह किधर से आक्रमण कर दे। भूख से बचने के लिए अनाज के बोरे, बीमारी से बचने

के लिए दवाईयों के केप्सूल, उग्रवादियों से बचने के लिए पिस्तौल-बन्दूक, कायदे-कानून से बचने के लिए वकील, समय पर काम आने के लिए बैंक में जमा राशि, सारे जीवन में इन्हीं रक्षा साधनों पर अपनी सारी शक्ति, सारा समय, सारी योग्यता को अर्पित किया, पर जिस कल्पित भय से बचने के लिए ये सब उपाय किए थे वह कल्पित भय वास्तविक निकला और वह कल्पित नहीं यथार्थ था, भय नहीं था, जीवनधारा का एक अविभाज्य अंग था। आया और अपने स्वरूप को प्रकट करने से पहले, अपना काम पूरा करके विदा हो गया।

आज तक किसी व्यक्ति ने मृत्यु का स्वरूप नहीं देखा। यदि उसको स्वरूप से परिचय होता तो भय का कोई कारण ही नहीं होता, परिचित से कहीं भय होता है? उसका तो स्वागत सत्कार होता है। मृत्यु जरा जीर्ण व्याधिग्रस्त निर्वीर्य शरीर को लेकर शिशु का सुन्दर भोला आकर्षक नया शरीर होता है, कभी भय का कारण हो सकता है?

भय स्वयं एक कल्पना है और वह अपरिचित सत्ता से ही उत्पन्न हो सकता है। ऋषि उद्‌घोष करता है - **"साधक ! जाग और जागने के बाद समझदार लोगों के पास जाकर कल्पित नहीं यथार्थ ज्ञान को उपलब्ध कर"** । इस उद्‌घोष का मतलब है कि साधक सोया हुआ है। खुली आँखों वाला साधक अपने को सोया हुआ स्वीकार करने में हिचकिचाता है। उसको अभी ऋषि की दृष्टि में सोने और जागने में क्या अन्तर, इसका ज्ञान नहीं। जागते व्यक्ति की ग्यारहों इन्द्रियों को अपना-अपना काम करना चाहिए। चाहिए इसलिए कहा कि अशक्ति अथवा आलस्य के कारण साधक एक या एक से अधिक इन्द्रियों से काम नहीं ले सकता है। जैसे अंधा आँख से काम नहीं ले सकता, ऐसा भी हो सकता है कि आँखों वाला सूर्योदय के दो घंटों बाद भी सोया रहता है। निद्रा की स्थिति में बाहर के स्वस्थ उपकरण भी शान्त हो जाते हैं परन्तु अन्तःकरण चतुष्टय में से अहंकार चिन्त और मन तो काम करते हैं केवल बुद्धि काम नहीं करती । निद्राकाल में जो स्वप्न आता है उसमें अनुभव होता है। स्मृति कोष में से चिन्त एक के बाद एक संस्कार निकाल-निकाल कर मन रूपी बालक का मनोविनोद करता है। मन की चंचलता जाग्रत की अपेक्षा निद्राकाल में कुछ बढ़ जाती है। केवल बुद्धि अपना काम नहीं करती। यदि बुद्धि स्वप्नावस्था में काम करने लगे तो स्वप्न तत्काल टूट जाय। स्वप्नावस्था में बुद्धि काम नहीं करती इसलिए आपके साथ चलता हुआ मित्र क्षणभर में घोड़ा बन जाता है और आप उछल कर उस पर सवार हो जाते हैं। बुद्धि यदि काम करती तो मित्र के घोड़ा बन जाने के स्वप्न को स्वीकार नहीं करती। यह अस्वीकृति स्वप्न को जागरण में रूपान्तरित कर देती है। निद्रा और जागरण में इतना ही अन्तर है कि स्वप्नावस्था में बुद्धि काम नहीं करती और इस घटना को विपरीत करदें तो कह

सकते हैं कि जब बुद्धि काम नहीं करती उस अवस्था को निद्रा कहते हैं और कान खोल कर भी संसार की दृष्टि में जागता हुआ भी व्यक्ति यदि बुद्धि से काम नहीं लेता उचित अनुचित का विवेक न करके काम करता है, ऋषि उसको सोया हुआ मानते हैं । ऐसे सोये हुए व्यक्ति को जगाने के लिए **'उत्तिष्ठत जाग्रत'** का उद्घोष है। ऋषि की यह पुकार उस शाश्वत अंधकार से डरे हुए युवक को केरोसीन की लालटेन जगाने का उपदेश नहीं दे रही - उससे भी अधिक निकटस्थ अनश्वर आत्मीय प्रकाश के सम्बन्ध में सूचना दे रही है। उसका मतलब बाह्य प्रकाश से केवल केरोसीन, बिजली और मशालों के प्रकाश तक सीमित नहीं। वह तो गुरु, आचार्य, महन्त, मठाधीश, योगाचार्यों तक पर अंधविश्वास करके जीवन को नष्ट करने वाले साधकों को सचेत करने से है। इनके ही मार्गदर्शन पर अंधविश्वास करके चलने वाले भोलेभाले आलसी व्यक्तियों को यह भी स्मरण नहीं रहा कि बुद्धि नाम का एक उपकरण उनके पास है जिसको कभी भीतर की जेब में संभाल कर रख दिया था और रख कर भूल चुके हैं कि प्रकृति माता ने जीवनयात्रा को निष्कण्टक बनाने के लिए पाथेय के रूप में बड़े प्रेम से प्रदान किया था उसको साधक काम में लाने लग जाय तो शाश्वत और कभी न बुझने वाली आत्मज्योति के ऊपर पड़े हुए सब आवरण, विचार, मन्तव्य, सिद्धान्त, विश्वास आदि छिन्न-छिन्न हो जायं और साधक को अपनी जीवनयात्रा का मार्ग स्पष्ट दिखाई देता रहे। इस ही मार्ग दर्शन के लिए ऋषि ने कहा -

'उत्तिष्ठत जाग्रत'

'उठो और जागो सोने वालो।

....

(13)

दीक्षा

क्या अर्थ है दीक्षा का? दीक्षा शब्द के दो भाग हैं - पहला है **'द'** और दूसरा है **'ईक्षा'** ।

एक प्राचीन कथानक के अनुसार **'द'** का उपदेश सुनकर भिन्न-भिन्न मन:स्थिति वाले साधकों ने अपने-अपने मतलब के अनुसार अर्थ लिये हैं । देवों ने अर्थ लिया था **'दमन'**, मनुष्यों ने **'दान'** और राक्षसों ने **'दया'** ।

हम अपने प्रकरण में **'द'** से सर्वोच्च अर्थ **'देना'** ही लेते हैं । **'ईक्षा'** का अर्थ है **'दृष्टि'**। **दीक्षा का अर्थ** होगया **'दी गई दृष्टि'**। दीक्षा लेने वाला अपनी दृष्टि को निर्बल अथवा दूषित समझ कर नए मार्ग पर चलने के लिए किसी दूसरे से मार्गदर्शन की अपेक्षा करता है - तब कहते हैं कि साधक 'दीक्षा' लेना चाहता है। दीक्षित होने के लिए साधक की यह मन:स्थिति कि उसको मार्गदर्शन की आवश्यकता है, वह अपने को सिद्ध नहीं मानता। सिद्ध होने का जो मार्ग उसके व्यक्तित्व के अनुकूल हो उसको जानकर, उस पर चलने की, उसकी उत्कण्ठा है। अपनी इस कमजोरी को एकान्त में किसी एक व्यक्ति के सामने नहीं यज्ञशाला में उपस्थित, आयु में अपने से छोटे-बड़े सबके सामने अपनी निर्बलता को स्वीकार करता है। इस उदान्त मन:स्थिति के साथ जो साधक दीक्षित होने के लिए दीक्षा गुरु के पास जाता है, उसकी भूमिका दृढ़ है। इस दृढ़ भूमिका के ऊपर जिस भवन का निर्माण होगा, उसमें उन्नति की पूरी संभावना है। अपनी निर्बलता का, अपने अज्ञान का जिस साधक को ज्ञान न हो, जो साधक अपने को सिद्ध और ज्ञानी समझता हो, वह किसी दूसरे से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। जो घड़ा पहले से ही भरा हो उसमें अतिरिक्त जल नहीं डाला जा सकता। दीक्षित होने की इच्छा रखने वाले साधक की सबसे पहली सीढ़ी यह है कि वह अपने भीतर कमी के अज्ञान को अनुभव करे।

एक अपच का रोगी एक अनुभवी चिकित्सक के पास जाकर बोला - मुझे यह कष्ट है ...., इसकी दवा देने की कृपा करें.....। डाक्टर ने कहा ... दवा तो मैं दे दूंगा, परन्तु जब तक आप अपने भोजन की व्यवस्था ठीक न करलें ..... बीच में ही बात काट कर रोगी महाशय कलाई पर बंधी रिस्टवाच की तरफ देख कर बोले, डाक्टर साहब, इन फिजूल बातों में आप मेरा कीमती समय नष्ट न करें, में सब जानता हूं। पालक का साग, मूँग की दाल, मौसमी, यही सब तो बताएंगे, यह मैं जानता हूं। आप दवा दीजिए, अपनी फीस लीजिए । साधक की भी यही मनोदशा है। पीला 'पटका' गले में डाल कर दीक्षितों की श्रेणी में अपना नाम लिखवा कर स्थाई सदस्य बनने और वोट का अधिकार प्राप्त करने की दीक्षा को एक साधन बनाया है तो इस अभिनय से, न तो साधक का कल्याण होगा और न आश्रम की शोभा बढ़ेगी।

साधक जब दीक्षा लेता है, तब उसके भीतर अपनी जीवनधारा के प्रवाह को एक निश्चित मोड़ देना चाहिए। गत चालीस वर्ष से जो जीवनधारा बनी हुई है उसके संस्कार इतने प्रचण्ड हैं कि उनको बदलना आसान नहीं। वर्तमान सांसारिक व्यवहारों को करने के अभ्यस्त बहिर्मुखी साधक को तत्काल ध्यान करने के लिए आदेश देना सर्वथा मनोविज्ञान के विपरीत है। बहिर्मुखी साधक एक बड़ा अच्छा कर्मकाण्डी बन सकता है, भक्ति के भजन गा सकता है, आर्याभिविनय के मन्त्रों का पाठ करके प्रार्थना कर सकता है, परन्तु **'ध्यान'** उसके बस का नहीं।

'ध्यान' का लक्षण **'निर्विषय मन'** है। यह निर्विषयता बहिरंग को प्राप्त नहीं हो सकती। उसको तो अपने मन को उलझाने के लिए कोई न कोई विषय चाहिए। बहिरंग वृत्ति वाला साधक अपने मन को शिवसंकल्प वाला बनाने के लिए अध्यात्मशास्त्रों का स्वाध्याय, अग्निहोत्र, स्तोत्रपाठ, कीर्तन आदि साधनों का सहारा लेता है। ये सब सहारे मन को उलझाये रखने के लिए साधन रूप हैं। यदि मन को इनमें न उलझाया जाय तो पुराने संस्कार प्रबल होकर सांसारिक रागद्वेष, छलकपट, ईर्ष्याद्विष महत्त्वाकांक्षा आदि में एकबार फिर लिप्त होजाय । बहिर्मुख साधक कर्मकाण्ड में अधिक रुचि रखता है। उसकी इस रुचि को लोकापकारी कार्यों में रूपान्तरित किया जा सकता है। एक साधक उत्तम कोटि का गायक है। वह सिनेमा के श्रृंगार रस के गीतों को छोड़ कर कबीर और मीरा के पद गाने लगे। एक साधक अच्छा वक्ता है, वह विपक्ष को अपशब्द करने के स्थान पर ऐतिहासिक रोचक प्रेरणाप्रद प्रवचन देने लगे, एक साधक जो कि कार्तिक स्नान के पाप प्रक्षालन में विश्वास रखता था, अब उसी विश्वास के साथ अग्निहोत्र करने लगे, साधक जो कि अपना खाली समय निन्दास्तुति, गपबाजी में बिताता था अब उपनिषदों के आख्यानों को सुनने का अभ्यासी बने इत्यादि परिवर्तन से साधक की अभ्यस्त जीवनधारा को धीरे-धीरे मोड़ दिया जा सकता है। जीवनधारा में यह मोड़ दीक्षागुरू और साधक दोनों के सत्प्रयत्नों पर निर्भर करता है।

दीक्षागुरू आदि यज्ञशाला में किये गए संस्कार तक ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझना है तो साधक का उससे कोई कल्याण नहीं हो सकता। साधक तो पूर्ण विश्वास के साथ दीक्षागुरु को अपना मार्गदर्शक बना कर इस आशा के साथ चलता है कि भविष्य में जब भी कभी स्खलन होगा तभी उसको अपने दीक्षागुरु से सहायता मिलती रहेगी। जब किसी विषय में उसका मन संदिग्ध होगा, बुद्धि काम नहीं देगी, दीक्षागुरु उसका मार्गदर्शक बनेगा । दूसरी तरफ यदि दीक्षागुरु तो अपने कर्तव्यपालन मे पूर्णरूपेण सतर्क है परन्तु दीक्षित साधक साधना से भिन्न किसी दूसरे उद्देश्य से दीक्षित होने का अभिनय कर रहा था, साधना में अर्थात् मन को निर्विषय करने पर उसको दिलचस्पी नहीं, उसका मन सांसारिक जीवन में जिस राग-द्वेष से पीड़ित था आज भी वही राग-द्वेष उसका साथ नहीं छोड़ रहे, केवल राग-द्वेष के अवलम्ब विष बदल गए हैं और चौमंजिले से छहमंजिले के लिए तड़प थी तो आश्रम में इस कुटी से उस कुटी में जाने की कोशिश है। संसार में सरपंची से मिनीस्टरी की दौड़ थी, आश्रम में अंतरंग सदस्यता से मंत्री और प्रधान बनने की लालसा है तो आश्रमवास उसकी साधना में सहायक न होगा। आश्रमवासी सार्थकता तो तभी होगी जब साधक गृहस्थ आश्रम में जिसकी कि उसने स्वेच्छा से पच्चीस से पचास वर्ष का बना लिया था, विषयों के साथ पूर्ण परिचय प्राप्त करने के बाद सत्संगों में आकर सद्गुरुओं के सद्उपदेश सुनने के बाद निश्चय कर लिया हो कि अशान्ति के मूल यहाँ सांसारिक विषय हैं। इनसे मुक्ति पाए बिना ऋषि मुनियों की बतलाई मुक्ति को प्राप्त करना संभव नहीं। ऐसा संकल्प दृढ़ होने के बाद जो साधक दीक्षा गुरु से दीक्षा लेकर दीक्षित होगा, बाह्य चिह्नों के अभाव में भी उसको समय-समय पर दीक्षागुरु से मार्गदर्शन प्राप्त होता रहेगा। मार्गदर्शन में विशेषता केवल राग-द्वेष से बचाव करने वाले साधनों और परिस्थितियों का निर्माण है। यह निर्माण केवल साधक की तीव्र अभिलाषा पर निर्भर करता है। दीक्षागुरु का काम केवल मार्गदर्शन है। उस मार्ग पर चलना साधक का अपना काम है। यदि साधक दीक्षागुरु के कंधों पर सवार होकर सुखपूर्वक यात्रा करना चाहता है तो उसको यह स्मरण करना चाहिए कि अध्यात्म मार्ग की यात्रा साधक को अकेले ही करनी है। अध्यात्म मार्ग इतना संकीर्ण है कि अकेले साधक को अपने सिर पर रखी गठरी को उतार फेंकना होगा। गुरु के कंधों पर सवार होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं।

....

(14)

नामरूपं विहाय

मुण्डक उपनिषद् का यह वाक्यांश वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने के इच्छुकों के लिए कहा गया है। सांसारिकता की दृष्टि से ब्रह्मचर्य्याश्रम केवल तय्यारी का है । इसमें उसको न अपने पेट को भरने की चिंता है, न बाल-बच्चों के पोषण की । सब चिन्ताओं से मुक्त केवल शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक उन्नति अर्थात् संसार के सभी विषयों के साथ शाब्दिक परिचय - केवल शाब्दिक परिचय।

शाब्दिक परिचय से अधिक तो, जब वह जीवनधारा के क्षुब्ध प्रवाह में बहने लगेगा तब ही उसको उन विषयों के साथ प्रगाढ़ परिचय प्राप्त करने का सुअवसर मिलेगा। प्राकृतिक नियमों के अनुसार प्रत्येक प्राणी शैशव से बाल्य और बाल्य से यौवन अवस्था में प्रवेश करता है। जिसने बाल्यावस्था में शरीर और मन की सम्पन्तियों का अर्जन कर लिया है वह यौवन आने पर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता हे और ब्रह्मचर्य काल में सीखे गए शाब्दिक ज्ञान के क्रियात्मक प्रयोग से पूर्ण परिचय प्राप्त करता है। पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए साधनों का संग्रह करता है। संग्रह के साथ ममता उत्पन्न हो जाती है। एक दीर्घ काल तक इस ममता का विस्तार हो जाता है। उपनिषत्कार के मत में यह ममता व्यक्ति के नाम और रूप के साथ सबसे अधिक प्रगाढ़ हो जाती है।

नाम और रूप के साथ ममता का क्या सम्बन्ध है? इस बात को विस्तार से समझ लेने की आवश्कता है। तब ही उपनिषद् के वाक्य में ऋषि द्वारा कथित वाक्य का यथार्थ मर्म समझ में आएगा । संसार की रचना में पहला पदार्थ महत् तत्त्व है। सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि की रचना इस महत् तत्त्व से ही प्राप्त होती है। सृष्टि जड़ है, भोग्या है। इसको भोगने वाला जीन्ह जीवात्मा एक नहीं अनेक है, सब की कामनाओं में भेद है। इस भेद के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा को व्यक्तित्व देना आवश्यक था। अहंकार की आवश्यकता प्रतीत हुई। व्यक्ति के निर्माण के लिए रचना में महत् तत्त्व से सर्वप्रथम अहंकार की रचना करके आत्मा को जीवात्मा का रूप दिया गया। जन्म लेने के बाद व्यक्तित्व के कारण जीवात्मा शेष रचना से अपने को पृथक् अकेला देख कर भयभीत होता हे और अवलम्ब ढूंढ़ता है। माता-पिता, भाई-सम्बन्धी, परिजन-पड़ौसी आदि के साथ सम्बन्ध बढ़ता जाता है। और अपने व्यक्तित्व की कमजोरी को दूर करने का प्रयत्न करता हुआ व्यक्तित्व

को इसलिए नहीं छोड़ना चाहता कि इस व्यक्तित्व के बिना सूक्ष्म शरीर में संचित कामनाओं का उपभोग संभव नहीं।

इस मर्त्यलोक में जीवात्मा का आगमन ही कामना पूर्ति के लिए हुआ है। इस नश्वर व्यक्तित्व को पुष्ट करने के लिए सब ही सांसारिक अवलम्बों के दो रक्षाग्रह हैं। एक का नाम है **'नाम'**, दूसरे का **'रूप'** । बाह्य अवलम्बों का सम्बन्ध है 'नाम' के साथ, और व्यक्तित्व का सीधा सम्बन्ध है 'रूप' के साथ। शिशु का ग्यारहवें दिन नामकरण संस्कार करने का यही रहस्य है कि वह अभी तक केवल माता को अपना सर्वस्व समझता है। माता को अपना सर्वस्व ही नहीं केवल उसी की सत्ता को यथार्थ मानता है। माता के सिवाय वह अपने को भी नहीं पहचानता । परन्तु अपने को पहचानना तो व्यक्तित्व की स्थापना के लिए आवश्यक है। इस व्यक्तित्व के बिना उसके सूक्ष्म शरीर में संगृहीत कामनाओं का उपभोग वह कैसे करेगा। माता उसके **'मैं'** को 'व्यक्तित्व' को जगाने के लिए उसका नामकरण कर देती है। वैदिक धर्मी पुरोहित यज्ञाग्नि-साक्षिक नामकरण करे या न करे, माता तो उसका नाम निक्कू, बब्बू, पप्पू कुछ भी रख कर बारम्बार उसी नाम से उसको पुकार कर उसके व्यक्तित्व को पुष्ट करती है। शिशु अब भी अपने से भिन्न 'पर' में 'तू' में आसक्त है। माता के बाद पिता को, भाई बहिन को, चाचा को पहचानता है, परन्तु अपने को अभी तक नहीं पहचानता। अपने शरीर को भी पराया समझता है। मुझे भूख लगी है के स्थान पर निक्कू को भूख लगी है, ऐसा कहता है। परन्तु सारा समाज उसका नाम लेकर उसको बार-बार याद दिलाता है कि तेरा अमुक नाम है। तेरा अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। सारा ब्रह्माण्ड एक तरफ है और तू अपने व्यक्तित्व के साथ दूसरी तरफ है।

यह शिक्षा प्रगाढ़ होती जाती है और बालक का 'मैं' कठोर होता जाता है। तेरह-चौदह वर्ष की आयु में यह व्यक्तित्व पुष्ट हो जाता है। बालक समाज के सामने अपने व्यक्तित्व की सत्ता को उभारने का प्रयत्न करने लगता है। माता-पिता के आज्ञा मानने से इंकार करता है। घर के अन्दर एक प्रश्नचिह्न बन जाता है। यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल रही तो वह बालक यौवन आने तक समाजद्रोही बन जाता है। केवल अपने व्यक्तित्व की श्रेष्ठता दिखलाने के लिए अपने समान विचार वालों का गिरोह बनाता है। शिष्ट समाज जिन-जिन बातों को त्याज्य समझता है, उन्हीं को कर-कर के दिखलाता है। जुआ, शराब, चोरी, डाका डालने वाले सभी युवक इसी श्रेणी के होते हैं। गृहस्थी बनने से पहले शिक्षणालयों से डिग्रियाँ भी इस ही व्यक्तित्व को पुष्ट करने के लिए जमा कीं, बाद में पद, सन्मान, यश, धन, जमीन, हवेली, सब इस ही व्यक्तित्व को पुष्ट करने के लिए संग्रह करता है ।

"यह सारा संग्रह न तो उसके स्थूल शरीर के साथ सम्बद्ध है और न शरीर के स्वामी जीवात्मा के साथ।"

इस सारे संग्रह का स्वामी होता है उस व्यक्ति का 'नाम' । शिक्षणालयों से ली गईं डिग्रियाँ, जवानी में कमाया सारा धन, बड़े प्रयत्न से बनाई गई हवेली - सब जगह उस व्यक्तित्व का नाम है। भला या बुरा सारा संग्रह उसके नाम के साथ है। खूनी या डकैत है तो पुलिस में उसका नाम व्याख्यात है तो अखबारों में उसका नाम है। मिनिस्टर हो या राष्ट्रपति, उससे सम्बन्ध रखने वाले सब समाचार उसके नाम के साथ है। जीवात्मा ने अपने व्यक्तितत्व को पुष्ट करने के लिए जितनी कमाई की थी वह सब उसके नाम के साथ है। गृहस्थ आश्रम का शास्त्रीय विस्तार साठ वर्ष तक भी मान लिया जाय तो भी आज के युग में कितने साधक हैं जो इस व्यवस्था के अनुसार सांसारिकता को परित्याग करने को उद्यत हैं। सत्तर और बस चले तो अस्सी तक दुकानदारी, डाक्टरी, वकालत आदि व्यवस्था चला कर अपने नाम को पुष्ट करते चले जाते हैं। यह है नाम की महिमा ।

ऋषि कहते हैं कि व्यक्तित्व को पुष्ट करना, संसार में नाम कमाना और अतृप्त कामनाओं की पूर्ति - तीनों एक ही बात है। यदि इस मनुष्य जीवन की पूर्णाहुति इस कामना पूर्ति के यज्ञ में की जाती है तो व्यक्ति मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य को तो प्राप्त कभी न कर सकेगा। बारम्बार इसी जन्म-मरण के चक्र में फंसा रहेगा। जन्म-मरण के चक्कर से निकलने के लिए पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए गृहस्थ आश्रम में संगृहीत सब ही प्रकार की मिलकियत को पूर्ण रूपेण तिलांजलि देनी आवश्यक है। इस सारे जीवनभर की कमाई का स्वामी न तो इन्द्रियां हैं, न इन्द्रियों का अधिष्ठान स्थूल शरीर है और न अन्तःकरण है। जीवात्मा को स्वयं उसके उपकरण, उसको नहीं पहचानते। जीवात्मा मोह-ममतावश इसी स्थूल शरीर को मालिक मानता है और इस स्थूल शरीर को पहचानने के लिए समाज ने 'नाम' रख दिया है।

पुरानी जमा की गई भौतिक और मानसिक सम्पन्ति का एकमात्र स्वामी उस व्यक्तित्व का नाम है। वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश के लिए उस नाम को अन्तिम विदा देना ऋषि ने आवश्यक शर्त रखी है। यदि मोहवश साधक उस महामहिम 'नाम' को नहीं छोड़ सकता तो निश्चय जानो जीवनभर की सारी कमाई आश्रम परिवर्तन के बाद भी आपके साथ है। वानप्रस्थी की साधना मुख्यरूप से अंतरंग है।

आपने दुकानदारी छोड़ दी, वकालत छोड़ दी परन्तु आपके नाम के साथ लगी स्मृतियाँ आपका साथ नहीं छोड़ती। जब कभी आप आंख बंद करके निर्विचार समाधि में बैठने का यत्न करते हैं आपके पुराने मुवक्किल आपके सामने आकर खड़े हो जाते हैं । आपका नाम पुकार कर दरवाजे पर दस्तक देते हैं। आपको वही पुरानी स्मृतियाँ घेर लेती हैं, कौन-कौन से दाँव-पेंच उस समय बतलाए थे, मुकदमा जीतने के लिए यह सब नाम की ही महिमा है। नाम बदलने का यह प्रभाव होगा कि उस पुराने नाम के साथ आई स्मृति को साधक दूर कर सकेगा, कम कर सकेगा।

नया नाम उसको सावधान कर देगा कि अब वह वकील साहब नहीं रहे, अब वह आश्रम के एक साधक हैं। अब गृहस्थ आश्रम की उछलकूद चली गई। छलकपट, दांवपेंच, आन-अपमान, हर्ष-शोक इन सबको विदा करने का समय है। अब उस अहंकार को विसर्जित करना है जिसका केन्द्रबिन्दु मेरा पुराना नाम था। अब लोग मुझे मुनि कहने लगे हैं। मुनि का तात्पर्य यह है कि मन को अशान्त करने वाले सभी बहिरंग और अंतरंग प्रपञ्चों का परित्याग करना है।

इस नाम के परित्याग के साथ मुझे अपने **'रूप'** का भी परित्याग करना आवश्यक होगा। जिससे कि पुराने परिचित लोग दूर से देख कर समझ सकें कि अब यह गृहस्थ नहीं साधक बन गया है। अब यह शतरंज और ताश में समय नष्ट करने के स्थान पर स्वाध्याय और सत्संग पर सारा ध्यान देता है।

नाम की तरह नया रूप धारण करने का सबसे सुगम मार्ग, जिसमें न समय नष्ट हो, न पैसा खर्च हो, कह दिया। **'जटाश्चविभ्रियान्नित्यम्"** - दाढ़ी-मूँछ मुंडना बन्द कर दें। कीमती फैशन वाले वस्त्र पहनना छोड़ दें। बाह्य रूप में परिवर्तन आ जाएगा । यह परिवर्तन केवल पुराने मित्रों को धोखा देने के लिए नहीं, अपने शुद्ध स्वरूप की तरफ आगे बढ़ने का पहला पग है। अध्यात्म मे प्रवेश के लिए साधक को अपने नाम और रूप का परित्याग करना आवश्यक है। इस तथ्य को आलंकारिक भाषा में मुण्डक उपनिषद् में इस प्रकार वर्णन किया है -

"यथा नद्यः स्पन्दमानास्समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपं विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यम्।।"

अर्थात् जिस तरह जड़नदियां स्वभावतः प्रवाहित होती हुई अपने उद्गम मूलस्थान समुद्र में एकाकार होने से पहले अपने नाम और रूप का परित्याग कर देती हैं उसी प्रकार समझदार अनुभवी साधक को परात्पर दिव्य, पुरुष परब्रह्म के साथ एकीभाव करने के लिए अपने नाम और रूप का परित्याग कर देना चाहिए। यह नाम और रूप का परित्याग केवल आश्रमवास का चिन्हमात्र नहीं। यह तो अहंकार के विसर्जन के बाद उत्पन्न जीवात्मा की स्थिति है । इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए आश्रम वास किया गया था । जीवात्मा के साथ आवरण रूप में संलग्न सूक्ष्म शरीर में संगृहीत अतृप्त वासनाओं के तर्पण के लिए आत्मा ने जीवात्मा का रूप धारण किया था। विषयभोग के लिए अहंकार की सहायता से व्यक्तित्व को दृढ़ करने के लिए नाम और रूप का कवच पहना था - आश्रम वास में उसको उतार फेंकने का समय है ।

....

(15)

परम तृप्ति

....

जन्म से मृत्युपर्यन्त मनुष्य के जीवन में एक भी क्षण ऐसा नहीं जिसमें कि वह कर्म न करता हो। शारीरिक कर्म तो आँख को दिखाई देते हैं क्योंकि शरीर स्थूल है, प्राकृतिक है और प्राकृतिक होने से तमोगुण अपना स्थान मांगता है। अर्थात् वह थक भी जाता है। निद्रावस्था में शरीर के अवयवों के निश्चेष्ट हो जाने पर भी अन्तःकरण अपना काम चालू रखता है। शारीरिक कर्म से कुछ समय के लिए विराम मिल जाता है। परन्तु मानस कर्म बन्द नहीं होता। साधक विचार करता है यह निरन्तर कर्म करने का उद्देश्य क्या है? कामना के बिना तो कर्म संभव है परन्तु उद्देश्य के बिना मनुष्य जाति का प्राणी कर्म नहीं कर सकता । यदि करता है जो उसको विक्षिप्त और पागल कहते हैं। उद्देश्य असंख्यात हो सकते हैं। परन्तु सब का मूल अभाव की अनुमति है। यह अभाव व्यक्ति को खटकता है। इस खटक का नाम है 'कामना'। चेतना की ऊर्जा पर सवार होकर यह कामना रूपान्तरित हो जाती है कर्म में। कर्म के बाद जो मनःस्थिति होती है उसका नाम है **'तृप्ति'**। कर्म सफलता और विफलता कर्ता के कौशल पर निर्भर करता है। सफलता के बाद तृप्ति का अनुभव होता है। विफलता के बाद विषाद का। परन्तु इस तृप्ति के साधन प्राकृतिक पदार्थ होते हैं जिसकी क्षणभंगुरता और नश्वरता में किसी को संदेह नहीं। इन पदार्थों से उत्पन्न तृप्ति भी उनके जनक नश्वर पदार्थों की तरह क्षणिक ही होती है। यही अभाव प्रतीति उसके निवारण के उपाय - इसके बाद क्षणिक तृप्ति और थोड़ी ही देर के बाद फिर वही अभाव - प्रतीति। यह चक्र एक दो बार नहीं करोड़ों बार व्यक्ति के जीवन में घटित हो चुका हैं। कभी-कभी तो व्यक्ति इससे परेशान भी होता है। यह परेशानी भी उसकी चिरसंगिनी बन चुकी है इसलिए उसको भी चेतना में अपना स्वभाव जान लिया है। और यह क्रम टूटने का कोई अवसर नहीं आता। व्यक्ति का सारा जीवन खाने-पीने के समान, मकान-हवेली, रुपये-पैसे के संग्रह में निकल जाता है। जिस अभाव के साथ उसने अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया था उस अभाव ने उसका पीछा न छोड़ा।

विचारकों ने बतलाया कि ये अभाव तीन प्रकार के हैं - एक और सबसे स्थूल जिसको पहचानने के लिए किसी शास्त्रज्ञान की आवश्यकता नहीं, जिसका सम्बन्ध इस स्थूल शरीर के साथ है। जिसकी उपेक्षा परमहंस पदवी को प्राप्त ब्रह्मर्षि और महर्षि भी नहीं कर सकते, वह है अन्न, वस्त्र, निवास आदि की अभाव प्रतीति। दूसरी अभाव प्रतीति है सूक्ष्म अन्तःकरण की। अन्तःकरण जिज्ञासा से भरा पड़ा है। स्थूल ब्रह्माण्ड से लेकर उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटकों की खोज में दिनरात एक कर रहा है। उसको न तो ब्रह्माण्ड की सीमा दिखाई दी है न उसके घटकों की सूक्ष्मता का कोई आभास मिला है। प्रत्येक के आविष्कार पर एक आशा और उल्लास की लहर दौड़ जाती है और कुछ समय बाद वह आगे की दौड़ में समाप्त हो जाती है। इन खोजियों का नाम वैज्ञानिक है। इनको भी प्रति दिन प्रत्येक नए आविष्कार के साथ क्षणिक तृप्ति मिलती है। इस विज्ञान के सहारे वह ब्रह्माण्ड सम्बधी अन्तिम ज्ञान को प्राप्त कर लेने की आशा में निरन्तर कर्म में रत रहते हैं। ये दोनों भविष्य के आकाशकुसुमों के मनोहर स्वप्नों में इतने मग्न रहते हैं कि बुद्धि से विचार करने की उनमें न तो क्षमता रहती और न अवकाश मिलता है। जिस तरह सदा काम लेने से चाकू की धार तेज रहती है और यदि चिरकाल तक उससे काम न लिया जाय तो उसकी धार कुण्ठित हो जाती है, इसी तरह लगातार बुद्धि से काम लेने वाले साधक की बुद्धि कुशाग्र हो जाती है और जो साधक बुद्धि से काम नहीं लेते उनकी बुद्धि मन्द हो जाती है। अधम साधक प्राकृतिक पदार्थों के इन्द्रियजन्य ज्ञान पर मुग्ध होकर चरवालो की तरह मनुष्य को एक साधारण पशु समझने का यत्न करते हैं। मध्यम कोटि के जिज्ञासु वैज्ञानिक 'क्या' से 'क्यों' पर जाने का प्रयत्न करते हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान से बढ़ कर वह बुद्धि को काम में लाते और नए आविष्कार करके जड़ प्रकृति में काम करने वाले नियमों का पता लगा कर आश्चर्यजनक भौतिक उन्नति कर लेते हैं। भौतिक उन्नति के साथ-साथ भविष्य के घटित होने वाले आशाओं के अम्बारा लगते जाते हैं और जब तक ये आशाएं साधक का पीछा न छोड़तीं सन्तोष अथवा परम तृप्ति हो नहीं सकती ।

अब परिचय प्राप्त करिये उत्तम साधकों का जोकि प्राकृतिक पदार्थों के गुणों की असारता को अनुभव करके उनका आवश्यकतानुसार सेवन तो अवश्य करते हैं परन्तु उनमें आसक्त नहीं होते। इसी तरह जो साधक अपने से 'स्व' से भिन्न 'पर' सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं वे सराहनीय अवश्य हैं। परन्तु विज्ञान के द्वारा वह परम तृप्ति को उपलब्ध करने के स्थान पर अधिक शक्तिशाली होकर सृष्टि के विनाश का कारण बनते हैं। ये दोनों साधक 'बहिर्मुखी' हैं। इनको 'परमतृप्ति' मिल नहीं सकती। इन दोनों साधकों ने जड़ प्रकृति को अवलम्ब

बना कर अपनी जीवनधारा का निर्माण किया है। व्यक्ति की चेतना से जड़ प्रकृति स्वभावतः सर्वथा भिन्न है। जीवात्मा चेतन, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है । जड़ प्रकृति त्रिगुणात्मक सन्त्व, रज, तम मयी है जड़ प्रकृति के संग में जीवन को इन तीनों गुणों की विशेषताएँ सुख, दुःख, आलस्य आदि का उपभोग करना पड़ेगा । स्पष्ट है कि इन दोनों बहिर्मुखी साधकों को 'परमतृप्ति' के स्थान पर केवल अशान्ति का लाभ होगा । तीसरा उन्तम साधक जा न तो इन्द्रियों से प्राप्त जड़ प्रकृति के ज्ञान को अवलम्ब बनाता है और न मन के द्वारा किए गए विशेषणों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर अवलम्बित प्रकृति रहस्यों के द्वारा अपरिमित शक्ति का स्वामी बन जाता है। वह स्वभाव सिद्ध मानो दुर्बलता के कारण उस शक्ति को 'पर' के पोषण के स्थान पर शोषण में काम लाता है। इन दोनों बहिर्मुखी साधनों से भिन्न उन्तम साधक जड़ प्रकृति का संग परित्याग करता है। इस परित्याग के बाद उसको कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। बहिर्मुखी चेतना बाहर के जड़ प्राकृतिक पदार्थों के गुणों में आसक्त होती थी। अन्तर्मुख हाने का अभिप्राय है कि वह बहिर्मुखी नहीं। देवदन्त को ढूढ़ने निकले अपनी कुटी से बाहर वह दूसरी कुटी में नहीं मिला, इसका मतलब यह कि वह अपनी कुटी के आंगन में खेलता होगा। आंगन में देखा तो वहां भी न था। उसके विश्राम कक्ष में देखा तो विश्राम कर रहा था। देवदन्त जब आसपास की कुटियों में घूमता फिरता था, यह उसका वही रंगरूप था, जब वह थक कर अपनी कुटी में जाकर आंगन में लगे फूलों की बहार का आनन्द ले रहा था यह उसका अन्तर्मुख निद्रावस्था का रूप है। जब वह इन दोनों से विरत होकर अपने विश्राम कक्ष में चला गया - यह उसकी स्वाभाविक स्थिति है। इस स्थिति में देवदन्त न तो अपने से भिन्न दूसरों की कुटियों में अनुरक्त है, वहां से विरक्त होकर अपनी कुटी में आया तो बैठक में लगे चित्रों को देखने लगा। आंगन में लगे फूलों को देखने गला। जब इनसे भी ऊब गया तो विश्राम कक्ष में गया। वहां जाकर पड़ोसियों के साथ कहासुनी रही तो कुटी में आया तो पुरानी स्मृतियों को जागृत करने वाले चित्र सामने आए। मुंह में मिठास के साथ कड़वाहट भी आई। थक कर विश्राम कक्ष में गया तो पड़ौसी व स्मारक चित्र दोनों से छुटकारा मिल गया। इस छुटकारे के बाद साधक को किसी नए प्रयत्न की दौड़धूप की कामना प्राप्ति की आवश्यकता न रह गई। शांत होकर अपने विश्राम कक्ष में स्थित है। इस स्थिति में जबकि उसका अपने से भिन्न 'पर' का और 'पर' के साथ संसर्ग की स्थितियों से अर्थात् न तो उसकी वृन्ति बहिरंग रही न अन्तरंग, अब उसका चिन्त निर्मल दर्पण की तरह प्रसन्न अर्थात् स्वच्छ हो गया। अभी तक वह अपनी रिक्तता को अभावानुभूति को दूर करके तृप्ति का अनुभव करने का प्रयत्न करता था । इस प्रयत्न में शक्ति की अपेक्षा होती थी। परिणामतः थकान होती थी। स्थूल उपकरणों के थक जाने पर उसने अन्तर्मुख होकर अपने

शक्तिशाली सूक्ष्म उपकरणों - अन्तःकरण की सहायता से अपने एकाकीपन को दूर करके अभाव प्रतीति के विनाश का प्रयत्न किया। दोनों में क्षणिक सफलता मिली क्योंकि अनिष्ट विफलता के बारम्बार दर्शन से अधिक बेचैनी का कारण बनी। इस बेचैनी का छुटकारा हुआ जबकि वह अपने विश्रान्तिगृह में चला गया । वहां त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति का संग छूट गया और संग के साथ उसकी स्मृति भी जाती रही। साधक न बहिर्मुख रहा न अन्तर्मुख। फिर भी वह अकेला नहीं है। जब तक जड़ प्रकृति के स्थूल रूप के साथ अथवा उसकी स्मृति के साथ उसका निरन्तर सम्बन्ध बना हुआ था। सम्बन्ध केवल सम्बन्ध नहीं था, उसके साथ आसक्ति भी थी। इस आसक्ति के कारण चेतना का सारा प्रवाह फोकस - केन्द्रित होकर 'पर' में भी आसक्त था। आज विश्राम स्थल हृदय देश में अपनी प्रसन्न चेतना में उसको अपने परम सखा की उपस्थिति का अनुभव हुआ। इसी स्थिति का नाम है 'अन्तर्दर्शन'। परम सखा का अदर्शन अभाव प्रतीति का मुख्य कारण था इस ही परम सखा को प्राकृतिक संमोहक पदार्थों में खोजता जीवात्मा थक कर जब रुक गया, शांत होगया तो देखा उसका परम सखा उसके विश्राम कक्ष हृदयदेश में ही उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। इस मिलन से दर्शन से 'परमतृप्ति' मिल गई ।

.. ..

(।)

दीपक जलता है, बोलता नहीं

धर्म शब्द बड़ा गंभीर है । शास्त्रकारों ने भी इसकी स्वसम्मत अनेकों व्याख्याएँ व लक्षण किये हैं। शब्दों द्वारा किये गए लक्षणों में भेद प्रतीत होता है, परन्तु एक बात में सब एकमत प्रतीत होते हैं कि धर्म की व्यञ्जना आचरण में ही हो सकती है। वह व्यञ्जना किस-किस रूप में हो इसमें उनका शाब्दिक मतभेद स्पष्ट है।

धर्म का स्वरूप बतलाने के लिए जिन-जिन वेदमन्त्रों, शास्त्रों में विहित कर्मकाण्डों आदि का शाब्दिक वर्णन है, उन शब्दों के भाषान्तर में किये गए अर्थों को स्मरण करना और उनका प्रतिदिन सायम् प्रातः उच्चारण कर देना मात्र किसी भी प्रकार धर्म के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। एक जमाखोर दुकानदार, अपनी दुकान में **'सत्यं वद'** का वाक्य स्वर्णाक्षरों में लिखकर ग्राहकों को तो ठग सकता है, परन्तु उसको धर्मात्मा नहीं कह सकते। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए किसी ने कह दिया - **'आचारः परमो धर्मः'** । श्रुति-स्मृति आदि में जिन मानवोचित आचरणों का विधान है उन पर आचरण करना परम धर्म है। धर्म के शाब्दिक लक्षण, धर्म के अवश्य हैं, परन्तु **'पाप धर्म'** तो उन शब्दों मे कहे गए कर्तव्यों पर आचरण है। यह आचरण सर्वथा बहिरंग है और बहिरंग होने के कारण स्पष्ट है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक व्यक्ति का उससे भिन्न प्राणीमात्र के साथ जिस प्रकार व्यवहार है उसी व्यवहार से उसका धर्म लक्षित होगा। संसार में ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम नहीं जो कि अपने बाह्य आचरण के द्वारा जनता को धोखा देना चाहते हैं कि वह धर्मात्मा हैं।

रामायण का एक प्रसंग है - दक्षिणारण्य में भ्रमण करते समय राम जब पम्पा नामक प्रसिद्ध तालाब के पास पहुँचे तो वहां के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर मुग्ध होगए। उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि ऋषि-मुनियों के पुण्य प्रताप से यहाँ के पशु-पक्षी भी प्रभावित हैं। एक टांग पर निस्तब्ध खड़े बगुले को देख कर उनका मौन भंग होगया। लक्ष्मण से बोले - **'पश्य लक्ष्मणः पम्पायां बकः परमधार्मिकः'** । लक्ष्मण ! देख, पम्पासर के प्रभाव से यहाँ बगुले तक ध्यान मग्न हैं। शापभ्रष्टा एक मछली पानी के भीतर से बोली, **"बकः किं वर्ण्यते राम? येनाऽहं निष्कुली कृतः"** - राम! तुम नहीं जानते इस बगुले की वास्तविकता, इसने तो मेरा सारा परिवार खा डाला। महर्षि ने एक स्थल पर मनु का उद्धरण देते हुए लिखा है **"विडाल वककृत्रीश्च वाडमात्रेणाऽपिनाचयित्"**। राम, पम्पा सर के तट पर एक टांग खड़े बगुले को देखकर उसकी प्रशंसा के पुल बांध रहे थे। मनु ने

कहा - यही बकवृन्ति है। एक टांग पर खड़े होकर मछलियों को आश्वस्त करता और बीच-बीच में एक झपट्टा मार लेता है और फिर अपनी दूसरी टांग पर खड़ा हो जाता है।

महर्षि कहते हैं, इस प्रकार के बगुला भक्तों का औपचारिक सन्मान भी कभी न करो। भोजनादि पर नियन्त्रित करना तो क्रियात्मक सन्मान है। इस क्रियात्मकता से संसार में अज्ञान की वृद्धि होती है। अंधविश्वासी कल्पित श्रद्धालुओं की भीड़ बढ़ती जाती है। इसलिए कहा है कि ऐसे धर्मध्वजिओं को वाणी से भी सत्कार न करे। साधारण गृहस्थ चाहे कितना भी साधनहीन हो, अभ्यागत का वाणी से, जल से, आसन से, कुशल प्रश्न से, स्वागत कर ही सकता है। परन्तु मनु कहते हैं कि धर्मध्वजी बकवृन्ति पाखण्डियों का तो वाणी से भी सत्कार न करे।

सत्कार दो प्रकार का है । सायंकाल मार्ग-श्रम से थका वृद्ध आपके घर पर आता है। थका हुआ है, वृद्ध होने से अनुभवी तो अवश्य है, संभवतः इससे भी बढ़कर शास्त्रों का ज्ञाता भी हो । यह तो हमारे भाग्य पर है। वह रात्रिविश्राम के लिए स्थान मांगता है। सायंबेला देखकर आप उससे कुछ भोजन करने की भी प्रार्थना करते हैं। वह स्वीकार कर लेता है। घर में जो रूखा-सूखा बना है, खाकर पानी पीकर विश्राम करता है। आपके प्रश्न करने पर उन्तर देता है। प्रश्नोन्तर से प्रतीत होता है कि वह साधारण गृहस्थ नहीं शास्त्रों का भी ज्ञाता है। आपका अहोभाग्य। एक दूसरे प्रकार का सत्कार है - हाथी पर सवार महन्त बाहर चले आगे पीछे दरवाजे पर दस्तक होती है। गृहिणी घबरा कर शीश नवा कर दस रुपये का नोट भेंट करती है। महन्त अवज्ञा से उस नोट को फेंक देता है।

पहला अतिथि सत्कार मांगता नहीं था - गृहस्थ ने यथाशक्ति सेवा की। प्रसन्न होकर अतिथि ने आशीर्वचन बोल कर उसकी अभ्यर्थना की और विदा होगया।

एक यह सन्मान के भूखे, अधिक सम्मानित होने के लिए किराए के हाथी पर सवार होकर मार्गश्रम से क्लान्त विश्राम के लिए नहीं अधिक सन्मान और अधिक दान प्राप्त करने के लिए किसी सद्गृहस्थ की शंकाओं का समाधान करने के लिए नहीं, अपने भोगविलास की वासना की तृप्ति के लिए अपनी छिपी दरिद्रता का प्रदर्शन करते हैं। मनु कहते हैं - इनका वाणी से भी सत्कार करना। समझने वाले अपनी बुद्धि को काम में लाने वाले तो मनु के इस आदेश को मान लेंगे पर अंधविश्वासी भेड़चाल से चलने वाले तो इन धर्मध्वजिओं का पीछा छोड़ने वाले नहीं। साधक के सामने विकट प्रश्न उपस्थित है। धर्मात्मापन का प्रदर्शन करने वालों में अधिकांश तो विड़ालवृन्ति और बकवृन्ति हैं। यह सम्प्रदाय नया नहीं, मनु महाराज के काल में भी इनका बोलबाला था तभी तो आदेश दिया गया कि इनसे बचते रहो।

महर्षि दयानन्द ने अंधविश्वासियों की जमात से सावधान करने के लिए सत्यार्थ प्रकाश में लिख दिया ।

साधक प्रश्न करता है - कि इन बगुला भगतों को कैसे पहिचानें ? और इनसे कैसे बचें ? शास्त्रीय उत्तर तो यह है - सच्चे वानप्रस्थी और संन्यासी के लक्षणों से लक्षित व्यक्तियों पर विश्वास करो।

साधक फिर प्रश्न करता है - कि यह भी तो अपने-अपने चिन्ह बनाकर उन चिन्हों का प्रदर्शन करके बकवृत्ति प्रमाणित हो सकते हैं। संन्यासी का कर्तव्य उपदेश देना समझा जाता है, उसको शास्त्रीय ज्ञान भी है, गृहस्थाश्रम में रहते हुए दुनियादारी के उतार-चढ़ाव का भी अनुभव है। वित्तैषणा और लोकेषणा से होने वाले कटु अनुभव भी भोग चुका है। अब उन भँवरों में पड़ने वाला नहीं। ऐसे वीतराग संन्यासी को मान अपमान की चिन्ता नहीं, उसका कोई बैंक बैलेन्स नहीं, जिसके नष्ट होने और छिन जाने का भय हो। परमात्मा को समर्पित हो चुका है। वह अब हमारे जैसा भिखमंगा नहीं जो कि संसारभर के सामने बेशर्मी के साथ संन्यास और धन की याचना करता है। यदि कोई कषायधारी सद्गृहस्थों के उत्तम भोजन, उत्तम यान, उत्तम शय्यान का ही भिखारी है तो समझ लो कि वह बकवृत्ति है। उसने गृहस्थ आश्रम का सेवन करते हुए जी खोल कर विषयों से परिचय प्राप्त नहीं किया। अब चतुर्थाश्रम का बाना पहिन कर बकवृत्ति से अंधविश्वासियों को ठग रहा है। धर्मात्मा तो वही होगा जो दीपक की तरह अपने को जला कर संसार को प्रकाशित करेगा। गृहस्थ में संचित अतिरिक्त चर्बी के मित भोजन आदि तपस्याओं से निरन्तर क्षीण करता हुआ अपने सांसारिक योगक्षेम के लिए आदिमूल सत्ता को उमरदाता समझता और किसी भी संसारी के सामने हाथ फैलाता हुआ अपने को सब अभावों से मुक्त प्रमाणित करता है।

मठाधीश और आश्रमों के संचालक जो निरन्तर अपने कोष की, चेलों की, भेंट पूजा की चिन्ता में व्यग्र रहते हैं - संसारी व्यक्ति कैसे उनसे आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग के सम्बन्ध में प्रश्न करके अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकते हैं? कैसे अपने वासना पीड़ित संतप्त हृदय को शान्ति प्रदान कर सकते है? दीपक का तेल जलता है, बत्ती जलती है, जलते-जलते वह किसी प्रकार का शब्द करके अपना अस्तित्व प्रकाशित करने का प्रयास नहीं करता। अपने प्रशंसकों की संख्या मे वृद्धि की कामना नहीं करता, केवल प्रकाश का विकीरण करता है। बिना भेदभाव के शत्रु मित्र का, साधर्म्य-वैधर्म्य का, देश-विदेश का, गोरे-काले का, कोई भेदभाव नहीं। सबको समान रूप से प्रकाश प्रदान करता है। और प्रकाश प्रदान करते-करते तब तक नहीं रुकता जब तक केवल 'मही' का ठीकरा शेष न रह जाय।

मेरे महर्षि का जीवन इस दीपक की उपमा का एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। जो व्यक्ति यथार्थ धर्मात्मा और महात्मा होगा वह कभी संचय नहीं करेगा, वह सचमुच सम्राट् कहलाने का अधिकारी है। वह अपना सर्वस्व लुटा कर संसारभर की सम्पत्ति के स्वामी होगा। धन-वैभव, यश-पद आदि किसी भी कामना का अंश उनमें नहीं, अब वह संसारभर में भिखारी न रहे इसलिए तो वह सम्राट् है।

दीपक जलता है, बोलता नहीं ।

....

(2)

स्वाध्यायान्माप्रमदः

स्वाध्याय शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में समान रूप से बड़े सन्मान के साथ किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम के स्वाध्याय और वानप्रस्थी के स्वाध्याय में समानता हो नहीं सकती परन्तु दोनों के लिए इसको परम उपयोगी माना गया है। गृहस्थाश्रम में भी पञ्चयज्ञों के अनुशासन के साथ स्वाध्याय निरन्तर करते रहने का आदेश है। प्रथम आश्रम में स्वाध्याय का रूप सत् शास्त्रों का पढ़ना मात्र हो सकता है। कच्ची आयु में स्मरण किए गए स्वाध्याय ग्रन्थों के वाक्य, श्लोक, मंत्र, व्याख्यान आदि पटल में अंकित हो जाते और भविष्य जीवन में आने वाले अवसरों पर उनकी स्मृति ताजी होती रहती है। गृहस्थाश्रम में भी प्रथमाश्रम में किया गया स्वाध्याय ही प्रायः काम आता रहता है।

संसार के संघर्षमयी जीवन में कोई साधक, नवीन स्वाध्याय के लिए अवसर निकाल सके तो धन्य भाग है। भुक्तभोगी गृहस्थ जब गृहस्थ जीवन के उत्तरदायित्व को निभा कर मानव जीवन के अन्तिम ध्येय पर पहुँचने के लिए वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है, वह समय वास्तविक स्वाध्याय का है। वानप्रस्थाश्रम में स्वाध्याय का अर्थ ऋषि मुनि प्रणीत ग्रन्थों का पठन-पाठन मात्र नहीं है, जिसने अभी तक पठन-पाठन भी नहीं किया वह आयु की दृष्टि से वानप्रस्थाश्रम से भी आगे निकल चुके हैं, परन्तु शास्त्रज्ञान के अभाव में बालक के ही समान हैं। **'अज्ञो भवति वै बालः'** - उनका स्वाध्याय पठन-पाठन से प्रारम्भ हो सकता है। प्रबुद्ध वानप्रस्थियों का कर्तव्य है कि ऐसे सदाशय सज्जनों को सब प्रकार से सहायता प्रदान करे। अनेक सौभाग्यशाली वानप्रस्थी ऐसे भी हो सकते हैं जो कि स्वाध्याय ग्रन्थों को पढ़े बिना भी पूर्वजन्म के संस्कारों से युक्त हों, आचरण की दृष्टि से सच्चे वानप्रस्थी प्रमाणित हों। वर्तमान परिस्थिति में अधिकांश वानप्रस्थी स्वाध्याय ग्रन्थों से अपरिचित ही हैं। संसार की विषमताओं से प्रताड़ित शक्ति की खोज में आश्रमवास का सहारा लेते हैं। सत्तर वर्ष की आयु में उनसे यह आशा करना कि वह ब्राह्मण ग्रन्थों के आदेशानुसार ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करने के बाद गृहस्थाश्रम की सारी जिम्मेदारी पूरी कर के मनु महाराज के आदेश के अनुसार पचास-पचपन की प्रौढ़ावस्था की प्रारम्भिक अवस्था में आश्रम में आ गए हैं - आज की परिस्थिति में दिवास्वप्न देखना है। इन आश्रमवासियों को भी स्वाध्याय का आदेश है। आश्रम की दिनचर्या में इस स्वाध्याय शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, परन्तु इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

आलसी काम को न करने वाला, न करने के लिए कई बहाने बना कर अपने को धोखा दे सकता है, और परिश्रमी साधक जो साधना में आगे बढ़ना चाहता है, कोई न कोई मार्ग निकाल कर आगे बढ़ ही जाता है। ऐसा ही एक साधक एक दीक्षा गुरु के पास जाकर बिना किसी भूमिका के सीधा प्रश्न करता है। आश्रम की दिनचर्या में सायम् प्रातः दोबारा एक-एक घण्टा ध्यानमग्न होने का आदेश है ।

मैं पाँच महीने से आश्रमवास कर रहा हूँ, बड़ी निष्ठा से प्रतिदिन सायं प्रातः आँख मूँद कर ध्यान करने बैठ जाता हूँ। अभी तक तो कोई उपलब्धि हुई नहीं। साधारण स्थिति में मन जितना शान्त रहता है, ध्यान की स्थिति में तो अशान्ति ही अशान्ति सामने आ जाती है। न मालूम कहाँ-कहाँ के विचार, पुरानी से पुरानी स्मृतियाँ चित्रपट पर आने वाली तस्वीरों की तरह, मुझे इतना क्षुब्ध कर देती हैं कि मैं तो उठ कर खड़ा हो जाता हूं। आँख खोल देने अथवा ट्रान्जिस्टर चला देने पर चित्त कुछ शान्त हो जाता है। आँख बन्द कर के शान्त मुद्रा में बैठ जाने के इस ध्यान से डर लगने लगता है। दीक्षागुरु भी पतंजलि तो नहीं थे। उन्होंने भी इस असाधारण स्थिति का कभी अनुभव किया था और निरन्तर अभ्यास से उससे छुटकारा भी पाया था। कहने लगे - शान्तमुद्रा में बैठने पर जो शक्ति बाहर की इन्द्रियों के संचालन में व्यय हो रही थी वह बच गई। और बच कर वह अन्तःकरण की क्रिया में सहायक बन गई। शान्तमुद्रा में मानसिक स्मृति वृत्ति की प्रबलता का यही कारण है। स्मृति की इस प्रबलता से भयभीत नहीं होना चाहिए। भयभीत हो जाने पर उनके निवारण का प्रयत्न भी होता है। यह निवारण का प्रयत्न संघर्ष उत्पन्न करता है जो कि अधिक मानसिक अशान्ति का कारण बन जाता है। बन्दरों वाली प्रसिद्ध कथा इस प्रसंग में बड़ी उपयोगी है ।

एक बकवृत्ति धूनी बाबा के पास जाकर एक गृहस्थ ने अपने बीमार बच्चे के लिए ताबीज मांगा। बाबा ने ताबीज देकर कहा, देखो रास्ते में बन्दर का ख़याल न आए। गृहस्थी घर की ओर चला, इस विचार के साथ कि बन्दर का ख़याल नहीं करना। वह जितना ही बन्दर के ख़याल को निकालने का प्रयत्न करता उतना ही वह अधिक ज़ोर पकड़ता। घर पहुँचते-पहुँचते उसके कन्धें, सिर, कमर सब ही अंग जकड़े बैठे थे। सारांश यह कि संघर्ष में मन वृत्तियों से जीतना असंभव है। साधक पूछता है यदि संघर्ष न करें तो छुटकारा कैसे होगा? दीक्षागुरु बोले - चित्तवृत्तियों के साथ तादात्म्य किसने स्थापित किया था, चित्त तो प्राकृतिक चेतना-हीन जड़ है। उस को अपनी चेतना से संक्रमित कर उसमें वृत्ति निर्माण की शक्ति जीवात्मा ने दी। असंख्य योनियों में उसके सुख-दुःख के अनुभव में तादात्म्य कर के उसको अधिकाधिक क्रियाशील आपने ही बनाया । अब आप उसकी बहिरंग वृत्तियों को रोक कर उसको वश में लाना चाहते हैं। वह एक नटखट बच्चे की तरह उपद्रव करके अपने ऊपर लगे अंकुश के प्रति विरोध प्रकट कर रहा है। संघर्ष अथवा दमन से बन्दर वाली स्थिति उत्पन्न होगी। उसके उपद्रव को शान्त करने का एक मात्र उपाय है कि आप उसके साथ तादात्म्य समाप्त करदें। वह ख़ूब उछलेगा-कूदेगा, आप उधर ध्यान न दें, उदासीन वृत्ति रखें, न तो तालियाँ बजायें, न नाराज हों। आपके

तादात्म्य से उत्साहित होकर उसने यह उपद्रव किया हुआ था। संघर्ष में अर्थात् दमन से आप उसको जीत नहीं सकते। दमन तो भौतिक संसार में भी कभी-कभी सफल होता नहीं देखा गया है। मानसिक स्तर पर तो दमन अशान्ति और चंचलता को ही बढ़ावा देगा। एक ही सब से सुगम मार्ग है उदासीनवृत्ति। आप शान्त मुद्रा में बैठेंगे, पुरानी स्मृतियाँ भविष्य की योजनाओं के चित्र सामने आने प्रारम्भ होंगे। इनको रोकने का प्रयास करेंगे। बन्दरों की सेना की तरह उनका वेग और भी बढ़ेगा। प्रतिदिन निश्चित समय तक आप शान्त मुद्रा में बैठे रहें। चित्त में संचित संस्कार उभर-उभर कर सामने आवेंगे। यही तो आपका 'स्वाध्याय' है। अपने संचित संस्कारों का ख़जाना है, राग, द्वेष से रहित होकर उदासीन वृत्ति से द्रष्टा बन कर देखते रहना। दमन की संघर्ष की लड़ने की आवश्यकता नहीं। अपनी शक्ति का अपव्यय न करो। इस संचित ऊर्जा को, जो कि संघर्ष से बचा कर आपने अर्जित की है, विवेकख्याति में काम में लाओ। महर्षि दयानन्द के शब्दों में इस संचित शक्ति को विचाराग्नि का इंधन बनाओ। ध्यान की उपरोक्त क्रिया में क्या बाधा आ सकती है। केवल मुँह फेरने की देर है। जब तक दमन और संघर्ष का मार्ग अपनाएंगे मानसिक अशान्ति, बेचैनी, घबराहट बढ़ती जाएगी । द्रष्टा बनकर उदासीन भाव से शान्तमुद्रा में बैठे रहेंगे। वृत्तियों का संस्कारों के खजाना खाली होता जाएगा। कोई ताली बजाने वाला या जयकार लगाने वाला न होने से अभिनेता मन भी थक कर शांत हो जाएगा। साधक पांच महीने के संघर्ष के बाद उपलब्धि मांगता है। यह सांसारिक सौदा नहीं कि दो रुपए दिए तो सेरभर आलू मिलने ही चाहिएं। इस क्षेत्र में जो उपलब्धि है उसकी सारा संसार एक होकर भी कीमत नहीं चुका सकता। आपने श्रम क्या किया केवल शान्त मुद्रा में बैठे रहे, हल नहीं चलाया, फावडे से मिट्टी नहीं खोदी और फल चाहते हैं 'परम शान्ति'। जिस शान्ति की खोज में पचास साल तक भटके, जमीन जायदाद जमा की, बुढापे के सुख के लिए परिवार बढ़ाया, पड़ौसियों से झगड़े किए, मुकदमें किए, फौजदारी की, क्या-क्या नहीं किया, शान्ति नहीं मिली, उस शान्ति को प्राप्त करने के लिए आप के दीक्षागुरु ने केवल दो घण्टे शान्तमुद्रा में उदासीन वृत्ति के साथ बैठने का आदेश दिया। आप उपलब्धि मांगते हैं। आपका क्या विचार था कि नोटों के पुलन्दे आकाश से गिरेंगे? नोटों का युग तो आप निराश होकर छोड़ कर आए हैं। आश्रम की उपलब्धि तो चित्त की शान्ति है। इस बहुमूल्य नहीं अमूल्य शान्ति को प्राप्त करने का साधन है 'स्वाध्याय'। इस स्वाध्याय का सर्वोत्तम उपाय है 'ध्यान'। स्वाध्याय है मार्ग, ध्यान है मंजिल, स्वाध्याय है साधन, ध्यान की स्थिति है साध्य ।

....

(3)

दृश्य से द्रष्टा

शास्त्रीय परिभाषा में **'दृश्य'** जड़ प्रकृति का नाम है। **'तदर्थ एव दृश्य आत्मा'** - जीवात्मा भोक्ता और दर्शक है। भोग्य अर्थात् दृश्य जड़-प्रकृति उसके ही भोग के लिए है। विचारना यह है, कि हम क्या हैं? दृश्य प्रकृति जड़ है, उसमें चेतना नहीं। उसमें स्व का अभिमान हो नहीं सकता। भोक्ता जीवात्मा मनीमाने ढ़ंग से उसका उपभोग करता है। दृश्य उसमें कोई दखल नहीं देता। दृश्य का निर्माण जीवात्मा की, उसके साधनों की पूर्ति के लिए किया गया प्रतीत होता है। इस ही आशय को लेकर ब्रह्मयज्ञ के मनसापरिक्रमा प्रकरण के तीसरे मंत्र में **'अन्नमिषवः'** भोग्य अन्न, भोक्ता जीवात्मा को पथप्रदर्शन नहीं करता कि अब तुम पर्याप्त भोजन कर चुके हो **'बस करो'**। जीवात्मा स्वतन्त्र है, चाहे तो आवश्यकता से अधिक खाकर बीमारियों का शिकार बने और चाहे तो स्वास्थ्य को पुष्ट बनाए। तात्पर्य यह कि भोग्य अथवा दृश्य जड़ है। स्वाभिमान शून्य है। अचेतन होने से उसको 'पर' का तो क्या 'स्व' का भी ज्ञान नहीं। उसका भोक्ता जीवात्मा कर्म करने में सर्वथा स्वतन्त्र है। उसके एक तरफ जड़ प्रकृति है जोकि दृश्य है, भोग्य है, और दूसरी तरफ उसका सखा परमात्मा है जोकि सृष्टि का कर्ता, धर्ता, संहर्ता होता भी निर्लेप होने के कारण भोक्ता नहीं, वह केवल 'द्रष्टा' है। स्वतन्त्र जीवात्मा भोग्य प्रकृति की तरफ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए झुकता ही है। जड़ प्रकृति के सान्निध्य में उसमें जड़ता आ ही जाती है। जड़ प्रकृति 'दृश्य' है। जीवात्मा भी 'स्व' का विस्मरण कर रंगमंच पर आए अभिनेता की तरह अपनी सत्ता को सर्वथा भुला कर खलनायक 'रावण' आदि का पार्ट करता है। स्वभाव से मृदु और सच्चरित्र होता हुआ भी अभिनेता रावण की तरह क्रूर और परदारापहारक बन कर दिखलाता है दर्शकों को । इसके विपरीत स्वभाव से दुश्चरित्र छली-कपटी और क्रूर अभिनेता रंगमंच पर आकर, अपने को धर्मात्मा परम दयालु और सच्चरित्र दिखाता है। इसके विपरीत यही जीवात्मा जब बहिर्मुख से अन्तर्मुख हो जाता है, अपने चेतन स्वरूप को पहचान लेता है तब वह अभिनय करना बन्द कर देता है। इसकी-उसकी नकल करने में, जितनी शक्ति और समय का व्यय करता था अब अन्तर्मुख हो जाने

पर अपने परम सखा परमात्मा की उपासना से उसके गुणों को अपने अन्दर धारण करने का प्रयास करता है। दोनों चेतन जीवात्मा और परमात्मा एक ही जड़ प्रकृति के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करते हैं। जीवात्मा सरकार रूपी बीजों से उत्पन्न कड़वे मीठे फलों को चखता है और दूसरा परम चेतन आदि मूल परमेश्वर भोक्ता और भोग्य के इस व्यापार को दर्शक नहीं 'द्रष्टा' बन कर देखा करता है। इस तथ्य को आगे के वाक्य में निम्न शब्दों में कहा गया है-

'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वभि अनश्नन्यः अभिचाकशीति'

साधक प्रश्न करता है - दृश्य और द्रष्टा से भिन्न भी क्या कोई वर्ग है? उत्तर - हाँ, एक और वर्ग है जिसका नाम दर्शक है। यह बड़ा चलचित्त है। कभी तो दृश्य के साथ तादात्म्य कर लेता है और कभी द्रष्टा भी बन जाता है। जीवात्मा को सबसे बड़ा उपहार उसकी स्वतन्त्रता है। वह चाहे तो दृश्य अभिनेता के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसकी ही तरह रोना-हँसना प्रारम्भ कर दे और चाहे तो अभिनेता के अभिनय को अयथार्थ समझ कर 'द्रष्टा' बनकर अपने को निर्लेप रखे।

साधक प्रायः संसारी मनुष्य किस कोटि में है? उत्तर - संसारी मनुष्य दृश्य भी है और दर्शक भी है, केवल द्रष्टा नहीं। उसके जीवन का दृश्यभाग यह है कि एक नौसिखिये अभिनेता की तरह वह अपने बाहरी ठाट-बाट से, चेहरे-मोहरे से संसार के सामने अपने को वह 'कुछ' प्रस्तुत करना चाहता है जोकि वह नहीं है। कपड़े बहुमूल्य हैं, शरीर रोगों का घर है, तीन दिन से कब्ज के शिकार हैं, शरीर सुगन्धित है, चेहरा 'क्लीनशेव' है, भीतर छलकपट, रागद्वेष भरा है। दांव जनकल्याण का है। स्वार्थपूर्ति में लगे हैं। इस कोटि के व्यक्ति को अभिनेता अथवा दृश्यकेटि में रखेंगे। इस श्रेणी में अधिकांश लोग नहीं आ सकते क्योंकि मक्कारी या छलकपट भी तो एक कला है। इस कला में निष्णात व्यक्तियों को 'भारतभूषण' तक की उपाधि से विभूषित किया जाता है। इससे भिन्न एक बड़ी ही दयनीय दूसरी श्रेणी है, उसका नाम है दर्शक। अधिकांश तो क्या 90 फीसदी व्यक्ति इसी श्रेणी में आ जाते हैं। नाचना-गाना, मुक्केबाजी-कुश्ती, अभिनय आदि में कुशलता प्राप्त करना सबके बस की बात नहीं है। परन्तु इनके करतब देखना तो आसान है। संसार के भिन्न-भिन्न देशों में तरह-तरह के मुकाबिले, प्रतियोगिताएं, टूनमिन्ट हर समय होते रहते हैं। दर्शकों की एक बड़ी भारी श्रेणी टी.वी. सैट पर बैठी दिन के चार से आठ घण्टे तक उन अभिनयों को देखने का आनन्द लेती है। हार-जीत का, सफलता-विफलता का प्रभाव दर्शकों पर पड़ता है। इस प्रभाव से सुखी या दुःखी होने के लिए ही दर्शक अमूल्य जीवन का इतना समय नष्ट करते हैं। मानव अभिनेता इन दर्शकों की तृप्ति भी करते हैं और अपने कलात्मक जीवन की उन्नति भी करते हैं।

रेसकोर्स का एक घोड़ा एक दिन कह रहा था कि मनुष्य अपने को बड़ा बुद्धिमान् प्राणी समझता है। दौड़ते घोड़ों को देख कर तालियाँ बजाते यह पागल हो जाने में क्या बुद्धिमन्ता है। यदि कोई मनुष्य दौड़ता हो तो कोई भी पशु उसकी दौड़ को देखने में दिलचस्पी न लेगा। घोड़े को यह पता नहीं था कि मनुष्य अभिनेता के स्थान पर दर्शक बन गया है। अभिनेता बनने के लिए तो कुछ प्रयत्न करना पड़ता है। दर्शक बन कर तालियाँ बजाना बहुत आसान काम है तो सारा संसार, संसारभर के मानव इन दो श्रेणियों में विभक्त हो गए हैं। धार्मिक समाज सुधारक, राजनीतिज्ञ कोई भी हो सबसे पहले उसका ध्यान अभिनेता बनने में लगता है। वह जो नहीं है, वह दिखलाने का प्रयत्न करता है। इसमें जो सफल होता है उसको दर्शकों की ताली बजाने वालों की, जयकारें लगाने वालों की चिन्ता होती है। बस मानव समाज दो भागों में मुख्यतया विभक्त है - एक तो नेता या अभिनेता, दूसरे हैं नेता के अनुयायी । उसके पीछे चलने वाले उसकी एक-एक चाल पर तालियाँ बजाने जयकारे लगाने में ही उनके जीवन की सार्थकता है। नेता के पीछे ये जयकारे लगाने वाले न हों तो नेता सड़क छोड़ कर गली में चले जाएं।

हमारे एक महत्त्वाकांक्षी मित्र भूल से एक बार आमरण अनशन कर बैठे। एक सप्ताह काटना कठिन था, पर कैसे भी पार किया, हमें समाचार मिला कैसे भी इससे छुटकारा दिलाओ। जितनी आशा थी कि फोटाग्राफरों, सम्वाददाताओं की भीड़ लगेगी, समाचार पत्रों में प्रतिदिन स्वास्थ्य समाचार के बुलेटिन छपेंगे, कुछ भी न हुआ । मुक्केबाज़ एक दूसरे के कान पर मुक्का मारना बंद कर दें, यदि दर्शकों की तालियाँ उनको निरन्तर प्रोत्साहित न करें। जीवात्मा दृश्य से दर्शक तो बना, परन्तु दर्शक बनकर उसने अपने 'स्व' का अधःपतन ही किया। जीवात्मा का अन्तिम ध्येय तो 'द्रष्टा' बनने में निहित है। 'द्रष्टा' परमात्मा, दृश्य जड़-प्रकृति के साथ उतना ही सम्बन्ध रखता है जितना जीवात्मा। **'समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्ना'** । दोनों चेतन जड़-प्रकृति को ही आधार बना कर अपने को अभिव्यक्त कर सके हैं। जीवात्मा की अभिव्यक्ति है ही भोग के लिए। भोक्ता और भोग्य में जो सम्बन्ध है उसके नियामक रूप में परमात्मा है। नियामक होने के लिए उसको निर्लेप होना आवश्यक है। जीवात्मा भोगों को भोगते-भोगते जब शिथिल हो जाता है और भोग्य उसके सामने है जिसकी कि कोई सीमा नहीं। तब उसको होश होता है **'यावत् स्वस्थमिदं शरीरं-आदिभोगरोगभयम्'** का आत्मानुभव करके साधक बहिर्मुखता को परित्याग कर अन्तर्मुख हो जाता है। वह स्थिति वैराग्य की हो सकती है। वैराग्य प्राप्त करने के लिए विषयों में दोर्ष दर्शन आवश्यक है। जब तक साधक भोजन को जीवनाधार समझ कर मात्रा से अधिक भोजन का परित्याग नहीं करता तब तक उसको साधना के लिए आवश्यक **'लघुत्वमारोग्यम्'** आदि का आनन्द नहीं मिल सकता। परम अनुभवी द्रष्टा बनने के लिए जीवात्मा को स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है।

जब तक जीवात्मा जड़-प्रकृति के साथ तादात्म्य सम्बन्ध का परित्याग नहीं करता, अर्थात् दर्शक बन कर जड़-प्रकृति के चित्र-विचित्र कार्यों में सुख-दुःख का अनुभव नहीं छोड़ता तब तक वह अन्तर्मुखी नहीं हो सकता। **'कश्चिदधीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्'** कोई विरला साधक ही साहस करके बहिर्मुखता को छोड़ सकता है। अन्तर्मुख होने के लिए आँख, कान मात्र का बन्द करना पर्याप्त नहीं। इससे उत्पन्न और चित्त में संचित संस्कारों का शमन भी आवश्यक है। इस ही स्थिति को मौन कहते हैं। इस स्थिति को प्राप्त व्यक्ति मुनि पद का भी अधिकारी है। इस प्रकार मुनि पद को प्राप्त किया हुआ साधक दृश्य से द्रष्टा बन कर सर्वद्रष्टा विचर्षणि को अपना सखा कह सकता है ।

''''''''

(4)

धृतिः

बनारस शास्त्रार्थ में महर्षि दयानन्द ने धर्म के लक्षण बताते हुए मनुस्मृति का जो श्लोक उद्धृत किया था उसमें सब से पहला लक्षण **'धृतिः'** है। धृति का अर्थ है पकड़ । मानव चोले में आने के बाद जो व्यक्ति परम लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। उसके लिए आवश्यक है कि वह स्थिर मति हो। स्थिर मति होगा, तो पास के लोगों को देखकर कभी इसके पीछे चलेगा और कभी उसके पीछे चलेगा। चलेगा तो वह सारे जीवनभर, पर पहुँच कभी नहीं पाएगा। प्रत्येक मनुष्य के पास बुद्धि नाम का एक अत्यन्त उपयोगी और उसको भोग योनियों से पृथक् करने वाला पदार्थ है। जाग्रत अवस्था में मनुष्य इसका उपयोग लाता है। जब सो जाता है तब इसका उपयोग नहीं होता। स्वप्नावस्था में साधक अपने मित्र के साथ चला जा रहा था, उसको स्वप्न में एक छींक आई, आँख झपकी, वह साथ चल रहा मित्र, अब मनुष्य नहीं घोड़ा बन गया था। स्वप्न में ये बातें चलती हैं इनका चेतना पर प्रभाव भी होता है, बुद्धि उस समय काम नहीं करती। जाग्रत अवस्था में यह विकल्पवृत्ति नहीं चलती, तत्काल बुद्धि उपस्थित होकर स्थिति में सुधार कर देती है। सूर्योदय हो जाने के बाद आँख खुल जाने पर भी यदि हमारी बुद्धि काम नहीं करती तो मानना होगा कि हम जाग नहीं रहे सो रहे हैं। धर्म के सर्वप्रथम लक्षण 'धृति' पर आचरण करने के लिए हमें बुद्धि से काम लेना होगा, और बुद्धि तभी काम देगी जब हम जाग रहे होंगे।

'दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिः हविष्मद्भिः मनुष्येभिरग्निः।"

आत्म ज्ञान के आलोक में जागते हुए, बुद्धि से काम लेते हुए समर्पित मनुष्य ही उस जगन्नियन्ता का दर्शन आभास प्राप्त कर सकते हैं। बुद्धि से काम लेने का तात्पर्य यह है कि हम सोच विचार कर अपने जीवन में उपयोगी जीवन को उन्नत करने वाला कार्य करें। उत्तम भावना, उत्तम विचार, उत्तम कार्य करें। यदि मेरी बुद्धि कहती है कि इस मार्ग पर चलना हितकर नहीं है और हम फिर भी उस मार्ग पर चलते जाते हैं तो बुद्धि का होना न होना समान है। उस स्थिति में हम या तो जागने का अभिनय करते सोए हुए हैं अथवा बुद्धि तत्त्व से सर्वथा हीन पशु तुल्य हैं। ये दोनों विशेषण हमको रुचि कर नहीं।

इस स्थिति में धर्म का सर्वप्रथम लक्षण 'धृति' हमारे काम आता है। बुद्धि से विचारने के बाद अपने जीवन की जिस किसी दिशा में कोई कमी अथवा अभाव की प्रतीति हो उसको टालने का प्रयत्न नहीं करना, तत्काल उसमें सुधार कर लेना, मनुष्य जीवन प्राप्त करने का सबसे मूल्यवान् और सबसे सुगम उपाय है। हम प्रार्थना करते हैं - **'यन्मे छिद्रं चक्षुषो'** - इत्यादि। मेरी भावनाओं, ज्ञान और कार्य में जो कमी हों ब्रह्माण्ड के अधिपति उसको दूर करें। - तो क्या हम इस आशा से यह प्रार्थना करते हैं कि हम तो अपनी पुरानी आदतों के साथ चिपटे ही रहेंगे, सामर्थ्य हो बृहस्पति में तो वह आकर हमको उससे पृथक् करे। ऐसा हो नहीं सकता। जीवात्मा कर्म करने में सर्वथा स्वतन्त्र है। वह चाहे तो अपने दोषों और कमियों का निराकरण करे और चाहे तो परम्परागत व्यक्तियों को अभ्यास द्वारा दृढ़ करता जाय। क्या त्याज्य और क्या ग्राह्य है, यह पहचानने के लिए, उसने हमको शुभ-अशुभ यह भेद करने वाली बुद्धि अवश्य दी है। जीवन के पग-पग पर ऐसे अवसर आते हैं, जबकि बुद्धि हमको सचेत करती है। उस अवसर को पकड़ लेना धर्माचरण का पहला लक्षण है ।

एक उद्योगपति, जोकि अकिंचन से अरबपति बन गया था, किसी से उसकी सफलता का रहस्य पूछे जाने पर उसने कहा - मैंने भविष्य पर कभी विश्वास नहीं किया, जिस काम को ठीक समझा उसको तत्काल कर दिया। अवसर को चूकना नहीं, उसे पकड़ लेने का नाम ही धृति है। हम भूतकाल में थे, वह भूतकाल चला गया, उसके साथ भूतकाल के हम भी चले गए। भविष्य अभी आया नहीं, उसके स्वरूप का किसी को ज्ञान नहीं, उस अभावात्मक वैकल्पिक पदार्थ पर विश्वास करके किसी काम को टाल देना केवल तमोगुणी व्यक्ति का काम है। जीवन को सफल बनाने की कामना वाला साधक केवल वर्तमान पर विश्वास करता है। वर्तमान ही एक क्षण है जिसमें साधक भी है और अवसर भी है। जो इस वर्तमान क्षण को पकड़ लेता है, उसका आचरण धर्मानुकूल है, अर्थात् वह धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी है। जिसने बुद्धि द्वारा निर्दिष्ट इस क्षण को, प्रमाद और आलस्यवश नहीं पकड़ा, वह अवसरों के निकल जाने पर भाग्य को दोषी ठहराया करते हैं। धृति का एक प्रचलित अर्थ **'धैर्य्य'** भी है। फलप्राप्ति के लिए अधीरता को समझदार लोग मानसिक अशान्ति का एक बड़ा कारण समझते हैं।

किसान को धैर्य्य का साक्षात् देवता माना गया है। किसान तो मनुष्यमात्र है, चतुर किसान बीज बोने के बाद उसके अंकुरित पल्लवित और पुष्पित होने की बड़े धैर्य्य के साथ प्रतीक्षा करता है, और धैर्य्य के साथ प्रतीक्षा करने का सुफल भी उसको मिलता है। किसान का बालक अथवा अनुभवशून्य- किसान आपकी गुठली बोने के बाद प्रतिदिन सायम् प्रातः उसको खोद कर देखता है। प्रत्येक साधक भी तो किसान ही है। पूर्वजन्म में अर्जित बीजरूप संस्कारों का मीठा कड़ुआ फल भोगने के लिए ही तो बारम्बार जन्म लेता है। पिछले जन्म के शुभ-अशुभ संस्कारों का तो किसी

को भी पता नहीं । साधना के नाम पर इस जन्म अथवा इस आश्रम में किये गए जप-तप का तात्कालिक फल मांगता है। आदि मूलसन्ता की नियामकता, दयालुता और न्यायप्रियता पर विश्वास रखने वाला साधक सच्चे किसान की तरह तात्कालिक फल की आशा न करता हुआ समर्पित भाव से सन्तोषवृत्ति को धारण कर के जीवन में घटने वाली प्रत्येक घटना का, चाहे वह प्रिय हो, चाहे अप्रिय, स्वागत करता है। साधक की इस सांसारिकतापूर्ण अधरता की वृत्ति को देख कर महर्षि पतंजलि ने कह दिया -

"दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमि ।"

साधना की नींव को दृढ़ बनाने की इच्छा वाले साधक को जल्दबाजी छोड़ देनी चाहिए। दीर्घकाल कोई निश्चित समय नहीं। साल-दो-साल एक जीवन, चार जीवन, कितना भी समय लग सकता है। इतना ही नहीं इस लम्बे समय में बीच-बीच में व्यवधान नहीं आने चाहिएं। साधना प्रारम्भ की, दो महीने बाद घर से पत्र आगया, चार महीने के लिए घर चले गए। फिर आकर 15 दिन नियमानुकूल रहने के बाद दीक्षागुरु से शिकायत की। इतने दिन होगए ओंकार का जप करते, कुछ भी मिला नहीं।

पतंजलि ने पांच हजार वर्ष पूर्व कह दिया था- 1. दीर्घकाल, 2. नैरन्तर्य, 3. सत्कारासेवितः, पूरी श्रद्धा से किया जाय। पूरी श्रद्धा के साथ साधना करने वाला साधक, घर जाने की उत्सुकता में परिवार के सदस्यों के पत्र की उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा नहीं करेगा। आश्रम में आने के बाद उसका व्यवहार सांसारिक लोगों से सर्वथा भिन्न होगा। ऐसा साधक पतंजलि के बनाए अष्टांग योग की साधना कर सकेगा। संसारी मनुष्य के लिए स्वाभाविक है कि वह सौदा करे। इतना तप, इतना स्वाध्याय किया, क्या मिला ? उसकी भाषा में मिलने का अभिप्राय पद, यश, सम्पत्ति आदि से होना स्वाभाविक है क्योंकि सारा जीवन उसने यही सौदेबाज़ी की है। साधना आश्रम में आ जाने के बाद भी उससे यह भूल हो जाना स्वाभाविक अवश्य है। परन्तु यदि वह सच्चे वैराग्य से आश्रम परिवर्तन करता है तो केवल वेश के परिवर्तन से काम न चलेगा। उसको अपने अभ्यास दृष्टिकोण में भी परिवर्तन करना होगा ।

साधारण किसान रबी या खरीफ की फसल बोने के बाद चार से छह महीने तक प्रतीक्षा करता है और उसको धैर्य्य का देवता समझा जाता है । बाग-बगीचे लगाने वाले माली या किसान फल प्राप्ति के लिए बरसों प्रतीक्षा करते हैं। परन्तु साधक को यह नहीं भूलना चाहिए कि इतनी प्रतीक्षा के बाद भी उनको जो फल मिलता है, वह भौतिक और नश्वर होता है। आश्रमवासी साधक जिस फल की प्राप्ति के लिए जीवन के अन्तिम चरण में, जबकि उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का लगभग दिवाला निकल चुका है, प्रयत्न करने लगा है। वह फल सांसारिक नहीं, संसार

में रह कर सब तरह के हथकण्डों का प्रयोग करके भी जिस मानसिक शक्ति को प्राप्त नहीं कर सका, उसको प्राप्त करने का यह उसका अन्तिम प्रयास है। इस प्रयास में यदि किसी प्रकार की त्रुटि रहती है तो सुफल की आशा करना व्यर्थ है। स्फुट वाक्य है- **'यावत् स्वस्थमिदं शरीरमरुजम्...'** इत्यादि। आत्मकल्याण की कामना करने वाले को जीवन के उसी भाग में प्रयत्न कर देना चाहिए, जब शरीर स्वस्थ हो, निरोग हो, इन्द्रियाँ अविकल हों ..... आदि।

अत्रि कहता है- घर में आग लग जाने पर कुआं खोदने की तय्यारी हास्यास्पद है। वृद्धावस्था चढ़े वर्षों बीत गए, शरीर व्याधि मन्दिर होगया, इन्द्रियों ने जवाब दे दिया; ऐसी शोचनीय दशा के होने पर कल्याण की सुध आई ! साधना ढ़ंग से हो नहीं सकती। तो भी, जपोंकी गिनती करके उसका फल मांगता है। फल तो इतना ही पर्याप्त है कि आश्रम ने इतना जप आदि करने का हमको अवसर दिया। साधक को देखना यह है कि वासना और तृष्णाओं की ज्वालाओं से संतप्त संसार को छोड़ कर आया है, इस आशा में कि आश्रम में साधना करके उस मानसिक शान्ति का प्रसाद प्राप्त करूँगा, जिसका कोई भी मूल्य नहीं लग सकता। रंगीन कंकड़-पत्थरों से भरी मुट्ठी, हीरे को देख कर उसके लिए स्थान रिक्त करने को स्वयं ढ़ीली हो जाती है। यह भी कोई त्याग है? सांसारिक विफलताओं से पीड़ित व्यक्ति यदि घर छोड़ कर आश्रमवास के लिए आता है तो यह उसका त्याग नहीं, उसका धन्यभाग है। इस अनमोल अवसर का पूरा लाभ उठाने के लिए साधक को संसार में खेले गए सब ही हथकंडों को भुला देना होगा। महर्षि पतंजलि के बतलाए अष्टांगयोग की क्रमपूर्वक साधना करने से उसको निरन्तर अपनी प्रगति का बोध होता जाएगा।

....

(5)

भिखारी कौन

भीख माँगने वाला बिना योजनाओं का जाल बिछाए भविष्य की सुनहली आशाओं की नकेल में खिंचा प्रातःकाल चौराहे पर आकर बैठ जाता है और अपनी तरफ से अधिक से अधिक कारुणिक काँपती आवाज में भीख मांगनी शुरू कर देता है। आशा बंधी रहती है कि कोई न कोई रईस सेठ या गाँठ का पूरा इधर से निकलेगा और एल्युमिनियम के फटे कटोरे में एक-दो मोहर डाल जाएगा। जब किसी सफेदपोश या साहबी ठाट वाले व्यक्ति को देखता है तो पूरा गला फाड़ कर अपनी कला का परिचय देता है। उसकी सफलता या विफलता का कोई लिहाज न करता हुआ सूर्य्य लगातार अधिक से अधिक गरम किरणों का जाल फैलाता आकाश में ऊपर चढ़ता जाता है । ज़ोर से चिल्लाने के कारण भिखारी के चेहरे पर पसीने की धाराएँ बह रही हैं। वह बारम्बार अपने कटोरे को देखता है। उसमें निकिल के दस पाँच सिक्के दिखलाई पड़ते हैं। दोपहरी की धूप से व्याकुल दो-तीन घण्टे किसी पेड़ की छाया में बिताता और दिन ढलने के साथ फिर उस ही पेशे को कम ताकत के साथ स्वीकार करता है। यह भिखारी पेट की भूख मिटाने के लिए भीख मांगता है, परन्तु जो संसारी मनुष्य लखपति और करोड़पति होकर भी रातदिन धन-पद-प्रतिष्ठा और सन्मान के पीछे भाग रहे हैं उनको हम भिखारी न कह कर, महात्मा, मिनिस्टर, प्रधानमंत्री, आचार्य, स्वामी आदि उपाधियों से सम्मानित करते है। दोनों प्रकार के भिखारियों में एक समानता है। दोनों अपनी किसी कमी को, अभाव को, खोखलेपन को भरने के प्रयत्न में हैं।

पेट की भूख मिटाने वाला भिखारी पशुवृत्ति के अनुसार शारीरिक आवश्यकता को पूरा करता हुआ पाप-पुण्य का भागी नहीं होता और इसीलिए उसको सांसारिक चिन्ताएँ नहीं सतातीं। जो भिखमंगे धन, पद, प्रतिष्ठा, सन्मान आदि के पीछे दौड़ रहे हैं वह सकाम कर्म करने वाले व्यवहार में छल-कपट का, असत्य आचरण का सहारा लेते हैं और उनका मन चिन्ताओं से ग्रस्त रहता है; रात में नींद नहीं आती, चिन्ताओं में अधिक शक्ति का व्यय होने से उस शक्ति को प्राप्त करने के लिए अधिक भोजन करने की आवश्यकता होती है। अधिक भोजन पचता नहीं। शरीर नाना प्रकार की बीमारियों का घर बन जाता है। मधुमेह, रक्तचाप आदि से पीड़ित व्यक्ति जितना अधिक धन

संग्रह करता जाता है, शारीरिक व्याधियाँ, पारिवारिक क्लेश, पड़ौसियों के साथ ईर्ष्या-द्वेष आदि मे भी उसी अनुपात से वृद्धि होती जाती है। सौभग्यशाली हैं वह विरले व्यक्ति जिनके जीवन में उपरोक्त कथन लागू नहीं होता। यह धन, पद, सन्मान के पीछे दौड़ने वाले संसार के कल्याण की भावना से ही ऐसा नहीं कर रहे। कहते यही हैं कि जनता की सेवा के लिए इतना कष्ट उठा रहे हैं, वस्तुतः जनता की सेवा की आड़ में अपने अन्दर उठने वाली एक अदम्य हूक को न पहचान कर उसकी तृप्ति के लिए गलत रास्ते पर जा रहे हैं। उनका यह विचार है कि योग से उत्पन्न रोग वैद्य से बहुमूल्य ओषधियाँ लेकर चिकित्सा करा लेंगे। रिश्वत देकर भारी से भारी अपराध कर के भी राज नियम से साफ बच जाएंगे। और भारी से भारी सामाजिक अपराध करके भी धन-बल से समाज के सन्मानपात्र ही बने रहेंगे, इत्यादि। पेट के भिखारी अज्ञानी अभागे अथवा समाजपीड़ित होने के कारण सर्वथा दया के पात्र हैं। धन के पीछे दौड़ने वाले भी एक तरह से मूढ़ और अज्ञानी हैं। वह भी दया के ही पात्र हो सकते है और उनकी भागदौड़ को उतनी ही दिलचस्पी से देखना चाहिए जितनी दिलचस्पी से रेसकोर्स में दौड़ते हुए घोड़ों को देखा जाता है। सबसे अधिक दयनीय तीसरी श्रेणी के वह भिखारी हैं जोकि सन्मान के लिए दौड़ते हैं। जनता सन्मानित करती है प्रायः उन लोगों को जो सचमुच जनता के लिए समर्पित होते हैं। जिन्होंने अपना सर्वस्व, अपना सारा जीवन जनकल्याण में बिताने का व्रत लिया है। परन्तु यह तीसरे प्रकार के भिखारी एक तरफ तो उदरपूर्ति की आड़ में दान संचय में लगे हैं और साथ ही साथ उच्चासन ऊँची कुर्सी पर भी उनकी लालचभरी निगाह गड़ी है। मनु ने सावधान किया - **"सम्मानात् ब्रह्मणो नित्यमुग्द्विजेत् विषादिव ।"** समझदार व्यक्ति को सन्मान से सदा ऐसे बचना चाहिए जैसे विष से बचा जाता है। राजनैतिक, सामाजिक यहाँ तक कि धार्मिक संस्थाओं के पदों के लिए भी, ये नासमझ सन्मान के भूखे भिखारी इस तरह ललचाई नज़रों से देखते हैं जैसे सड़ी लाश को गिद्ध । यह ऊँची कुर्सी पर बैठने की बीमारी मनुष्य में क्यों उत्पन्न होती है? पेट की ज्वाला शांत करने के लिए ।

सड़क के किनारे बैठा दिनभर चीखपुकार करने वाला भिखारी, समझ में नहीं आता है कि एक अत्यन्त आवश्यक, प्रारम्भिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए वह प्रयत्न करता है। धन के पीछे दौड़ने वाले भी इस अज्ञान के वश कि धन संसार की सब ही आवश्यकताओं की पूर्ति कर देगा सारा जीवन धन संग्रह को समर्पित करते हैं। परन्तु केवल अग्रसन या ऊँची कुर्सी पर बैठने के शौकीन अपने किस अभाव की पूर्ति करते हैं? यह केवल आत्मज्ञान का अभाव है। इन नम्बर तीन के भिखारियों को कभी अन्तर्मुख होकर अपने सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। कितने बड़े सौभाग्य का वह अधिकारी बना है। इस मनुष्य योनि को प्राप्त करके, इस पर उसने कभी ध्यान नहीं दिया । पाँचभौतिक शरीर तो प्राणिमात्र को प्राप्त है। इस भौतिक शरीर की

सम्पदा का यदि किसी वैज्ञानिक से मूल्य जानना चाहें तो बैंकों की सारी सम्पन्ति एक मानव शरीर का तो क्या एक घास की पत्ती का निर्माण भी नहीं कर सकती। फिर भी मनुष्य को एक ऐसा बहुमूल्य उपहार देकर भेजा गया है जिसका एक अंश भी किसी जौहरी की दुकान से प्राप्त नहीं हो सकता। उसका नाम है **'बुद्धि'** । अपनी इस अमूल्य सम्पदा का जिसको ज्ञान हो वह कभी भिखारी बन नहीं सकता। ऊँची कुर्सी, ऊँचा आसन, ऊँचा पद प्राप्त करने की दौड़ में लगा साधक आत्मज्ञान के अभाव में संसार से सन्मान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। जिस सन्मान से आत्मज्ञान के प्राप्त होने पर वह अपने को सन्मानित समझ सकता है अपने हाथ अपने खोए सन्मान को उस सन्मान का भिखारी संसार के लोगों के सामने सड़के के किनारे बैठे भिखारी की तरह हाथ फैला कर माँगता है। रोटी का भिखारी तो क्षणिक पेट की ज्वाला को शान्त कर लेगा पर सन्मान के भिखारी के पेट में तो ऊँचा आसन मिल जाने के बाद वह ज्वाला उठेगी जोकि किसी भी डाक्टर के वश से बाहर होगी। मनुष्य जीवन प्राप्त करने के बाद इस तीसरी भिखमंगी से बचने के लिए **'आत्मज्ञान'** प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

साधक प्रश्न करता है **'यह आत्मज्ञान क्या** है? **और कहाँ से कितने में मिलता है?** साधक जो सत्तर वर्ष सांसारिक सौदेबाजी में बिता कर आया है, उसके लिए यह प्रश्न स्वाभाविक है। आत्मज्ञान का अभिप्राय है कि व्यक्ति को अपनी केन्द्रीय चेतना और उसके साधनभूत शरीर और उसके अंग-प्रत्यंग के सम्बन्ध में केवल जानकारी नहीं वास्तविक ज्ञान, ऋषिओं ने पञ्चमहायज्ञों का विधान करते हुए इस आत्मज्ञान के ऊपर पूरा ध्यान दिया था। सबसे पहला यज्ञ **'ब्रह्मयज्ञ'** है । ब्रह्मयज्ञ का अर्थ है ब्रह्माण्ड में भीतर बाहर व्याप्त व्यक्त् परब्रह्म के साथ संगतिकरण के लिए देश-काल में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। परब्रह्म सर्वव्यापक है। उसके साथ संगतिकरण के लिए स्थान विशेष, मठ-मन्दिर, गंगा-तट या हिमालय की कन्दरा की आवश्यकता नहीं। तीनों काल-भूत, भविष्य और वर्तमान, में वह एक रस रहता है, अर्थात् उसको 'कालबाधा' नहीं। इस संगतिकरण के लिए ब्रह्मयज्ञ में विधान है। दूसरे ही वाक्य में **'ओं वाक् वाक्'**... आदि। 'ओं' नामक परब्रह्म के साथ संगतिकरण के लिए जीवात्मा के भौतिक साधन स्थूल शरीर के अंग-प्रत्यंग को दृढ़ बनाने का साधक का सर्वप्रथम संकल्प है। साधक संकल्प करता है कि 'मेरी वाणी, -मेरे मनोगत भावों का ठीक-ठीक प्रकाश करने वाली हो' । **वाणी मन का वाहन है**। मन में उठते विचार तक किसी न वाणी का सहारा ले ही उठते हैं। कण्ठ जिह्वा साधनों से प्रकट होने वाली वाणी यदि प्रकट न भी हो सके तो मानस तल पर मन की क्रिया का आधार वाणी ही होती है। अंग-प्रत्यंग को कार्यक्षम बनाने का संकल्प करने के बाद उन अंगों में **'भूः पुनातु शिरसि'** आदि वाक्य से उन सब साधनों की पवित्रता का संकल्प है। परब्रह्म द्वारा दिये गए इन साधनों का साधक कभी स्वार्थवश विषय वासना

की पूर्ति के लिए उपयोग न करे जिससे लोक कल्याण का विधान हो। साधक अपने भौतिक साधनों का निरीक्षण करता हुआ उनको सूक्ष्म और पवित्र बनाने का निरन्तर प्रयत्न करता है। ऐसा साधक जिसको अपने इतने सारे बहुमूल्य साधनों को बलवान् और पवित्र बनाने की चिन्ता है, क्या कभी भिखारी बन सकता है?

यह तो हो गया बहिरंग साधन का कार्यक्रम । इसी ब्रह्मयज्ञ में साधक आगे बढ़ कर प्राणायाम के दैनिक विविधवत् अभ्यास से मन को बहिरंग साधनों से हटा कर कुछ समय के लिए उसको अन्तरंग करने का प्रयास प्रारम्भ करता है। यह ठीक वही स्थिति है जबकि माता के दुलार में पले स्वस्थ खिलाड़ी बालक आचार्यकुल के अनुशासन में रहने के लिए भेज दिया जाता है। समझदार आचार्य बालक को, माता का प्यार, पिता का संरक्षण दोनों अधिक मात्रा में देकर उसको एक अपरिचित नए और पहले से भी अधिक आकर्षक वायुमण्डल में प्रवेश कराता है जिसमें प्रविष्ट होकर बालक अपने जनक माता-पिता को लगभग भूल ही जाता है। प्राणायाम प्रत्याहारादि साधनों से साधक मन को अन्तरंग करने का प्रयास करता है। इस अंतरंग मौन की स्थिति में मन को यदि परब्रह्म के संगतिकरण (सान्निध्य - उपासना) की एक भी झलक मिल जाती है तो उसका मन, काम, क्रोधादि क्लेशों से प्रेरित बाह्य विषयों के आकर्षण से युक्त होकर निवृत्ति मार्ग का पथिक बन जाता है ।

गोलकुण्डे के किसान की-सी स्थिति में पड़ा साधक, जिसको आत्मज्ञान के अभाव में, घर के आंगन में पड़े हीरे का पता न था, सारे जीवन बकरियों को चराता कष्ट से जीवन यापन कर रहा था, जब उसके बहुमूल्य साधनों - चक्षु, श्रोत्रादिकों का ज्ञान हो गया, अपना मूल्य उसने आंक लिया। तब वह सांसारिक व्यक्तियों के सामने दिखावटी संन्यास को प्राप्त करने का विफल और हास्यास्पद प्रयास कभी न करेगा।

....

(6)

त्र्यम्बकं पुष्टिवर्धनम्

साधक को प्रतिदिन अपनी उन्नति अवनति का लेखा-जोखा रखना ही चाहिए। बुद्धिमानों का कथन है - **"जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः"** - एक-एक बूँद करके घड़ा भर जाता है और उसी तरह से खाली भी हो जाता है। जिस तरह गृहस्थाश्रम में एक-एक पैसा जोड़ कर वह लखपति से करोड़पति बना, वैसे ही कल्याण मार्ग पर एक-एक कदम आगे बढ़ता, वह अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जो अपनी दैनिक उपलब्धि पर नज़र नहीं रखता, हो सकता है उसका घड़ा चू रहा हो और एक दिन उसको, यह बुरा समाचार सुनना पड़े कि घड़ा तो खाली हो गया।

मृत्युञ्जय मन्त्र में कहा गया है कि **'पुष्टि'** अर्थात् परिपक्वता की तरफ बढ़ते हुए अपने जीवन को सफल बनाने के लिए मनुष्य को उचित है देव-पूजादि याज्ञिक कर्मों से अपने को पवित्र करता रहे। प्रौढ़ता के बाद परिसमाप्ति की तरफ तो सब ही बढ़ते हैं, अथवा बढ़ना पड़ता है, परन्तु इस जीवन की परिसमाप्ति को, जिसको कि साधारण भाषा में **'मृत्यु'** कहते हैं, जीवन की परिपक्वता बना देना उद्देश्य होना चाहिए। और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसको याज्ञिक कर्म करने चाहिएं। याज्ञिक कर्म एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है 'यज्' धातु से सम्बन्ध रखने वाला कर्म। वह कर्म तीन प्रकार के होते हैं। सबसे प्रथम है **'देवपूजा'**, इसके भी दो अर्थ हैं, किसी विशिष्ट गुण से प्रसिद्ध व्यक्ति को देव कहते हैं, जिसका स्वभाव देने का हो; उसको भी देव कहते हैं। इनका साकार करना देवपूजा कहलाती है। पूजा का अर्थ है **'सत्कार'**, उसकी आवश्यकता की पूर्ति द्वारा उसको प्रसन्न करना।

महर्षि व्यास के शब्दों में - **"देवान् भावयतानेन् ते देवाः, भावयन्तुवः"**। देने के स्वभाव वाले लोग तुमको देते ही रहते हैं। उनकी आवश्यकताओं को पूरा करके तुम उनको प्रसन्न करो, प्रसन्न हुए देव और भी अधिक देंगे। यह है एक प्रकार का यज्ञकर्म।

दूसरा यज्ञकर्म है **संगतिकरण**। संगतिकरण का अर्थ है, **'संघटन'**। **'संगच्छध्वं संवदध्वं'** आदि मन्त्र में इस संगतिकरण का स्पष्ट व्याख्यान है। काम करना, बोलना, विचारना, ध्यान करना, उपसना करना आदि सब ही क्रियाकलापों में सामञ्जस्य रखना, परस्पर विरोध अथवा विषमता न हो।

मनस्यन्यत्, वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् ।

यज धातु का तीसरा अर्थ है **'दान'** । दान शब्द दो अवखण्डों से बना है। हमारा अहंकार और उसकी छाया, ममत्व, सांसारिक पदार्थ और विचारों का संग्रह मात्र है। इस संग्रह को छिन्न-भिन्न करके समाप्त कर देना वास्तविक साधना है। इस ही का वास्तविक नाम दान है। व्यक्ति अथवा पदार्थ की अहंकृति का पूर्ण परिचय व्यक्ति के नाम अथवा रूप से लगता है। सबसे अधिक ममत्व नाम के साथ होता है। जब राजा दिलीप सौवाँ अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे तो प्रथा के अनुसार घोड़ा छोड़ा गया था। अभिप्राय यह था यदि किसी को दिलीप के सम्राट् होने में आपत्ति हो तो घोड़े को पकड़ ले। देवराज इन्द्र ने उसका अपहरण करते हुए कहा, **"द्वितीयगामी न हि शब्द एषः नः"** हमारे इस "शतक्रतु" नाम का दूसरा कोई नहीं हो सकता। परन्तु अन्तिम पड़ाव पर जाने के अभिलाषी साधक को इन अपने नाम और रूप दोनों का परित्याग **'दान'**, अपने से अवखण्डित (पृथक्) करना आवश्यक है। उपनिषद् का वाक्य है

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छंति नामरूपंविहाय ।"

ऋषि ने अचेतन नदी की उपमा दी है। जिस तरह समुद्र में अपने आपको लीन करने से पहले नदी अपने नाम और रूप का परित्याग कर देती है, उसी प्रकार परब्रह्म में लीन होने के अभिलाषी साधक को अहंकार और इस अहंकार की सब परछाईयों- ममत्व, धन, पद आदि त्यागना, अपने से पृथक् करना आवश्यक है। इसी का नाम दान है। यह अहंकार की परिछाईयाँ आत्मज्योति का आवरण बनी हुई साधक के मार्ग का सब से भारी विघ्न है। इस नाम रूप के परित्याग का नाम ही परिग्रह समर्पण है। आत्मा का अपना है ही क्या? जिसको वह किसी को समर्पित कर सके, उसके पास केवल उसका अहंकार है जो कि महर्षि पतंजलि की सम्मति से सर्वप्रथम क्लेश है। संसार में इस क्लेश के बोझ से पीड़ित जीवात्मा, जीवन की यथार्थ परिपक्वता को प्राप्त नहीं कर सकता। इस परिपक्वता को प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक आवश्यक अपने को हलका करना है। लेकिन दान की प्रक्रिया इस महान् दान **'समग्रसमर्पण'** की निरन्तर स्मृति के लिए साधक इस तथ्य को न भूल जाय, इसलिए मनु ने कहा -

"यज्ञोऽनृतेन तपः क्षरति विस्मयात् आयुर्विप्रावमाननात् दानं च परिकीर्तनात् ।"

दानी दान देने वाला यदि उसके द्वारा प्रसिद्धि चाहता है तो दान का जो वास्तविक फल है उससे वह वंचित रह जाता है। दान का फल तो यही है कि दानी स्मरण रखे कि एक दिन मुझे **'आत्मसमर्पण'** करना है।

इन उपरोक्त तीन प्रकार के याज्ञिक कर्मों को करता हुआ साधक निरन्तर परिपक्वता की तरफ अग्रसर होता है। परिसमाप्ति की तरफ तो प्रत्येक व्यक्ति अग्रसर होता ही है, यह परिसमाप्ति केवल साधारण मृत्यु ही है, जिसके उपस्थित होने पर सांसारिक व्यक्ति, जो कि अभी तक सांसारिक पदार्थों, अपने परिजनों आदि से ममत्व का बंधन नहीं तोड़ सकता था, उनके वियोग में रोता है, उनको देखकर आँसू बहाता है। देवपूजादि याज्ञिक कर्म करने वाला व्यक्ति वह है जिसने अपने व्यक्तित्व को अज्ञेय आदिमूल सत्ता के हाथ में समर्पित कर दिया है। अपने सिर पर से उत्तरदायित्व का सारा बोझ उतार कर, जिसका उत्तरदायित्व है, जो वास्तविक कर्ता, उसी को सौंप दिया है। अहंकार से भरा संसारी व्यक्ति अपनी महत्ता प्रदर्शित करने के लिए अपने से असम्बद्ध भी अनेक कामों की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है।

एक बार एक हास्यप्रिय साधक रेल की यात्रा में अपनी जगह बैठने से पहले अपना ट्रंक और बिस्तर अपने सर पर रखकर बैठ गया। यह दृश्य ही ऐसा था कि साथ के यात्रियों को हँसी आगई। किसी ने पूछा, 'यह सामान सिर पर क्यों रखे है? ऊपर सामान रखने की जगह तो है।' साधक बोला, 'टिकट तो मैंने अपना ही लिया है, रेल पर सामान का बोझ क्यों डालूँ।' एक यात्री ने कहा, 'सामान आपके सिर पर जरूर है, फिर भी तो उसका बोझ रेल पर ही है'। प्रसन्न होकर साधक बोला, 'आप सब तत्वज्ञानी प्रतीत होते हैं। यदि यही समझ सांसारिक व्यवहार में भी सब लोग काम में लाने लगें तो संसार से अहंकार की मात्रा में कमी आ जाय। अभी तो यह दशा है कि माता-पिता के संरक्षण में शिक्षा पाकर और बड़ा होकर एक ग्रेजुएट अपने को सैल्फ-मेड कहने का दम्भ भरता है। जो अपने प्रत्यक्ष माता-पिता की सहायता के लिए भी कृतज्ञ नहीं, वह अज्ञात और अज्ञेय आदि मूलसत्ता के प्रति कैसे कृतज्ञ हो सकता है? याज्ञिक व्यक्ति, जिसने अपने को पूर्ण समझा, समर्पित कर दिया है। अर्थात् जिसमें अहंकार का लेश भी नहीं, वह जीवन की समाप्ति पर मृत्यु को सामने खड़ा देखकर रोता नहीं। इतना ही नहीं कि रोता नहीं, अन्तरात्मा से प्रसन्न होता और मुस्कुराता है। जीवन-मरण को एक साधारण सा प्राकृतिक खेल समझता है। कहते हैं पारसी मत का प्रवर्तक जरदुष्ट पैदा हुआ तो हँस रहा था। साधारणतया तो बच्चा पैदा होने के समय रोता है, मरने और जीने के बीच का समय तो स्वप्न समान है। जो सोने से पहले प्रसन्नचित्त आदिमूल सत्ता को धन्यवाद देता, सोया था, वह प्रातः जागते ही वैसा ही प्रसन्नचित्त और धन्यवाद से मरा होगा।

मरने के समय जो रोता हुआ मरेगा, वह जन्म लेते समय भी रोता ही पहला श्वांस लेगा। मृत्युञ्जय मंत्र में भी यही भाव है। जीवन को जिस साधक ने यज्ञमय बना लिया है, देवपूजा, संगतिकरण और दान तीनों की महिमा जान कर उस पर आचरण किया है, वह इहलोक में न चाहता हुआ भी यश का भागी होगा। उसका जन्म मृत्यु के लिए नहीं हुआ था, वह अपनी साधना से अपने जन्म को सफल जीवन बनाने में समर्थ हुआ है। और इस ही लिए मृत्यु के आगमन के समय वह किसी से वियोग का अनुभव नहीं करता। वियोग नहीं तो रोना कैसा? महर्षि व्यास के उपदेश के अनुसार **'फटा कुर्ता उतार कर नया वस्त्र धारण करने की तैयारी में'** है। इसका जो उदाहरण दिया है, वह हृदयंगम करने की आवश्यकता है। जो साधक इस प्रकार याज्ञिक भावना से कर्म करता हुआ अपने जीवन को परब्रह्म में समर्पित करके मृत्यु का आलिंगन करता है वह पक्के खरबूजे की तरह जैसा पका खरबूजा चुपके से अपनी चिरपरिचित डाल से अलग हो जाता है, न तो खरबूजे की बेल से कोई आँसू टपकता है न खरबूज कोई कारुणिक शब्द करता है। उसके सफल जीवन की कहानी खेत के मालिक तक पहुँचा देती है। साधक कहता है, 'मैं भी इसी खरबूजे की तरह मृत्यु के समय जब परिजनों से विदा लूँ तो मेरे याज्ञिक कर्मों की सुगन्ध से आकृष्ट होकर दूसरे साधक भी इस मृत्युञ्जय मंत्र की भावना को आत्मसात् करते हुए अपने जीवन को निरन्तर परिपक्वता की ओर बढ़ाते चले जायं। दीर्घजीवन नहीं **"सफल परिपक्व जीवन"** साधक की साधना का लक्ष्य होना चाहिए ।

....

(7)

विषयाविनिवर्तन्ते

विषयों को विषय इसलिए कहते हैं कि ये पुरुष को बड़े बल के साथ बाँध लेते हैं। स्वभाव से मुक्त पुरुष को जकड़ कर बाँधने वाला पदार्थ, अवश्य ही बहुत बलवान होना चाहिए। वस्तुतः बात ऐसी नहीं। विषय तो जड़ प्रकृति के गुण हैं। उनमें न कोई इच्छा है, न शक्ति है। रंगरूप में, शक्ति में, गन्ध में, किसी भी प्राकृतिक पदार्थ के गुण में किसी को अपने पास स्वयं खींच लाने की सामर्थ्य नहीं, फिर यह भ्रान्ति कैसी कि विषय बाँध लेते हैं । भ्रान्ति केवल काल्पनिक नहीं, उनका नाम भी विषय इसलिए पड़ गया कि विषय पुरुष को नहीं बाँधते, स्वयं पुरुष विषयों से बँध जाता है।

स्वभाव से मुक्त पुरुष जड़-प्रकृति के गुणों से कैसे बँध सकता है? प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। दोनों में कोई साधर्म्य नहीं। इसलिए दोनों का सम्बन्ध स्वीकार करना भी उचित नहीं। **'समानशीलव्यसनेषु सख्यमाकर्षणं"** - मैत्री समान स्वभाव वालों में ही होती है। जड़-प्रकृति और चेतन पुरुष के बीच में अन्तःकरण नाम का एक तन्त्व है, जोकि स्वभाव से तो जड़ है, परन्तु पुरुष की अत्यन्त समीपता से उसमें चेतना आ जाती है और वह चेतन की तरह काम करने लगता है। स्वभाव से जड़ इसलिए है कि वह महत्त्व का अंश है, चेतना उसने जीवात्मा से प्राप्त कर ली है। अब वह चमगादड़ की तरह पशु भी है और पक्षी भी।

यह अन्तःकरण जड़-प्रकृति के साथ रागद्वेष का सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, क्योंकि दोनों में जड़ समान धर्म होने से वह सजातीय है। यह अन्तःकरण इन्द्रियों का स्वामी है। इन्द्रियाँ इसके बिना काम नहीं कर सकती। अन्तःकरण की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ, आँख, कान, नाक आदि; प्राकृतिक पदार्थों फूल, फल आदि के गुणों का ज्ञान प्राप्त करती हैं। अन्तःकरण ही उन गुणों में अनुकूल वेदना और प्रतिकूल वेदना के आधार पर रागद्वेष का सम्बन्ध स्थापित करता है। विषयों में आकर्षण पुरुषों को नहीं होता। अर्ध चेतन अथवा अर्ध जड़ अन्तःकरण इन्द्रियों की सहायता से विषयों में आकृष्ट होता है। राग से आकर्षण वैराग्य से विकर्षण होता है। जब राग होता है, उस समय अन्तःकरण, इस आशा से कि इस विषय के सेवन से इन्द्रियाँ प्रसन्न होंगी और इन्द्रियों की प्रसन्नता अथवा उनकी अनुकूल वेदना अन्तःकरण को तृप्त करती हैं।

यह सारा व्यापार यदि यहीं समाप्त हो जाय तो आगे न बढ़ें। अन्तःकरण के साथ पुरुष ने तादात्म्य स्थापित किया हुआ है, यही सबसे बड़ा रोग अथवा क्लेश है, जिसकी उत्पत्ति पुरुष की अविद्या से कमसमझी के कारण हुई । इस ही को महर्षि पतंजलि ने **'अस्मिता'** (क्लेश) कहा है। यदि यह अस्मिता अथवा अन्तःकरण के साथ एकात्मता की घटना न घटती तो पुरुष (जीवात्मा) स्वभाव से मुक्त था। उसको हर्ष-शोक में पड़ने की कोई आवश्यकता न होती। इस उलझनदार प्रक्रिया को सामने रख कर महर्षि व्यास ने कहा **"विषयाविनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः"** । 'देहिनः' अर्थात् पुरुष को आहार न मिले तो विषय लौट जाते हैं। सामने होने पर भी प्रभाव नहीं ।

प्रश्न स्वाभाविक है - **क्या पुरुष भी आहार करता है ?**

शरीर का आहार स्थूल अन्नादि है। इन्द्रियों का आहार प्रकृति के प्राकृतिक पदार्थों के गुण, रूप, रस आदि हैं। अन्तःकरण का आहार इन्द्रियों के अनुकूल या प्रतिकूल वेदना अनुभूति है, और 'जीवात्मा पुरुष का आहार' है अन्तःकरण की वेदना और अनुभव, जिसका महर्षि पतञ्जलि ने '**अस्मिता**' नाम रखा है। यदि पुरुष अपने आहार स्वरूप अस्मिता का परित्याग कर दे तो विषय लौट जाते हैं। विषयों का अन्तिम ध्येय पुरुष को हर्ष-शोक, सुख-दुःख से युक्त करना है। जब विषय अपना सारा रास्ता तय करने के बाद मंजिल पर आये और देखा कि उनका अन्तिम लक्ष्य 'पुरुष को प्रभावित करना', सुखी या उदासीन करना है। उसको इन विषयों से उत्पन्न की गई अनुकूल या प्रतिकूल प्रतीति में कोई दिलचस्पी नहीं तो मानों कि निराश होकर वह लौट जाते हैं। बात यहीं पर समाप्त नहीं होती। पुरुष ने साधना करके यह स्थिति प्राप्त की है कि विषयों में उसको राग न रहा। राग के अभाव में पतंजलि मुनि के बतलाए साधनों से साधक को वैराग्य हुआ। वैराग्य की मनःस्थिति प्राप्त करने के लिए विषयों में दोषदर्शन आवश्यक था। इस दोर्षदर्शन के निरन्तर अभ्यास से चित्त की अशान्ति और भी बढ़ गई। राग प्रायः विषय संयोग पर होता था, विराग अथवा द्वेष तो विषयों के अभाव में भी त्रस्त करने लगा। इस सचाई का अनुभव कर लेने के बाद साधक ने राग-विराग दोनों का परित्याग किया, और वीतराग की स्थिति में आगया।

अभी उसकी यात्रा की अंतिम मंजिल नहीं आई। महर्षि ने कहा **'रसवर्जम्'** । विषय तो अब साधक पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव नहीं करते परन्तु अन्तश्चेतना में दमित संस्कार अभी तक पड़े हैं। इन संस्कारों का नाम 'आशय' है। जिसका अर्थ है **'आशेरते फलावधि'**, जब तक फल प्राप्ति का अवसर न आजाय पड़े रहते हैं। उनके जीवन काल की कोई सीमा नहीं। इस स्थिति का नाम **'असम्प्रज्ञात'** है। जिसका विवरण यह है कि समाधि लाभ होने पर भी संस्कार अन्नश्चेतना में विद्यमान रहते हैं। बड़े-बड़े नामी सिद्धपुरुष कालान्तर में काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं से पराजित होते देखे जाते हैं। पौराणिक गाथाओं में प्रायः सब ही देवी देवताओं को काम, क्रोध आदि का शिकार बनाया गया है, उनका यही तात्पर्य हो सकता है कि साधक को साधना सिद्धि के अहंकार

में यह नहीं भूलना चाहिए कि दमित शत्रु अन्तश्चेतना में छिपकर बैठा है; घात लगाए है कि कब अनुकूल अवसर आये और 'मैं प्रकार करूँ'। घात लगाए बैठे शत्रु के प्रहार से बचना अत्यन्त कठिन काम है। इसका भी महर्षि मार्ग बतलाते हैं

"रसोऽप्यस्य परंद्रष्ट्वां निवर्तते ।"

ये संचित संस्कार भी निराश विषयों की तरह कार्यक्षेत्र को छोड़कर लौट सकते हैं। यदि साधक परात्पर आदि मूल सत्ता पर ब्रह्म का दर्शन कर ले।

अब प्रश्न केवल इसना ही शेष है कि साधक परात्पर परब्रह्म का दर्शन कैसे कर ले? श्रीकृष्ण और हनुमान के दर्शन तो उनके भक्तों ने अनेक बार किए हैं। वह दर्शन भक्तों की निजी कल्पना के आधार पर होते हैं। रात में आए स्वप्न की तरह सर्वथा काल्पनिक और वैयक्तिक होते हैं। एक व्यक्ति को आया स्वप्न किसी भी दूसरे व्यक्ति को दिखलाया नहीं जा सकता। क्योंकि वह उस स्वप्नद्रष्टा की निजी कल्पना है। इष्ट देवताओं के दर्शन भी इस ही तरह वैय्यन्तिक कल्पना है, यथार्थ नहीं। पदार्थ का ज्ञान, उसके गुण अथवा कर्म से होता है। यह चित्र-विचित्र ब्रह्माण्ड उसकी रचना है, उसका कर्म है। इस रचना में अव्यन्क्त अवर्णनीय ब्रह्म ने अपने को मानव मात्र के लिए प्रत्यक्ष कर दिया है। उपनिषद् में कहा गया है - **"परोक्ष प्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः"**। इसका यही आशय हो सकता है कि समझदार लोग जो कुछ स्थूल इन्द्रियों से दिखलाई देता है उससे सन्तुष्ट न होकर, जो स्थूल इन्द्रियों से न दिखलाई देने वाला परोक्ष पदार्थ है, उसका ही दर्शन चाहते हैं। 'देवाः' विशेषण ध्यान देने योग्य है। परोक्ष तत्त्व के दर्शन केवल विद्वानों को ही हो सकता है। साधारणतया मनुष्य मात्र बुद्धि वाला है। इस बुद्धि को काम में लाना अथवा न लाना ये प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इच्छा पर है। इस बुद्धि को काम में लाने वाले को 'देव' कहा गया है। ये देव इस प्रत्यक्ष और स्थूल ब्रह्माण्ड की रचना को देखकर, रचना में आसक्त होकर, जन्ममरण के चक्र में पड़ने के स्थान पर रचना के रचयिता के दर्शन करता है। रचना में अनेकता की सीमा नहीं। वैज्ञानिक लाखों वर्ष प्रयत्न करने पर भी इसका अन्त नहीं पा सकते। इस अनेकता को आवश्यक योग्य सामग्री समझ कर उसका भोग करने वाला साधक इस अनेकता के पीछे छिपे हुए एक तत्त्व का दर्शन करता हुआ अपनी जीवन यात्रा को सफल कर लेता है।

''''''''''

(8)

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते

'यज्' धातु से **'यज्ञ'** शब्द सिद्ध होता है। यज धातु के तीन प्रसिद्ध अर्थों में देवपूजा सबसे पहला है। यास्काचार्य ने देव शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा **'देवो दानात्'**, जिसका स्वभाव देने का हो, उसको देव कहना चाहिए और देव की ही पूजा करनी चाहिए। पूजा का अर्थ साष्टांग दण्डवत् नहीं। साष्टांग दण्डवत् प्रणाम तो प्रायः अंधश्रद्धा और धोखाधड़ी में ही काम आता है। पूजा का अर्थ व्यासदेव ने **'देवान् भावयत्'** में भावना अर्थात् तृप्ति किया है। देव पूजा का अर्थ हो गया कि देने वालों अथवा उनको जिनका स्वभाव देने का है, उनको तृप्त करो। तृप्ति कब नहीं होती, जब अभाव होता है। इसलिए अभाव को पूरा करने का नाम पूजा है। सर्वसाधारण में यह अभाव ज्ञान का, न्याय का अथवा भोग्य सामग्री का किसी भी एक को हो सकता है। इन अभावों की पूर्ति करने वाले क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य होते हैं। ये अपने-अपने वर्ग के सेवाव्रती जोकि जनकल्याण के लिए अपने संचित अमृत का निरन्तर दान देते रहते हैं उनका नाम 'देव' होता है। ब्राह्मण अपने संचित **'ज्ञानामृत'** से, क्षत्रिय संचित **'अभयान्यायामृत'** से, वैश्य अपने संचित **'धनधान्यादि'** से जनसाधारण की सेवा किया करते हैं। वे **'विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय'** अर्थात् शास्त्रों के ज्ञाता होने के बाद भी वे अपने-अपने ज्ञान का उपयोग विवाद में किया करते हैं।

बलवान् अपने बल का उपयोग, निर्बलों को सताने में किया करते हैं, धनी वैश्य अभावग्रस्तों की सहायता करने के स्थान पर धन मद में मत्त होकर अभाव ग्रस्तों का शोषण प्रारम्भ कर देते हैं। जन साधारण की चेतना इतनी प्रबुद्ध होनी चाहिये, कि इनमें से कौन पूजा के योग्य है और कौन तिरस्कार के योग्य है; अपने ज्ञात इतिहास में जब-जब जनसाधारण में ज्ञान पिपासा प्रबल रही, ज्ञानियों को पुजा अथवा सम्मान का, सर्वप्रथम स्थान दिया गया। आदर्श ब्रह्मज्ञानी कुल पुरोहित के आने पर, राजा अपने सिंहासन से उतर कर उसकी अभ्यर्थना करता था, यह कालान्तर में जब परम्परा बनाई तो पुरोहित तत्त्वज्ञानी न रह कर सम्मान के भूखे हो गए। सर्वोच्च सम्मान

जिसका पात्र स्नातक को समझा जाता था **"राजस्नातकयोश्चैवस्नातको नृपमानभाक्"** - क्षत्रिय को राजा को मिलने लगा । राजसभा में पुरोहित के आने पर राजा अब अपने सिंहासन से उतरता नहीं उसको एक आसन भर दे देता था। यह परम्परा भी न चली । समय के प्रभाव से क्षत्रिय भी विषयासक्त हुआ जब साहसिक डाकू न रहते निर्बलों के रक्षक गाढ़ निद्रा में चले गये इस स्थिति में वैश्यों की बारी आई। ज्ञानी और न्यायी दोनों को परास्त कर भूतपूर्व दानी उच्चासन पर चढ़ बैठा। यह है आज का युग। वर्तमान युग में सर्वोच्च आसन धनपति को ही दिया जाता है। चाहे वह शास्त्रज्ञान से सर्वथा शून्य हो व्याधिओं से पीड़ित शारीरिक दृष्टि से सर्वथा असमर्थ हों। इस वैश्य युग में केवल धनपति होने की क्षमता होने के कारण जनता उसी का सम्मान करती है। देवपूजा के अनुसार केवल दानी ही सर्वोच्च संस्कार का पात्र होना चाहिए। **'सर्वेषामेव दानानांब्रह्मदानं विशिष्यते'** दानों में ब्रह्मविद्या आत्मज्ञान का दान सर्व श्रेष्ठ है। दान तो भोजन का अभय का उत्तम है, परन्तु ज्ञान का दान सर्वोत्तम है। रूसी महर्षि टाल्सटाय ने कई दिन तक अभावग्रस्त लोगों को पैसे देकर देखा कि दिन पर दिन उनकी संख्या बढ़ती जाती है। कटु अनुभव से यह निर्णय लिया प्रतिदिन दान देने की अपेक्षा इनको श्रम का मूल्य समझाने की, ज्ञानदान की आवश्यकता है कि परिश्रम करके रोटी कमाओ - **'कृषिमित् कृषस्व'** - परिश्रम करके भूमि माता से एक दाना बोकर दस पैदा करो । ऐसी शिक्षा देने वालों का युग जब चला गया, तब शिक्षा देने वाले चरणस्पर्श करने वाले खुशामदियों के गुलाम बन गए। सन्त-महन्त-मठाधीश सब इस ही श्रेणी के हैं। चेले-चेली-अनुयायी और शिष्यों की संख्या पर नज़र रखते हैं। ऐसे ही लोगों के लिए कहा गया है - **"लोभी गुरु, लालची चेला, दोनों खेलें दाँव"**। इस प्रकार की अंधपरम्परा को देख किसी ने कहा-

"अपूज्याय यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां तु विमानना
प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्"

देवों की, दानियों की पूजा सत्कार होना चाहिए, जब उनका तिरस्कार होता है, और जिनका सत्कार नहीं होना चाहिए उनका सत्कार होता है। उस वर्ग देश या राष्ट्र में अकाल, महाकारी आदि दैवी विपत्तियों का बोलबाला रहता है। यज्ञ की बड़ी महिमा गाई गई है। काल का प्रभाव है कि वह यज्ञ केवल अग्निहोत्र में संकुचित हो गया है। निःसन्देह अग्निहोत्र भी यज्ञ है, क्योंकि इससे वायु वृष्टि, जल शुद्धि और देवों के संगतिकरण का उपदेश मिलता है। परन्तु यज्ञ का वास्तविक अर्थ तो वे तीन प्रकार के कर्म हैं जिनका निर्देश धातु पाठ में 1. देवपूजा, 2. संगतिकरण, 3. दान- इन तीन प्रकार के कर्म, किया गया है। जिस समाज या वर्ग में इन तीन प्रकार के कर्मों पर आचरण नहीं होता उसकी अधोगति होती है।

"यज्ञात् भवति पर्जन्यः यज्ञः कर्म समुद्भवः।"

उपरोक्त तीन प्रकार के कर्मों के अनुक्रम से मनचाही वृष्टि होती है। इन्हीं तीन प्रकार के शुभ कर्मों का नाम यज्ञ है। इस यज्ञ की निष्पत्ति उन कर्मों द्वारा होती है जिनका विधान शास्त्रों में है। इसके अनुसार देवपूजा सर्वप्रथम यज्ञ कर्म है। इसी देवपूजा की भावना के अनुसार-

"या गौ वर्तनि पर्यति पयोदुधना व्रतनी अवारतः।
सा प्रत्युवाणा वरुणाय दाशु से दाशत ....।"

गायों की – सायम्प्रातः केवल घास खाकर दूध देने के कारण, देवों में गणना की गई है। **'मातृदेवो भव'** आदेश में माता को सर्वप्रथम देव माना है, और गौ को भी माता के समान स्तन्य देने वाली होने के कारण माता माना गया है। जिस देश में माता अर्थात् स्त्री जाति और गोवंश इन दो परम देवों की मान्यता सुरक्षा और संवर्धन की व्यवस्था नहीं वह अपने को याज्ञिक अर्थात् यज्ञ कर्म करने वाला कहलाने का अधिकारी नहीं।

भारत देश में वर्तमान काल में स्त्री जाति की और गोवंश की जो शोचनीय दशा है उसका शब्दचित्र खींचना लगभग असंभव है। **"उद्धरेदात्मनात्मानम्'** का आदेश महिला समाज के लिए बड़ा उपयोगी है। स्त्रियों में प्रचलित अंधविश्वासों की परम्परा को क्या किसी ने ऊपर से लादा है? स्त्रियों के प्रचलित आभूषण प्रेम, क्या किसी विदेशी शासकों की देन है? दहेज प्रथा और उसके दुष्परिणामों के लिए, क्या माताएं स्वयं उत्तरदाता नहीं । बचपन में बच्चों के साथ सीमातीत लाड़-प्यार क्या पुरुष वर्ग का काम है? महिला समाज **'उद्धरेदात्मना'** वाक्य को जयघोष बनाकर अपनी निर्बलताओं का त्याग करके सच्ची माता बन जायं तो **"मातृमान् पुरुषो वेद"** की उक्ति चरितार्थ हो सकती है और **"मातृदेवो भव"** आदेश के अनुसार सबसे अधिक पूजा अथवा सन्मान की अधिकारिणी बन सकती है।

प्रसंगवश एक घटना आ गई। एक सम्भ्रान्त महिला दिल्ली जाने के लिए रेलवे स्टेशन पर गई। केवल एक छोटा-सा सूटकेस साथ था। बारह-चौदह वर्ष का लड़का कार में था, कुलियों की पुकार की कि तीन कुली चाहियें। कुली आए सामान न देख कर चकित रह गए। देवी जी ने कहा, दो कुली इस बालक को उठा कर ले चलो। बालक स्वस्थ प्रसन्न गाड़ी से उतर कर नीचे आगया। कुली ने फिर पूछा, समान कहाँ है? मातृस्नेह से भरपूर माता बोली, लड़के को पैदल चलने की आदत नहीं, क्योंकि जरूरत नहीं। घर भी नौकर एक कमरे से दूसरे कमरे तक ले जाते हैं।

पाठक ! क्या इस देवी को उस बालक की माता कहलाने का अधिकार है? जो माता अज्ञानवश अधिक लाड़ प्यार दिखलाने के लिए उसको हाथ पाँव भी काम में न लाने दे। क्या वह बच्चों की निर्माता बन सकती है? - सारांश यह कि जनसाधारण के सम्मान का पात्र बनने के लिए व्यक्ति को अपने कर्तव्य और क्षमता का भी ध्यान करना चाहिए। महत्त्वाकांक्षा बुरी बात नहीं, परन्तु महत्त्वाकांक्षा का योग्यता और क्षमता के साथ भी सम्बन्ध होना आवश्यक है। अपनी योग्यता से बढ़ कर अग्रासन पर कूद कर बैठने वाले महत्त्वाकांक्षी महात्मा एक तरफ हैं, तो दूसरी तरफ योग्य और अनुभवी सक्षम व्यक्ति **"आरतिर्जनसंसदि"** वाले शब्द चित्र के अनुसार कार्यक्षेत्र आने से दूर भागते हैं। दोष किसी एक का नहीं, गड्ढ़े में यदि स्वच्छ जल भरा न होगा तो मैले पानी को उस में स्थान प्राप्त करने का अवसर अनायास ही मिल जाएगा। भाग्यहीन होगी वह संस्था जिसमें अयोग्य महत्त्वाकांक्षी अग्रासन, पर चढ़ने के लिए अक्सर की प्रतीक्षा करते हैं, और सक्षम तथा अग्रासन के योग्य व्यक्ति **"अरतिर्जन संसदि"** का जाप करते उत्तरदायित्त्व से भागेते रहते हैं। इस पलायन का एक ही सुनिश्चित परिणाम होता है कि अयोग्य वकवृत्ति स्वार्थान्ध व्यक्तियों को जनसेवा के नाम पर अग्रासन पर बैठने का शौक पूरा करने का अवसर मिल जाता है। संस्थाएं खोखली हो जाती हैं। उनके संस्थापक यदि उस संस्था को बिलखते देख लें तो उनके आँसुओं के स्रोत सूख जायं।

....

(9)

आप चाहते क्या हैं ?

एक व्यक्ति बाज़ार जा रहा है, जहाँ भीड़ के कारण चलने को राह नहीं मिलती, एक से एक बढ़ कर चटक-मटक दिखलाने वाले सामान से सजी दुकानों की लाइनें लगी हैं।

एक दूसरा आदमी सायंकाल के सामने, एकान्त शान्त नदी तट की तरफ चला जा रहा है। बगल में आसन और धोती है। उनसे पूछने की आवश्यकता नहीं कि आप चाहते क्या हैं? स्पष्ट है कि बाजार जाने वाला सांसारिक व्यक्ति आवश्यक सामान मोल लेने और बाजार की रौनक का आनन्द लूटने जा रहा है और शान्त एकान्त नदी तट पर जाने वाला कोई आश्रमवासी साधक है। हो सकता है एक ही व्यक्ति प्रात:काल तो नदी तट पर जा रहा था और वही व्यक्ति सायंकाल बाजार की तरफ जा रहा हो। इस व्यक्ति से प्रश्न किया जाय, 'आप कभी पूर्व और पश्चिम जाते हैं? आपके इरादे क्या हैं? आप कहीं भटक तो नहीं रहे? - वह व्यक्ति क्षणभर सोच में पड़ जायगा और फिर एक तरफ को चल पड़ेगा। वह स्वयं निश्चय नहीं कर पा रहा कि किधर जाऊँ? उसको अपनी इच्छा का स्वयं पता नहीं है। संसार का कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं। जड़ दिखलाई देने वाले पदार्थ में भी अनन्त ऊर्जा छिपी पड़ी है। वैज्ञानिक कहता है कि पानी जैसे ताल और कोमल पदार्थ के परमाणुओं के अन्दर इतनी शक्ति है कि उससे 50 हजार टन का एक पानी का जहाज भारत से फ्रान्स तक जा सकता है। अचेतन पानी निरन्तर गतिशील रहता है। हिमशिखर से चल कर निरन्तर ढाल की तरफ बहता हज़ारों मील की यात्रा प्रारम्भ कर देता है। आकाश में ऊँचा उठने के बाद बादल के रूप में कवि कालिदास का **मेघदूत** बन कर सारे भारत की यात्रा करके, फिर जहाँ से यात्रा प्रारम्भ की थी वहीं से फिर नई यात्रा प्रारम्भ कर देता है। अचेतन जल की इस यात्रा से साधक प्रमाण निकालता है कि **"कर्मण्येवाधिकारस्ते....."**। तेरे अंग-प्रत्यंग इस बात के सूचक हैं कि तेरा जीवन कर्म करने के लिए है, सचेष्ट रखने के लिए है।

'एव' का अभिप्राय वाक्य के उत्तरांश में है **"मा फलेषु कदाचन"** फल को प्राप्त करना तेरे अधिकार क्षेत्र से बाहर है। इसलिए **"माकर्मफलहेतुर्भू"** फलप्राप्ति की कामना से प्रेरणा प्राप्त करके कर्म मत करो। यदि तू कर्मफल को लक्ष्य में रख कर काम करेगा तो प्रेरणा देने वाली वासना संस्कार बना लेगी और ये बीजरूप संस्कार कालान्तर में अंकुरित होकर पल्लवित और पुष्पित होंगे, जिनको देख कर तू भी प्रफुल्लित अथवा व्यथित हो उठेगा। इसी आशय को लक्ष्य में रख कर मनु ने कहा -

"अधर्मणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।"

सभी सकाम कर्म अधर्म हैं क्योंकि वे व्यक्ति की वासनापूर्ति के लिए किये जाते हैं। इनको करने वाला तात्कालिक फल को देख कर बड़ा प्रसन्न होता है। अन्त में जब उन पल्लवित, पुष्पित संस्कारों में विषमय फल लगते हैं और सकाम कर्मी को उन्हें खाने के लिए बाध्य होना पड़ता है, तब उसको संसार दुःखमय प्रतीत होने लगता है और भावुकता में आकर निर्णय दे देता है कि संसार एक धधकती ज्वाला के सिवाय और कुछ नहीं है। गौतम बुद्ध के समय लोकसभा के विपक्षी पक्षियों की जमात नहीं थी। निष्कलंक राज्यसुख भोग वस्तु की कामना की, जो चाहा वह मिला, इतना मिला कि ऊब गए। प्रतीती होगई कि संसार अतृप्त वासनाओं की लपट में धू-धू करके जल रहा है। वास्तविकता यह नहीं। सृष्टि की रचना तो आदिमूल सत्ता ने जीवात्माओं पर करुणा करके, उनके भोग के लिए की थी। आवश्यकता के अनुसार भोग्य पदार्थों का सेवन योग्य है। आवश्यकता से अधिक किसी भी भोग्य पदार्थ की लालसा उसका संग्रह, उसका उपभोग चोरी है, अधर्म है, मानसिक अशान्ति और शारीरिक रोगों को निमन्त्रण देना है।

महाभारत में एक प्रसंग है कि यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने कहा था कि प्रतिदिन श्मशान यात्राओं को देखते हुए भी व्यक्ति को अपने मरने का आभास कभी नहीं होता, यह सबसे बड़ा आश्चर्य है। उससे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि प्रतिदिन वासनाओं की तृप्ति के लिए, सकाम कर्म करता हुआ व्यक्ति एक शताब्दी की लम्बी दौड़ में असंख्य ठोकरें खा कर लहुलुहान होने पर भी यह नहीं समझ पाया कि अतृप्त वासनाएं ही उसको भटका रही हैं। ऋषिओं ने गृहस्थाश्रम का विधान ही इसलिए किया था कि अरमान बाकी न रह जाय। ब्रह्मचर्याश्रम में संचित शक्ति के साथ जी खोल कर दौड़ लगा कर देख लो। यह छूट इसलिए दी गई है कि जवानी समाप्त हो जाने के बाद यह विचार न रह जाय कि अमुक वासना के पीछे न दौड़े, शायद मेरी कल्पना का सुख वहीं मिल जाता। वास्तव में यदि सुख है तो केवल आवश्यकताओं की पूर्ति में। वासना, कामना, तृष्णा के पीछे दौड़ने वाला कभी सुख की छाया को भी प्राप्त नहीं कर सकता।

"परीक्ष्यलोकान् कर्मचितारब्राह्मतो निर्वेदमायात् ।"

चाहिए तो यह गृहस्थाश्रम में कामनाओं की तृप्ति के लिए पूरे वेग से दौड़ लगाने के बाद असंख्य विफलताओं, मानसिक अशान्तिओं, शारीरिक व्याधिओं का संग्रह कर लेने पर भी यदि उस व्यक्ति की दौड़ कामनाओं को पूरा करने का प्रयत्न अभी तक समाप्त नहीं हुआ तो उसको **'कम समझ'** ही कहा जा सकता है। वह बुद्धिमान् है या मूर्ख, इसका निर्णय तो उसको स्वयं ही कर लेना चाहिए।

साधक प्रश्न करता है - "मैं आर्य विरक्तवानप्रस्थाश्रम में इसीलिए तो आया हूँ कि **'मैंने'** गृहस्थ को नारकीय समझा और यहाँ आकर मैं वह कुछ पा सकूँगा जिसकी मुझे प्रबल कामना है।"

"अब किस ऐसे पदार्थ की कामना है जो गृहस्थाश्रम में नहीं मिली ?"

साधक । एक नहीं दो कामनाएँ हैं, एक तो **'परमात्मा के दर्शन'** और दूसरी है **'मोक्ष'**।

परमात्मा के दर्शन की बात तो आप मन से सर्वथा निकाल दें क्योंकि वह है निराकार। दर्शन सदा साकार के होते हैं। उसके दर्शन तो एक तरफ उसकी तो कल्पना भी नहीं हो सकती। **"न तत्र चक्षु गच्छति नो मनो"** मन भी उसकी कल्पना नहीं कर सकता। साधक, तो फिर क्या आपके आश्रम में कोई भी ऐसा दावा करता है कि जिसने उसके दर्शन किए हो और वह करा भी सके तो वह केवल भ्रान्त है। **कठोपनिषद्** में यमाचार्य का आदेश है **"अस्तीत्येवावगन्तव्यः"** जीवात्मा को उसकी सत्तामात्र का आभास हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति इससे आगे प्रश्न करे तो वह 'अतिप्रश्न' है, और कोई दर्शन कराने का दावा करे तो वह या तो स्वयं 'भ्रान्त' है अथवा 'बकवृत्ति' भोले भाले साधकों को ठगने का प्रयास है। पहली कामना के सम्बन्ध में इतना और कहना शेष है कि परमात्मा कोई कामना का विषय नहीं। इसके दर्शन से इन्द्रियों, अन्तःकरण को तृप्त किया जाय। भक्त लोगों की कल्पनाएँ कोई कल्पनाएँ हैं, न उनके चरण हैं और न उनकी गोद है, न वह मल्लाह हैं और न चक्रधर हैं। यह सब कल्पनाएँ सब मन की उड़ान हैं। वह मन जिसकी उछल-कूद ने स्वर्णिम भविष्य की कल्पनाओं में उलझ कर हमारे गृहस्थ जीवन को निःसार किया। वानप्रस्थाश्रम में आने के बाद भी उनकी कल्पनाएँ और उनके पीछे दौड़ अभी समाप्त नहीं हुई ।

अब आपके दूसरे प्रश्न **'मोक्ष'** की कामना के सम्बन्ध में कुछ विचार करें। पुराने बहुमूल्य स्वभाव से जकड़ा हुआ गृहस्थ केवल एक ही बात जानता है कि संसार में पदार्थों के सिवाय और कुछ नहीं। दस वर्ष की आयु से लेकर नब्बे वर्ष की आयु तक समाज ने उसको एक ही पाठ पढ़ाया

है कि प्रयत्न करो और पाओ, और दौड़ो और पकड़ो। सारा जीवन इस सूत्र के आधार पर चलाया है। इस सूत्र को अब वह छोड़ नहीं सकता। सबसे पहले मोक्ष, जिसको वह पाना चाहता है, उसको स्वरूप क्या है? यह जान लेना आवश्यक है। मोक्ष कोई पदार्थ नहीं, जीवात्मा की एक दशा का नाम है। मोक्ष का अर्थ है छुटकारा। छुटकारा होता है बन्धन से । बन्धन होता है सकाम कर्म से। यदि मोक्ष की भी आप कामना करते हैं, उसको प्राप्त करने के लिए आसन, प्राणायाम शिविरों में उपस्थिति आदि उस मोक्ष को प्राप्त करने का साधन समझते हैं तो आप फिर उसी चक्कर में हैं। गृहस्थ आश्रम को छोड़ने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं। कामना मात्र मन का क्षेत्र है। वानप्रस्थ में आप आए, ध्यान की स्थिति प्राप्त करने के लिए । ध्यान के लिए मन का निर्विषय होना आवश्यक है। इस ही निर्विषयता को प्राप्त करने के लिए बाह्य प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा के अभ्यास का क्रम पतंजलि मुनि ने बताया है। यदि वानप्रस्थाश्रम में आकर भी सकाम कर्म, यज्ञ आदि भ्रान्त धारणाओं के द्वारा मोक्ष प्राप्ति आदि के पीछे साधक दौड़ता रहा तो मन को निर्विषय कब और कैसे करेगा। बन्धनों से मुक्ति (मोक्ष) की स्थिति में आने के लिए सत्य और काल्पनिक सभी कामनाओं का परित्याग आवश्यक है। चाहना मात्र ध्यान और मोक्ष की शत्रु है, फिर भी आप चाहते ही जाते हैं ।

....

(10)

अन्तिम ध्येय

हम भागते ही चले जा रहे हैं। बालकपन में किसी ने पूछा, 'क्यों पढ़ रहे हो?' "पता नहीं, पिताजी डांट कर पाठशाला भेज देते हैं।" गृहस्थ आश्रम में देखा-देखी जब रुपया बटोरने पर लगा तो किसी ने पूछा, 'क्या करोगे, इतना पैसा जमा करके?' मैंने सोचा, और सोचा कि यदि जीवन निर्वाह करूँ तो जीवन निर्वाह के विचार से कई गुना अधिक जमा हो चुका, उत्तर दिया - "बाल-बच्चों के लिए"। मैंने पूछा, उनके हाथ-पॉव सही सलामत तो हैं? कहने लगा, "कैसी अभद्र बात करते हो, आप ।" मैंने कहा, "आपने अपने जीवन में कमा-कमा कर ढ़ेर लगा दिया। कुछ काम बच्चों के लिए भी छोड़ो। नहीं तो अमेरिकन बच्चों की तरह ये भी हिप्पी बन जाएंगे। उनका मन्त्र है "खाओ पीओ मौज उड़ाओ" । काम करने की कोई जरूरत नहीं। पिताजी ने तीन पीढ़ियों का प्रबन्ध कर दिया है। साठ वर्ष के होगए, अभी दौड़ समाप्त नहीं। पहला महायुद्ध प्रारम्भ करने के समय मित्रराष्ट्रों का नारा था - "युद्धों को सदा के लिए समाप्त करने के लिए"। सच्चाई यह थी कि दूसरे महायुद्ध की नींव टालने के लिए साठ वर्ष की आयु हो जाने पर भी जिनकी दौड़ सांसारिक पदार्थों को हस्तगत करना बन्द नहीं होती, वे पारलोकीय नारकीय यात्रा की तैयारी में हैं। पठन-पाठन है ज्ञान-विज्ञान के साथ, गहन परिचय प्राप्त कर के यह निष्कर्ष निकालने के लिए कि न तो इस की सीमा है न इसमें चित्त शान्त हो सकता है, और मनुष्यमात्र की एकमात्र इच्छा "स्वतन्त्रता प्राप्ति", उसमें भी यह विज्ञान सहायक नहीं, बाधक है।

इस विज्ञान ने संसार को दो भागों में विभक्त करके रखा है । विज्ञान द्वारा उन्नततन सांघातिक शस्त्रास्त्रों की सहायता से थोड़े से व्यक्तियों ने शेष मनुष्य जाति को कठोर बन्धनों में जकड़ रखा है। बच्चा नहीं चाहता घर की चारदीवारी में बन्द रहना। वह चारदीवारी से बाहर निकल कर खेल रहा है। अन्दर से माता जी की आवाज आई, "क्या हो रहा है, पप्पू?" पप्पू- "अम्मा,. खेल रहा हूँ।" अम्मा , "चलो भीतर, सर्दी लग जाएगी।" पप्पू ने दो बरस की आयु में अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण देखा । इस अपहरण के कारण पप्पू की स्वतन्त्रता प्राप्ति की कामना को बल मिला। इस उभरती कामना को दबाने के लिए उसकी माँ ने पप्पू के पिता से कहा, "देखते नहीं, दिन पर दिन पप्पू नटखट होता जा रहा है। कल से उसको स्कूल भेजो।" स्कूल

जाने का नाम सुनकर पप्पू ने अपना भावी कार्यक्रम बना लिया। जलपान, वस्त्र पहनने आदि में यथासंभव देर की, पाँव पटके, प्याले तोड़े, अन्त में माँ की चपत की विजय रही।

दूसरी बार स्वतन्त्रता का अपहरण ।5 साल तक चक्की में पिस कर मैदा (एम.ए.) बन कर के निकला। दिनभर में बारह-बारह निवेदन पत्र, भूतपूर्व दासता के प्रमाणपत्रों सहित, भेजे जा रहे हैं। निशाना ठीक बैठ गया । तीस साल की पराधीनता की खुशी में 'घी के चिराग' जले। जैसे-तैसे इन कठोर दासका के युग को निकाला तो जीवन का स्वर्णिम काल समाप्त होगया। हरिद्वार स्नान करने, पाप झाड़ने आए थे, किसी ने वानप्रस्थ आश्रम का नाम ले दिया। आकर देखा, पसन्द आया। निवास, भोजन, रहन-सहन की सामग्री, शान्त वातावरण, सायम्प्रातः अग्निहोत्र, प्रवचन, भक्तिगान आदि किसको आकर्षित नहीं करते? आस-पास के दूषित वातावरण के प्रभाव से आश्रम की सुरक्षा के लिए यहाँ भी तालेबन्दी का जोर देख कर आश्चर्य तो हुआ, परन्तु आवश्यक बुराई समझ कर इसको नजर अन्दाज किया । परन्तु मानव के अन्तिम ध्येय स्वतन्त्रता का अपहरण तो हो ही गया। जीवात्मा ने मनुष्य योनि को केवल इसी विशेषता के कारण स्वीकार किया था कि इसमें कार्य करने की स्वतन्त्रता मानी जाती है। इस स्वतन्त्रता के कारण ही इस योनि को भोग योनियों से ऊँचा माना गया है और कर्मयोनि कहा गया है। दो बरस की आयु से पप्पू की स्वतन्त्रता छिनने लगी। पप्पू से वह पापा बना घर में तो उसकी नादिरशाही भी चल जाती, पर आफिस में आठ घण्टे 'जी हुजूर' करते या करवाते निकलते थे। ध्यान रहे, करने और करवाने का परिणाम अन्तिम परिणाम संस्कार एक ही है। बीज रूप में संस्कार आगे आने वाले भोगयोनियों का निर्माण करते हैं। मनुष्य योनि के अन्तिम ध्येय इस स्वतन्त्रता का समाज के किसी भी विभाग में दर्शन नहीं होते। परन्तु इस स्वतन्त्रता के अपहरण से खिन्न होकर साधक बाहर की परतन्त्रताओं से परेशान होकर किसी दीक्षागुरु के पास गया। अपनी जीवन भर की परतन्त्रता की करुण कहानी सुना कर प्रार्थना की, "भगवन् ! उद्धार करो, मैं तो तंग आगया इन गुलामियों से ।" दीक्षागुरु अवश्य समझदार रहा होगा। बोले, "तुम इन परतन्त्रताओं को स्वीकार क्यों करते हो, ये सब परतन्त्रताएँ तो भौतिक हैं, तुम पंचभूतों से बने पदार्थ नहीं हो **"एको प्रष्टासि सर्वस्य"** तू चेतन है। जड़ प्रकृति और जड़ प्रकृति से बने शरीर के साथ तूने तादात्म्य किया हुआ है। किसी ने पाँव में रस्सी बाँध दी तो वह समझता है कि तुझे रस्सी से बाँध दिया? सारे भौतिक बंधनों का भौतिक शरीर के साथ सम्बन्ध स्वीकार कर और अपने को 'द्रष्टा' (केवल देखने वाला) मान कर बर्ताव करना प्रारम्भ कर दे। समझने का प्रयत्न कर कि तेरा बन्धन क्या है। एक उदाहरण से स्पष्ट होगा । बाजार से एक व्यक्ति एक गाय खरीद कर लिये जा रहा था। गाय के गले में रस्सी थी। रस्सी का दूसरा सिरा उस व्यक्ति के हाथ में था । पप्पू से न रहा गया। पूछ ही बैठा, "पिताजी गाय इस आदमी को क्यों लिये जा रही है?" व्यक्ति ने सुन लिया। बोला, "गाय मुझे नहीं, मैं गाय को लिये जा रहा हूँ।"

गम्भीर मतभेद देख कर पिताजी ने दखल दिया और बोले, "गाय के गले से रस्सी निकाल दो, तब देखें कौन किसके पीछे भागता है।" गाय को खोल देने पर स्पष्ट था कि आदमी गाय को पकड़ने के लिए भागेगा। अर्थात् गाय उस व्यक्ति से बँधी हुई नहीं थी। व्यक्ति ही स्वयं गाय के साथ बँधा हुआ था। संसार में भी जड़ प्रकृति मनुष्य को बाँधे हुए नहीं है। यह मनुष्य है जिसने अपने को जड़ प्रकृति के साथ बांध रखा है। मनुष्य का अन्तिम ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता है। इस पूर्ण स्वतन्त्रता का वरदान देख कर आदिमूल सत्ता ने जीवात्मा को मनुष्य योनि में भेजा था। स्वयं निराकार होने से इन्द्रियातीत तो था ही **"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"** चक्षु आदि इन्द्रियां, वाणी और मन सभी उसके सामने नतमस्तक होकर अपनी असमर्थता को स्वीकार कर लेते हैं। उस आदिमूल सत्ता ने अपने सखा जीवात्मा की आनन्द प्राप्त करने की करुण पुकार सुनकर उसे जो अपने पास आने की स्वतन्त्रता प्रदान की थी उस स्वतन्त्रता का जीवात्मा ने दुरुपयोग किया। जड़ प्रकृति उसके एक तरफ थी जिसमें अनुकूल वेदना के साथ इन्द्रियों को सुख मिलता था। सुख की उपादेयता बढ़ाने के लिए सुख के साथ दु:ख भी मिलता था। अर्थात् जड़ प्रकृति सुख दु:खात्मक थी । आनन्द जीवात्मा के पास था न जड़ प्रकृति के पास, जब भी कभी जीवात्मा ने प्रकृति से पूर्णरूपेण विरक्त होकर आदिमूल सत्ता में स्वयं को निमग्न किया तब उसको न सुख की प्राप्ति हुई, न दु:ख की । वह चिर प्रतीक्षित आनन्द के साथ एक होगया। **"आनन्द ब्राह्मणो विधात"** आनन्द तो केवल ब्रह्म का ही स्वरूप है। युग युगान्तरों तक उस **'बन्धनमुक्ति'** की दशा में रह कर, हो सकता है ऊब गया हो। जीवात्मा इस नई स्थिति को ही बन्धन का एक नया रूप समझने लगा हो। संसार में रहते उसको अपनी शक्यिों के जो सदुपयोग के अवसर प्राप्त थे उस दशा में जो आत्मसंतोष प्राप्त होता था, मुक्ति की दशा में परब्रह्म के आनन्द का उपयोग करना संभव है। उसको स्वार्थसिद्धिमात्र प्रतीत होता है। महर्षि दयानन्द के जीवन चरित्र और कार्य कलाप को देख कर भी यही प्रतीत होता है कि मुक्त आत्मा निश्चित काल तक ब्रह्मानन्द का उपभोग करते जीवात्माओं के संतप्त हृदयों को शान्ति प्रदान करने के लिए जिसको महर्षि व्यास ने निम्न शब्दों में कहा -

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।"

मुक्त (बन्धनमुक्त) जड़ प्रकृति के साथ तादात्म्य तोड़ने वाले जीवात्माओं के सामने दो पक्ष रहते हैं। परब्रह्म के साथ ऐक्य स्थापित करके मुक्ति का आनन्द भोगे, अथवा लोक कल्याण की भावना से संसार क्षेत्र में आकर अपनी स्वाभाविक शक्तियों का प्राणी मात्र के कल्याण करने में विनियोग करे। दोनों स्थितियों में आत्मदर्शन आवश्यक है ।

....

(11)

उपवास

'उपवास' किसे कहते हैं? साधारणतया भोजन न करने को उपवास कहते हैं। **'उप'** का अर्थ है **'समीप बैठना'**। समीप बैठने और भोजन न करने में तो कोई तालमेल नहीं । बालक दीक्षा लेने के लिये आचार्य के पास आता है। अति भोजन या गरिष्ठ भोजन से उत्पन्न तामसिकता को कम करने के लिए । आचार्य ने आदेश दिया कि तीन दिन तक लघु और मित आहार करना । इस लिए कि अब तुमको एक नए वायुमण्डल में प्रवेश करना है। वहाँ माता का सीमातीत लाड़-प्यार का नहीं अनुशासन का जीवन बिताना है। अनुशासन का जीवन बिताने के लिए आचार्य की उपस्थिति में रहना, उनके आदेशों को ध्यान से सुनना और फिर उस पर आचरण करना आवश्यक है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए आलस्य को दूर करना आवश्यक था और आलस्य को कम करने के लिए हलका भोजन और भोजन की मात्रा का कम होना आवश्यक था।

आचार्य के आदेशानुसार लघु और मित भोजन का प्रबन्ध कर दिया गया। यह सब प्रबन्ध इसलिए था कि बालक आचार्य के समीप बैठ कर उपदेश को हृदयंगम कर सके। कालान्तर में इस लघु भोजन का नाम उपवास होगया, और वर्तमान काल में भोजन परित्याग का नाम उपवास होगया। अब यदि उपवास का अर्थ भोजन परित्याग ही लिया जाय तो इसके गुण-दोषों पर भी ध्यान देना चाहिए। महर्षि व्यास ने कहा

'विषयाविनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।"

इसका साधारण अर्थ लिया जाता है कि भोजन के परित्याग से विषय निवृन्त हो जाते हैं। बात ठीक है, भोजन न मिलने से जब शरीर केवल हड्डियों का ढ़ांचा रह जाएगा, तब विषयों की क्रीड़ा भूमि ही न रह जाएगी । उस दशा में विषयों का लौट जाना स्वाभाविक है। परन्तु महर्षि उसी स्थल पर यह कह कर सावधान भी कर देते हैं - **'रसवर्जम्'**। विषय तो निवृन्त हो जाते हैं परन्तु उनका 'रस' कामना या संस्कार नहीं जाते। भोजन प्रारम्भ करते ही वह विषय पहले से भी अधिक वेग के साथ उपस्थित हो जाते हैं। परिणाम इसका यह हुआ कि शारीरिक उपवास का प्रभाव स्थूल शरीर तक ही सीमित रहता है। विषयों के 'रस' कामना को समाप्त करना इसके क्षेत्र

से बाहर है। महर्षि पद को पूरा करते हुए कहते हैं **'रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते"** विषयासक्ति की कामना को दूर करना है तो 'पर' का 'उन्मत्ता' का दर्शन करने का अभ्यास करना चाहिए।

महर्षि को यह टेढ़ा रास्ता क्यों बतलाना पड़ा; सीधा बुद्धिगम्य रास्ता तो यही है कि कामनाओं के परित्याग में लग जाओ। ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर लेने के बाद सबसे प्रबल कामना जीवनसंगिनी पत्नी की है। विवाह हो जाने के बाद पुत्र-पौत्रों की कामना होती है, इसके साथ-साथ निर्वाह के लिए अवान्तर कामनाएं भी उपस्थित हो जाती हैं। इन सब कामनाओं को छोड़ने के दो तरीके हैं - पहले तरीके का तो परिस्थिति निर्माण करती है। कर्कशा पत्नी के साथ जैसे-तैसे 25-30 साल निकाले। बैंक में रकम भी काफी जमा की। लड़कों की उस पर नज़र थी। मां-बेटे एक होगए। भोजन के समय उनका प्रतिदिन का सामना। जीवन दूभर होगया। घर छोड़ कर संन्यास ले लिया। पहला और प्रचलित तरीका यह है। इसमें परित्याग तो स्पष्ट है परन्तु यह परित्याग केवल मजबूरी में सांसारिक पदार्थों का है। कपड़े उतार कर नग्न हो जाना, सवारियों से यात्रा करने के स्थान पर पदयात्रा करना, चाय पीना छोड़ कर केवल दूध से निर्वाह करना, यह कोई कठिन काम नहीं। भारत में साठ लाख कषायधारियों में अधिकांश इस ही श्रेणी के हैं। इस श्रेणी के संन्यासियों का 'रस' कामना या 'संस्कारों' का विसर्जन नहीं हुआ। इसलिए तो तीस वर्ष बाद उत्तरकाशी में तपस्या कर के लौट गए।

एक महात्मा जब प्रयाग कुम्भ मेले में भ्रमण कर रहे थे, भीड़ में अनजाने एक ग्रामीण किसान का चमरौधे वाला पाँव उनके पाँव पर पड़ गया। महात्मा ने उछल कर उसकी गरदन पकड़ ली, और तीस वर्ष पहले के जीवन में जितनी गालियाँ सीखीं थी, सबका पारायण कर दिया। सांसारिक पदार्थों का विसर्जन दूसरी बात है, और संस्कारों का विसर्जन उससे भिन्न है। अनुकूल परिस्थिति आने पर संस्कार जागते हैं। संस्कारों से इच्छा, इच्छा से कर्म और कर्म से कर्मफल की आशा; यह आशा संस्कार को जगाने वाली है। यदि यह आशा न रहे, तो संस्कार जागने बन्द हो जायं। इस काल्पनिक सुख की आशा मनुष्य को भ्रान्त करती है और भटकाती है। अवश्य ही इसमें आनन्द का कोई अंश है । इस आनन्द की छाया को प्राप्त करने का भटकाव केवल तब ही छूट सकता है जबकि उसको वास्तविक आनन्द की झलक मिल जाय।

वास्तविक आनन्द का स्रोत तो केवल आनन्दमूल परमेश्वर है। परमेश्वर आनन्दघन है। उसमें से आनन्द का विकिरण होता है। जैसे सूर्य से प्रकाश का विकिरण होता है, वैसे आदिमूल से आनन्द का विकिरण (फैलाव) होता है। शीत से त्रस्त व्यक्ति अग्नि के पास इसलिए जाता है कि अग्नि से ताप का विकिरण होता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के संसर्ग से क्षुब्ध व्यक्ति परमशान्ति (आनन्द) की कामना से आनन्द के स्रोत आदिमूल परमेश्वर के पास जाकर बैठता है। पास जाकर बैठने का नाम **उप + आसना - उपासना** है।

महर्षि दयानन्द ने स्पष्ट लिखा है कि उपासना से आदिमूल सत्ता की विशेषताएँ उसके गुण साधक में प्रविष्ट होते हैं। आदिमूल सत्ता की सबसे विशिष्ट विशेषता यह है कि वह निर्गुण है। सत्व, रज, तम ये तीनों गुण प्रकृति के हैं। प्रकृति के सम्पर्क में आने पर वह ईश्वर हिरण्यगर्भ और विराट रूप में प्रतीत होता हुआ सगुण कहा जाता है।

माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार जब उपासक उपासना के प्रथम चरण में प्रवेश करता है तब दृश्य संसार के पदार्थ मात्र में उस **'आदिमूल सत्ता'** के दर्शन करने लगता है। संसार के पदार्थ तो पाँच मूलभूत तत्त्वों के संसर्ग से नाना प्रकार के हैं। नाना प्रकार के पदार्थों में केवल उसके आदिमूल के दर्शन करता हुआ अनेक में एक के दर्शन करता है। यह साधक की उपासना का प्रथम चरण है। दूसरे चरण में साधक की वृत्ति सूक्ष्म तत्त्वों में प्रवेश करती हुई, आदिमूल सत्ता के, हिरण्यगर्भ रूप का दर्शन करने का प्रयास करती है। स्थूल सृष्टि के तो चर्मचक्षुओं से दर्शन करता था, सूक्ष्म सृष्टि, जबकि स्थूल अग्नि और वायु रूप में थी, के दर्शन दृश्य के अभाव में केवल विचारात्मक थी। तीसरे चरण में इन विचारों का भी परित्याग करके साधक आदिमूल सत्ता को कारण रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति के एकमात्र स्वामी और नियामक के रूप में देखता है। इस तरह उपासक जड़ प्रकृति के नियामक के रूप मे तीन स्थितियों में उसके दर्शन करता है।

परन्तु **पुरुषसूक्त** में कहा है- **"एतावानस्य महिमा अतोज्यायांश्च पुरूषः"** । कारण, सूक्ष्म और स्थूल ब्रह्माण्ड तो केवल उसकी महिमा को बतलाने वाले हैं। वह आदिमूल सत्ता तो इस ब्रह्माण्ड से कहीं बढ़ चढ़ कर है। उपासक के लिए वास्तविक उपास्य देव तो वही आदिमूल सत्ता है। प्रलयावस्था में भी जिसका वर्णन नासदीय सूक्त में **'नासदासीत्'** इत्यादि मंत्रों से किया है। कोई यह न समझे कि सृष्टि रचना से पूर्व प्रलयावस्था में सर्वथा अभाव था। क्योंकि दृश्य प्रकृति अपने कारणरूप का भी परित्याग कर शक्ति रूप में आदिमूल सत्ता की अनन्त सामर्थ्य में लीन होगई थी। प्रलयावस्था में भी आदिमूल सत्ता अपने शुद्धतम रूप में विद्यमान थी। साधक की साधना का चरम लक्ष्य तो इस आदिमूल सत्ता के सान्निध्य में उपस्थित होकर उसके गुणों को अपने अन्दर धारण करना है। वह निर्गुण हांता हुआ भी एक अपनी परम विशेषता से युक्त है।

सत् प्रकृति भी है। सत् चित् जीवात्मा भी है। परन्तु 'आनन्द' किसी दूसरे के भाग्य में नहीं। आनन्द का स्रोत होना केवल उसी का स्वरूप है। यहां प्रश्नकर्ता जिज्ञासु आनन्द का स्वरूप जानना चाहता है। स्वाभाविक भी है। प्रकृति सत्व, रज, तम त्रिगुणात्मक है। इस दृश्य प्रकृति को भोग्या कहा है। अनादि वासना से पीड़ित जीवात्मा इसका भोक्ता बन कर बारम्बार जन्म लेता है। प्रकृति के घटक तीनों गुण परस्पर सहायक होते हुए भी स्वभाव से भिन्न हैं। इस त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति में आसक्त जीव आत्मा, गुणों की विषमता के कारण, अशान्त बेचैन रहता है। इस

अशान्ति के मिट जाने अर्थात् शान्त हो जाने पर उसके जिस भाव की अनुभूति होती है, उसका नाम 'आनन्द' है। प्रकृति के संसर्ग में रह कर, जिस सुख और दुख का अनुभव होता था, वह जाता रहे, न रहे दु:ख, न रहे सुख; उस स्थिति में अनुभूति का नाम है 'आनन्द'। तुरीयावस्था की आदिमूल सत्ता की स्थिति में, जिस भाव का निरन्तर प्रवाह होता है, उस प्रवाह से आपल्लवित होने के लिए साधक उसी के सान्निध्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस प्रयास का नाम है -

उपवास या उपासना ।

(12)

तीन प्रश्न

शास्त्रों को जानने वाले शास्त्रियों और पण्डितों से कई बार प्रश्न किया, उनके प्रवचनों को ध्यान से सुना, मेरे और परमात्मा के बीच की दीवार का पता न चला। बीस वर्ष वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किए हो गए। प्रतिदिन दो प्रवचन सुनता और गणना करता कि दस हजार से अधिक प्रवचन सुनने के बाद भी उस दीवार का पता न चला। बहुत सोचता था, वेदमन्त्रों के अर्थों का मनन करता था। करते-करते थक गया। थक कर अपने को शिथिल कर दिया। यह शिथिलता तामसिक आलस्य की नहीं, साधक की साधना का पूर्ण मौन था। इस मौन में शरीर के अंग-प्रत्यंग, वाणी तक निश्चल थी। इतना ही नहीं मानसिक विचारों की परम्परा भी शान्त होगई थी। इस शान्त स्थिति में मुझे कुछ अनुभव हुआ, जो सत्य से आलोकित-सा था। कई दिन के निरन्तर प्रयास के बाद एक दिन चित्त में प्रकाश हुआ, और उस पुराने प्रश्न का उत्तर स्पष्ट अक्षरों में लिखा था **'मैं'** । उत्तर पाकर चित्त शान्त तो हुआ, परन्तु सूत्र रूप में **"मैं"** के स्पष्टीकरण की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। तब से इसी जिज्ञासा के समाधान में मेरा समय बीतने लगा। **'मैं क्या हूं, कौन** हूँ और **किसलिए हूँ ?"** ये **"मैं"** सम्बन्धी तीन प्रश्न मुझे सताने लगे। क्योंकि यदि मैं इनका समाधान कर लूँ तो मेरे और परमात्मा के बीच की दीवार हटाई जा सकती है।

सबसे पहले **"मैं" क्या हूँ** इस प्रश्न पर ध्यान दें। बीच का शब्द क्या तो प्रश्नवाचक है। उसका स्वरूप तो यही है कि जिज्ञासु 'मैं' और 'हूँ' के सम्बन्ध में जानना चाहता है। इन दोनों शब्दों में मुख्य 'हूँ' है। क्योंकि 'हूँ' की प्रतीति के सम्बन्ध में जब जिज्ञासु ने महर्षि पतंजलि से प्रश्न किया था तो उत्तर मिला था- **"दृग्दर्शन स्योरेकात्वमस्मितो"** । इस हमारी 'हूँ' का महर्षि पतंजलि ने दार्शनिक भाषा में अनुवाद किया था **"अस्मितौ"**। अस्मिता का अर्थ है **"हूँ"**-पन । 'हूँ' का भाव पाणिनि के अनुसार भाव अर्थात् सत्ता अर्थ को बताने के लिए 'त्व' और 'तल' दो प्रत्यय लग जाते हैं; अस्मिता बन गया । यह निर्णय करने के लिए कि पहले **"मैं"** का विचार आता है कि **"तू"** का । मुनि ने स्पष्ट कर दिया कि पहले न 'मैं' है, न 'तू' है। पहले तो केवल 'हूँ' है। इस 'हूँ' के साथ 'अहं' का ज्ञान होता है। मिल कर **'अहमस्मि'** - मैं हूँ- हुआ। अनेकता वाले प्रपञ्च में जब मैं के साथ तू का सम्बन्ध हो जाता है तो बाद में आने वाला **अहं** का भाव प्रगाढ़ होने

लगता है। ऐसा इसलिए कि अनादि काल से जीवन-मरण के लिए राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति कर लेता है। इस **'मैं' 'हूँ'** की दार्शनिक उत्पत्ति जो पतंजलि मुनि ने बताई वह निम्न प्रकार है -

हव्य शक्ति जीवात्मा और दर्शनशक्ति चित्त इन दोनों की जब एकात्मता हो जाती है तब 'मैं' की प्रतीति हो जाती है। जीवात्मा यदि चित्त को प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान का एक साधन मात्र समझे, तब जो स्थिति होती है, उन दोनों में एकात्मता स्थापित हो जाने के बाद, उस स्थिति में भारी परिवर्तन हो जाता है। मनुष्य ने षडरस भोजन से तृप्त होकर जिस सुख का अनुभव किया वह यदि चित्त तक ही सीमित रह जाय, तो जीवात्मा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। चित्त के साथ एकात्मता स्थापित हो जाने के बाद जीवात्मा भी चित्त की अनुकूल अनुभूति सुख की प्रतीति का भागीदार बन जाता है। चित्त प्रसन्न होता है, जीवात्मा भी प्रसन्न और चित्त दुखी तो जीवात्मा भी दुखी - यह स्थिति दोनों में एकात्मता स्थापित हो जाने के बाद हो जाती है। इस एकात्मता में प्रधान जीवात्मा है। चित्त तो स्वयं जड़ होने से, अपनी तरफ से पहल नहीं कर सकता। माता और पुत्र में जब एकात्मता होती है तो उस एकात्मता की जिम्मेदारी माता पर ही होती है। जीवात्मा और चित्त में एकात्मता समान करने वाला चित्त नहीं जीवात्मा है। इसलिए इस एकात्मता को यह भी कह सकते हैं कि जीवात्मा ने चित्त में तादात्म्य स्थापित कर लिया है। यह तादात्म्य ही आगे चल कर अहंकार और ममत्व का रूप धारण करता है। इस ही अविद्याजन्य तादात्म्य को कठोपनिषद् में हृदयग्रन्थि कहा है -

'भिद्यते हृदयगन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टि पावरे ।"

'पर' चेतन तत्त्व और 'अवर' जड़प्रकृति का कार्य, चित्त दोनों में विवेक हो जाने पर हृदय की गाँठ (दोनों) में तादात्म्य टूट जाता है। सब संशयों का उच्छेद हो जाता है। संशय करना ही मन का काम अथवा स्वरूप था। विवेकख्याति हो जाने पर तादात्म्य की निवृत्ति होगई। तादात्म्य छूट जाने पर संशयात्मा मन के संशय समाप्त हो गए। इसी स्थिति का नाम समाधान या समाधि है। अन्तिम चरण है कि कर्म भी सब क्षीण हो जाते हैं। कर्म तो चित्त के संस्कारों से प्रेरणा प्राप्त करके प्राकृतिक संसार में ही होते हैं। अहंकारवश अपने को कर्ता मानकर जीवात्मा चित्त के साथ तादात्म्य जोड़ कर सुख दु.ख का भागी बन रहा था। विवेकख्याति, जड़-चेतन में, पर-अपर में भेद सम्पन्न होने पर कर्मों के साथ सम्बन्ध भी छूट गया है।

"मैं क्या हूँ" इस प्रश्नका उत्तर तो हो गया ।

"मैं कौन हूँ" का संक्षिप्त उत्तर यह है कि मैं मनुष्य हूँ। उत्तर भी संक्षिप्त, तीन ही शब्दों में है। परन्तु इसके पीछे बड़ा भारी कर्तृत्व, वहीं भारी जिम्मेदारी लगी है। राक्षस और देवयोनि का स्थान है। मनुष्य से आशा की जाती है कि वह **"मत्वा कर्माणि सीव्यति"** - कभी का ताना-बाना सोच-समझ कर ही बुनता है। फिर भी साधारण मनुष्य कर्मबन्धनों में फँस ही जाता है। कर्मबन्धन में फँसने के बाद उसकी अधोगति होती है। सोच समझ कर काम करने वाला, कर्म बन्धन से बच निकलने वाला कर्मयोगी कहलाता है। वह पुनर्जन्म में भोग योनियों में न जाकर देवयोनि में जाता है। महर्षि ने इस प्रकार के जीवात्मा के लिए कहा है **"अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्"** । 'मैं कौन हूँ' का जिसको ज्ञान हो जाता है, वह सांसारिक विषयों मे राग-द्वेष से युक्त हो जाता है। राग-द्वेष से युक्त साधक केवल संचित संस्कारों के भोग के लिए जन्म धारण करता है। इस प्रकार के अनेक जन्मों में संचित संस्कारों को विशेष कर्ता योनि से उत्तरायण मार्ग द्वारा मनुष्य जीवन क्या प्राणीमात्र के परमलक्ष्य मोक्षधाम में प्रवेश पाता है।

यह होगया 'मैं कौन हूँ' प्रश्न का सही समाधान ।

इसके बाद **तीसरा प्रश्न** आता है कि मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है - **मैं किसलिए हूँ"**। कठोपनिषद् का वाक्य है - **"कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत"** - कोई विरला कर्मयोगी सांसारिक बाह्य विषयों से विरक्त होकर अपने अन्दर के खजाने को देख पाता है। संसार में आसक्त मनुष्य एक के बाद दूसरी कामना को पूरा करने के लिए जीवनभर प्रयत्नशील रहता है। तपते हुए रेगिस्तान में झिलमिल सूर्य की किरणों को पानी समझ कर जिस तरह दौड़ता-दौड़ता प्राणी थक कर गिर जाता है, ठीक इसी तरह सांसारिक कामनाओं को पूरा करता-करता मनुष्य एकदिन चिरनिद्रा का आलिंगन करता है। अब शिष्ट कामनाओं के संस्कारों का बोझ सिर पर लादे यहाँ से बिदा होता है। मनुष्य जीवन कामना पूर्ति के लिए समर्पित होने के लिए नहीं था। संस्कारों को निःशेष करने के लिए तो भोगयोनियों का जाल बिछा था। मनुष्य योनि तो भोगयोनि के साथ कर्मयोनि भी है। जिस परम स्वतन्त्रता **'मोक्ष'** को मनुष्य अपने जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य समझता है, आदिसन्ता परमेश्वर ने वह स्वतन्त्रता प्रारम्भ से ही मनुष्य को दी हुई है। मनुष्य की इच्छा है अधिक से अधिक धन संग्रह करने की। धोखाधड़ी, चोरी, बेईमानी, जेबकटी आदि उपायों से अरबों-खरबों रुपये की सम्पत्ति जमा कर सकता है। परन्तु जीवन में शान्ति एक क्षण को भी नहीं मिलेगी। इस शान्ति को प्राप्त करने के लिए ही तो सारे जीवन भर उसने प्रयत्न किया था। वह भी न मिली तब वही मनुष्य स्वतन्त्र होने के कारण बहिरंग साधना को परम सुख का साधन न जान कर अंतरंग साधना

में प्रवृत्त हो जाता है। वह बहिरंग साधनों से उत्पन्न अशान्ति से बच कर, पातंजल योग की साधना का अनुसरण करके परमसुख आनन्द को प्राप्त कर लेता है। **"आदिमूल सत्ता"** ने मनुष्य के मार्ग दर्शन में सिवाय अन्त:प्रेरणा के और कोई बाधा उपस्थित नहीं की। जिस परम स्वतन्त्रता की उसको अन्तिम कामना है, वह मनुष्य जन्म प्राप्त करने के साथ ही उसको दे दी गई थी। नीचे उतरना या ऊपर चढ़ना यह उसके अपने चुनाव पर था।

अस्मिता को उत्पन्न करने, स्व और स्वामी का संयोग करने अथवा द्रष्टा और दृश्य को, एक स्थान पर लाने का अभिप्राय क्या है? मुनि पतंजलि इसका नपातुला कारण बताते हैं। साधन पाद 23वां सूत्र **"स्वस्वामी शक्त्येः स्वरूपोपलब्धि हेतुः संयोगः"** - स्व का अर्थ है मिलकियत् और स्वामी का अर्थ है मालिक। इन दोनों का संयोग इसलिए किया गया है, मनुष्य जीवन इसलिए दिया गया है, कि स्वामी-मालिक, चेतन-द्रष्टा और भोक्ता जीवात्मा को अपनी मिलकियत जड़-प्रकृति, जोकि अचेतन, दृश्य और भोग्य है; भोग और अपवर्ग द्वारा संयोग की कारणता समझ में आ जाय, द्रष्टा को स्वरूप का भान हो जाय। अनादि काल से जीवात्मा भोक्ता रहा, और प्रकृति भोग्य रही है। इसी सम्बन्ध का नाम संयोग है। अनादि काल से चले आ रहे इस संयोग को समाप्त करना दोनों के स्वरूप की उपलब्धि का परिणाम है। दृश्य जड़ प्रकृति के स्वरूप का विवेकपूर्ण साक्षात् उसका भोग है। द्रष्टा चेतन पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि ही अपवर्ग है।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है, इस तीसरे प्रश्न का भी समाधान हो गया। **"भोगापवगार्थं दृश्यम्"** जड़ प्रकृति भोग्य है। संस्कारों को भोग द्वारा अपवर्जित कर के साधक, साधना में प्रवृत्त होता है ।

''''''''''

(13)

भोगापवर्गार्थम्

भोग योनियाँ भोग करने में स्वतन्त्र होती हुई भी भयंकर रूप से परतन्त्र हैं। श्रोता के मन में प्रथम प्रश्न उठता है कि भोग करने में स्वतन्त्र होने के बाद परतन्त्रता कैसे हो सकती है? जेलर कैदी को एक कोठरी दे देता है और छूट दे देता है कि चाहे जैसे कूदो, नाचो, जागो, सो जाओ, हँसो, रोओ, किसी तरह की रोक नहीं है। सांसारिक साधारण कैदी भी यदि चाहे कि दी गई स्वतन्त्रताओं से अधिक स्वतन्त्रता से काम करे तो पहरेदार की रुकावट का अनुभव करेगा। भोग योनि का प्राण तो अपनी परतन्त्रता को, कैद को, अनुभव ही नहीं करता। उससे छूटने का विचार तो उसके कुंठित दिमाग में उठ ही नहीं सकता। भोग योनि में जो शक्तियाँ दी गई हैं वह जन्मसिद्ध हैं। गौ, घोड़ा, कुत्ता, कोयल सबके अपने-अपने स्वभाव हैं। अपने-अपने आहार हैं, अपनी-अपनी बोलियाँ हैं। करोड़ों वर्षों में भी वह इसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सके। परिवर्तन न कर सकना ही उनकी परवशता या जेल है। इतना अनुभव भी न कर सकना कि उनके ऊपर कुछ प्रतिबन्ध है, एक भयंकर पराधीनता के द्योतक हैं।

यदि कैदी को यह अनुभव हो जाय कि वह जेल में है और कालान्तर में यह अनुभव प्रगाढ़ हो जाय तो उसके कैद से निकल भागने की आशा की जा सकती है, लेकिन यदि मूलसत्ता त्रिकालज्ञ है। इस स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपायों को जन्म देने वाले पराधीनता के अनुभव का उद्गम ही भोग योनि में से निकाल दिया।

कहते हैं आस्ट्रेलिया के जंगली कुत्तों डेंगू का प्रतिनिधि मण्डल भगवान के दरबार में गया और बोला, भेड़ों को देख कर हमारे दांतों में ऐसी खुजली पैदा होती है कि भूख तो एक भेड़ की भी नहीं होती, परन्तु हलाल करनी पड़ती हैं बीस । इस पाप के भागी हमको बनाया गया है। भगवान ने उत्तर दिया, 'तुम भोग योनि में हो, तुम्हारे कर्म बन्धन करने वाले नहीं'। पतंजलि कहते हैं ये पांचभौतिक संसार भोग के लिये हैं। अन्तेवासी प्रश्न करता है,'और भोग किस लिए हैं ?' असंख्य प्राणी भोग योनि में पडने् कामनाओं का भोग कर रहे हैं। ये भोग क्या केवल भोग के लिये हैं या इसका कोई दूसरा प्रयोजन भी है। मुनि कहते हैं, **"अपवर्गार्थम्"** भोग अपवर्ग के लिए है। **'अपवर्ग'** शब्द कठिन है, शास्त्रीय है, पारिभाषिक है । इसको स्पष्ट करते हैं- **'अपवृज्यन्ते भोग संस्कारायेन तत्"** जिस स्थिति में भोग के द्वारा संचित संस्कारों का **'अपवर्जन'** (मार्जन) कर चित्त को स्वच्छ किया जाय, उसका नाम अपवर्ग है।

प्रश्नकर्ता का प्रश्न स्वाभाविक है कि ये संस्कार किसने और कब संचित किए, जिनका अपवर्जन करने के लिये चौरासी लाख भोग योनियों का निर्माण हुआ। इन संस्कारों को मनुष्य ने मानव शरीर में आने के बाद स्वेच्छा से संचित किया।

प्रश्न - स्वेच्छा से ऐसे संस्कारों का संचय कोई क्यों कर सकता है, जिससे कि शूकर कुत्ता आदि योनि में जाना पड़े?

उत्तर - मानव सम्पर्क में आए प्राणियों को छोड़ कर शेष सभी प्राणी आकर्षक और वांछनीय हैं। भोग योनियों को मानव से निकृष्ट समझना भारी भूल है। मनुष्य प्रायः 'अहम्' केन्द्रित है। अपने को धाता-विधाता-संहर्ता समझता है। तदनुसार कर्मबन्धन में आकर फल भी भोगता है। भोगयोनियां समर्पित हैं। प्रकृति ने जैसा बनाया उसी में सन्तुष्ट हैं। अपने पर कोई उत्तरदायित्व नहीं लेती। उनको सभ्य मनुष्य की कमाई हृदयव्याधि आदि से कोई परिचय नहीं। ऐसी स्थिति में भोगयोनियों को नीचे की श्रेणी का समझना उचित नहीं।

प्रश्न - फिर क्यों कहा जाता है कि मनुष्य योनि श्रेष्ठ है ?

उत्तर - मनुष्य योनि की एक विशेषता यह है कि उसके अन्तःकरणों में बुद्धि को भी स्थान दिया गया है। ज्ञान इन्द्रियों द्वारा उपार्जित ज्ञान द्वारा सत्-असत्, शुभ-अशुभ, शुद्ध-अशुद्ध का विवेक करके कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय लेना उसका काम है। भोग योनियों में इस बुद्धि का सर्वथा अभाव था। जाग्रत अवस्था मे मनुष्य इस बुद्धि से, काम लेकर जन्म को सार्थक कर सकता है। परन्तु वही अन्तःकरण रूपी वाहन जो उसके जन्म का जीवन बनाने के लिए दिये गये थे, उसकी चेतना का आवरण बनकर उसको दीर्घ निद्रा में सुला देते हैं। भूतकाल मृत-स्मृतियों में और मनुष्य की अनुपस्थित कल्पनाओं में चेतना की ज्योति क्षीण हो जाती है। लौकिक भाषा में हम जागे नहीं सोये रहते हैं। हमारा अन्तःकरण भूत और भविष्य की काल्पनिक और मृत प्रवृत्तियों में उलझा रहता है। सामने उपस्थित वर्तमान को सर्वथा भुला देता है। सामने उपस्थित वर्तमान क्षण में सचेत रहना अन्तःकरण का एकमात्र कर्तव्य है। चेतना से शून्य प्रसुप्त अथवा मूर्च्छित अन्तःकरण से मार्ग दर्शन या कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय की अपेक्षा कैसे की जा सकती है। मनुष्य ने जो जन्म ग्रहण किया था, उसका उद्देश्य क्या एकमात्र मरण था - **'जन्मना जायते शूद्रः'** ? मनुष्य जन्म लेते ही बालक प्रतीक्षा करता है माता-पिता और आचार्य से मार्ग दर्शन का। प्रौढ़ मनुष्य भी पदे-पदे प्रतीक्षा करता है, निर्णायक बुद्धि के निर्णय का। साधारण व्यक्ति उस व्यक्ति के समान है जो 'जा रहा था' किसी ने पूछा 'कहाँ जा रहे हो?' उत्तर - 'पता नहीं'। प्रश्न - 'क्यों जा रहे हो?', उत्तर - 'पता नहीं' ।

एक समझदार व्यक्ति कपड़ा लेकर दर्जी के पास गया । दर्जी ने पूछा - क्या बनाऊँ? कुर्ता या पैजामा ? उत्तर - 'पता नहीं' । प्रश्न - बच्चे का या जवान का ? उत्तर - 'जैसा चाहें बना दें'। ऐसा समझदार व्यक्ति जिसको अपने जीवन के उद्देश्य का पता नहीं, फिर भी चला जा रहा है, कोल्हू के उस बैल के समान है जो कि आँख पर पट्टी बांधे सवेरे से शाम तक चलता हुआ समझता है आज एक मंजिल पूरी की। आँख खुलने पर देखता है, वही तेली और वही कोल्हू सामने है। जो मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य को न समझ ईंट पत्थर मिट्टी के ढ़ेरों को जमा करने में जीवन को समर्पित कर देता है वह अन्त समय अपनी भूल को पहचानता है। परन्तु **"समय चूकि पुनि का पछताने'** ; फिर उन्हीं भोग योनियों का दयामय चक्र सामने है, फिर भी कभी कालान्तर में संस्कारों का अपवर्जन होने के बाद मनुष्य योनि प्राप्त होगी।

मनुष्य योनि की एक विशेषता तो बुद्धि नाम का अन्तःकरण था। और दूसरी बड़े उत्तरदायित्व से पूर्ण विशेषता है उसकी **'स्वतन्त्रता'** भोग योनि में, वह जेल में बन्द कैदी के समान था। अब उस पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं। वह एक पहाड़ी पर खड़ा है। चाहे तो वह खन्दक में उतर जाय, चाहे पर्वत शिखर पर चढ़ कर पवित्र हल्की वायु के झोंको का और प्रातःकालीन उदीयमान बाल रवि की गुदगुदाती किरणों का आनन्द ले। यह स्वतन्त्रता मनुष्य को दी गई है। स्वतन्त्रता का अर्थ मुक्ति है। बन्धनों से छुटकारा यह मुक्ति मनुष्य योनि में जन्म लेते ही स्वतः प्राप्त हो जाती है। इस स्वतन्त्रता का सदुपयोग या दुरुपयोग व्यक्ति या व्यक्ति से बने समाज की परम्पराओं पर निर्भर है। जवान होने तक व्यक्ति समाज की चेतना से ही चेतित होता है। माता-पिता, शिक्षक, पुरोहित आदि का यही काम है कि वह अनगढ़े बालक को एक होनहार व्यक्ति बना दे। गृहस्थी या वानप्रस्थी भी समाज की परम्पराओं रूपी बन्धनों से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। परन्तु इनसे भी आगे संन्यास आश्रम की व्यवस्था है जिसमें जिस स्वतन्त्रता के वरदान बोल कर मनुष्य ने जन्म लिया था, जीवन के अन्तिम चरणों में उस स्वतन्त्रता को बंधनरहितता को प्राप्त कर लेता है। इस स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृंखलता नहीं है। उच्छृंखलता और स्वतन्त्रता के भेद को समझ लेना जरूरी है। स्वतन्त्र व्यक्ति वह है जिसने अपने 'स्व' अर्थात् अपने आधीन अपने उपकरण, अपने साधनों पर पूरा नियन्त्रण किया हुआ है जो अपने सुख से सुखी, अपने सम्मान से सम्मानित, अपने ही अनुभव से अपने को ज्ञानी समझता है। जो जीवात्मा अपने साधनों, अपनी इन्द्रियों के सुख-दुःख के आधार पर सुखी और दुखी होता है वह अपने को स्वतन्त्र नहीं कह सकता। उसका सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, अपने नहीं, अपने साधनीभूत इन्द्रियों तक नहीं। ऐसे व्यक्ति के व्यक्तित्व में कोई व्यवस्था नहीं हो सकती। इसी लिए उसको उच्छृंखल कहते हैं। कोई श्रृंखला नहीं, कोई क्रम नहीं, कोई व्यवस्था नहीं, साधारणतया ऐसे व्यक्ति को हम परतन्त्र भी कह सकते हैं। संन्यासी सर्वथा स्वतन्त्र होता है। जेलर की जेल उसको कैद नहीं कर सकती।

इन्द्रियों के अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाओं का उसकी चेतना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह न उच्छृंखल है न परतन्त्र; वह सर्वदा स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता का उपार्जन उसने कर्मयोनि मानव शरीर में रहते हुए, भोगवाद के उतार-चढ़ाव से अनुभव प्राप्त कर अपने को स्वतन्त्र अर्थात् बन्धनों से पराश्रय से मुक्त कर जीवनन्मुक्त का पद प्राप्त कर, लिया है। जिसने इस मानव शरीर में जीवन मुक्ति का पद प्राप्त नहीं किया वह स्थूल शरीर से पृथक् होने के बाद भी मुक्त नहीं हो सकता।

सांसारिक जन प्रकृति को केवल भोग्य समझ कर उसका उपभोग करना ही जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं। यही प्रारम्भिक भूल है। जिससे कि जीवन, जीवन न रह कर केवल मृत्यु का मार्ग बन जाता है। जीवन, जीवन को 'जीवन' बनाना एक कला है। इस कला को जानने वाले व्यक्तियों को आचार्य कहा जाता था। साधारण व्यक्ति संसार में पशु की तरह व्यवहार करते हैं। पशुओं के व्यवहार में बुद्धि का कोई स्थान नहीं। स्वाभाविक रूप से क्रिया की प्रतिक्रिया कर देना उनका आचरण है। साधारण व्यक्ति भी क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त के अनुसार ही कार्य करता है। उदाहरण के लिए किसी ने उसको ईंट मारी, उसने झट उसको पत्थर मार दिया। क्रिया-प्रतिक्रिया के चक्र का अन्त दोनों पक्षों में से एक या दोनों के साथ ही होता है। यह चक्र दोनों पक्षों के लिए अशान्ति का कारण बन जाता है। मनुष्य अपने जीवन में अशान्ति से ही बंधना चाहता है। परन्तु पशुयोनि की क्रिया-प्रतिक्रिया के संस्कार जाग जाते हैं और अपनी अनुपम देन बुद्धि की सहायता लेना भूल जाता है। एक न्यायालय में दो प्रतिद्वन्द्वी पड़ौसियों का मामला न्यायाधीश के सामने आया।। उसके पूछने पर कि क्या झगड़ा है ? दोनों ने कहा, "जज साहब, जो सजा देनी हो देदो, मामला समाप्त करो।" जज ने कहा, 'बिना कुछ मालूम किये सजा कैसे दूँ' । उसमें से एक ने बताया, "हम दोनों पक्के मित्र हैं।"

"सायं सन्ध्या करने नदी तट पर जाते थे। किनारे की रेत में मैंने एक चोकोर निशान बनाया। मित्र ने पूछा, 'यह क्या है?' मैंने कहा 'मैं एक खेत बनाने वाला हूँ।' मित्र, "मैं भी एक भैंस खरीदने वाला हूँ।" "भैंस मेरे खेत में घुस जायगी ।" मित्र ने मेरे निशान के पास भैंस बंधने की जगह का निशान बना दिया। मैंने कहा, "मिटा उसे, यह तो मेरा खेत चर जाएगी।" क्रिया-प्रतिक्रिया प्रारम्भ होगई। बस दोनों ने अपनी-अपनी लाठी उठाली । इसने मेरा सिर फोड़ा, मैंने इसका । — उस समय हमारी अकल मारी गई थी । अब कहते भी शर्म मालूम होती है। बात इतनी-सी थी । उसी समय होश से काम लेते तो न तो सिर फूटते और न न्यायालय में आना होता।" यह तो ऐसा प्रतीत होता है, कोई वानप्रस्थी रहे होंगे, जो नदी तट पर संध्या करने जाते थे। उनको जल्दी होश आगया और मामला निपट गया, नहीं तो ऐसे मामले तो सुप्रीम कोर्ट तक जा सकते हैं। कमी केवल सावधान रहने की है। होश से काम लेने वाला छोटे से छोटे काम में बुद्धि का दखल देता है, और जो पशुवृत्ति को छोड़ कर मनुष्य के एकमात्र चिन्ह बुद्धि से काम लेता है उसको अन्तश्चेतना में छिपे संस्कार और काम-क्रोधादि कोई भी विकार परास्त नहीं कर सकते।

....

(1)

आत्मदर्शन

योग, मुक्ति, आत्मदर्शन आदि शब्द बड़े आकर्षक हैं। अर्थज्ञान हुए बिना केवल शब्द ही साधक को खींचने के लिए पर्याप्त है। इस समय हमारा केन्द्रबिन्दु **'आत्मदर्शन'** शब्द है। उपनिषद् के प्रसिद्ध वाक्य **"यदाऽऽत्मतत्त्वेनतु"** इत्यादि से परमात्म दर्शन का साधन भी इसी **'आत्मदर्शन'** को कहा गया है। आत्मदर्शन का अर्थ आत्मा का दर्शन है। **'दर्शन'** अर्थात् देखने की क्रिया । इसमें तीन साझीदार होते हैं। एक का नाम है **'द्रष्टा'** देखने वाला, दूसरा होता है **'दृश्य'**, जिसको देखा जाय, और तीसरा है **'दर्शन'**, दृश्य का द्रष्टा को ज्ञान । 'द्रष्टा' तो चेतन जीवात्मा है ही। 'दृश्य' यह सारा पांच भौतिक संसार है। जीवात्मा आँख आदि साधनों द्वारा इस संसार को देखता है। मन की सहायता से इन्द्रियाँ विषयों का ज्ञान चित्त तक ले आती है। चित्त स्वयं जड़ है। आत्मा की चेतना उसमें सम्भ्रान्त होकर उसको चेतन बना देती है। चित्त में जो चेतना है, वह जीवात्मा की है। इसलिए चित्त में प्रतिफलित ज्ञान आत्मा को अनायास ही मिल जाता है। यदि प्रक्रिया यहीं समाप्त हो जाय तो शायद संसार न चले। जीवात्मा अविद्या के कारण चित्त के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इन्द्रियों को अनुकूल ज्ञान हुआ तो इन्द्रिय सुखी । इन्द्रियों और चित्त का साझा अनुभव होने से चित्त भी सुखी। चित्त में तादात्म्य स्थापित कर के जीवात्मा भी चित्त के समान सुखी-दुःखी होता रहता है। इसी हँसने-रोने, धूप-छाँह के सम्मिश्रण का नाम संसार है । 'द्रष्टा' दृष्टि मात्र है, स्वयं सर्वथा निर्लेप है, फिर भी इन्द्रियजन्य सुख दुःख का उसको ज्ञान होता ही रहता है। यह है सांसारिक ज्ञान।

पृथ्वी आदि पंच महाभूतों से उत्पन्न आत्मा के सादानी भूत इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त किया गया चित्त में, प्रतिफलित हुआ और अविद्यादोषग्रस्त जीवात्मा चित्त के साथ तादात्म्य स्थापित कर के उस ज्ञान से प्रभावित हुआ, कभी हँसता और कभी रोता है। इस सांसारिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए द्रष्टा और दृश्य में कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिए। अत्यन्त निकट होने का भी यही तात्पर्य है कि दूरी तो है परन्तु बहुत-बहुत कम। यदि यह दूरी सर्वथा न रहे, तो द्रष्टा देख नहीं सकता। आँख नौ करोड़ मील दूर, सूर्य्य को देख सकती है, परन्तु अपने ऊपर के ढ़कने

'पलक' को नहीं देख सकती। कारण यह है कि आँख और पलक के बीच दूरी नहीं। **'बृहदारण्यक'** में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद के अन्त में याज्ञवल्क्य ने कहा-

"येनेदं सर्वं विजाननाति तं केन विजानीयात् विज्ञातारमो केन विजानीयात्।"

जो चेतन आत्मा सबको देखने वाला है, मैत्रेयी उसको किस साधन से जाने, जानने वाले को किस साधन से जाने । सांसारिक पदार्थों को देखने के लिए दृश्य, द्रष्टा के सामने रहता है। परन्तु आत्मा तो आँख के सामने नहीं, पीछे है। आत्मा को देखने के लिए कठोपनिषद् में कहा है, **"कश्चिद् धीरः पुरुषगात्मानमैक्षत आवृन्त चक्षु ?"** आँख बन्द कर पीछे की ओर देखने वाला कोई विरला धीर आत्मा के दर्शन कर सकता है। ऋषि ने एक बात तो बता दी कि आत्मा दर्शन बहिरंग साधन- चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं हो सकता। आत्मदर्शन के लिए चक्षु आदि साधन असमर्थ हैं। इस बात को केन उपनिषद् में भी **"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनोन"** इत्यादि में भी कहा गया है। वास्तविक प्रश्न याज्ञवल्वय का कि **"विज्ञातारमरे केन विजानियात्"** तो अनुत्तरित ही है। अन्तर्मुख हो जाने के बाद भी आत्मा का दर्शन किस साधन व इन्द्रिय से होगा, यह भी अभी स्पष्ट नहीं हुआ।

एक उदाहरण लें, अंधेरे मकान में प्रविष्ट हुए कुछ दिखलाई नहीं देता। खाट, पलंग, कुर्सी सब पड़े हैं, पर प्रकाश के अभाव में कुछ दीखते नहीं। दीपक जलते ही सब दिखलाई देने लगे। दीपक के प्रकाश से प्रकाशित प्रत्येक पदार्थ दिखलाई देने लगा। दीपक, बत्ती, तेल सब दिखाई दे गया। जो पदार्थ अंधेरे मकान में विद्यमान थे, पर प्रकाश के अभाव में दिखलाई नहीं देते थे, सब दिखाई देने लगे। परन्तु एक नई वस्तु भी दिखलाई दे रही है **'दीपशिखा'** । यह पहले नहीं थी। इसकी उपस्थिति में सब सामान दिखाई दिया। दीपशिखा नामक नए पदार्थ को किसने दिखलाया ? प्राकृतिक जड़ चारपाई आदि पदार्थ स्वयं प्रकाशित नहीं थे। उनको प्रकट होने के लिए बाहर से प्रकाश की आवश्यकता थी । दीपशिखा स्वयं प्रकाश रूप है। उसको प्रकट होने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं थी। जीवात्मा भी चेतन ज्ञान स्वरूप स्वप्रकाश है, उसको प्रकट होने के लिए किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती।

साधक प्रश्न करता है - यदि वह आँख जोर से बंद कर ले, कानों में रूई लगादे और पद्मासन लगा कर बैठ जाय, तो क्या उसको इस आत्मज्योति के दर्शन हो जाएंगे? एक साधक का ही यह प्रश्न नहीं, लाखों साधक जिनको कम मूल्य देकर बढ़िया माल खरीदने की आदत पड़ गई है, तरह-तरह के आसन, नाना प्रकार के प्राणायाम आदि सस्ते साधनों से आत्म दर्शन करने का

प्रयास करते हैं। साधकों की इस भीड़ के अज्ञान का लाभ उठा कर जगह-जगह योग शिविर लगने लगे हैं। शिविरों को लगाने वाले स्वयं आत्मदर्शन करके कृतार्थ हो चुके हैं या नहीं, साधक अपनी जिज्ञासाओं में इस प्रश्न को स्थान नहीं देता और आँख बंद कर पद्मासन लगाने और प्राणायाम करने पर भी आत्मदर्शन क्यों नहीं होता? क्षण-क्षण पर उठने वाली परस्पर विरोधी वृन्तियों से चञ्चल और चलायमान चित्त अपने में तादात्म्य स्थापित किये हुए अपने स्वामी जीवात्मा को भी चलायमान किए रहता है। हवा के नरम गरम झोंकों से प्रताड़ित दीपशिखा की तहर यह जीवात्मा निरन्तर चलायमान होता हुआ उस प्रकाश का विकिरण नहीं कर सकता, जो प्रमाणवृन्ति को उत्पन्न करने वाले यथार्थज्ञान का **'साधक'** बने, ऐसे चंचल चित्त वाले साधक की साधना आसनों और प्राणायामों के सहारे चरितार्थ न होगी। सबसे पहले चित्त को स्थिर करने के लिए पतंजलि मुनि के बतलाए यम-नियमों को अपने जीवन का अंग बनाना होगा। यम-नियमों के पालन से साधना का प्रयोग होगा। साधना का प्रारम्भ यम-नियम से होगा ।

इस साधना के आठ अंग हैं - यम-नियम को इस सारी साधना का आधार समझना चाहिए। नींव के बिना बनाई गई शाला किसी भी समय हवा-पानी के साधारण झोंके से धराशायी हो सकती है। या ऐसा समझिए, हिम शिखर पर जाने के लिये आठ पड़ावों में से यह प्रारम्भिक पड़ाव है। यात्रा का सब सामान, रसद आदि का संग्रह, इस प्रारम्भिक पड़ाव पर किया जाता है। परन्तु बिना श्रम के या थोड़े ही श्रम से अनन्त फल प्राप्त करने की कामना का आदी-साधक सीधी छलांग लगा कर छटे पड़ाव 'ध्यान' की तरफ दौड़ता है। साधक की ईमानदारी पर संदेह नहीं। वह चाहता तो यही है आत्मदर्शन के द्वारा परमात्मदर्शन हो जाय, परन्तु मार्ग कर जटिलताओं का सामना करना नहीं चाहता । सब योग शिविर इस ही भ्रान्ति के शिकार हैं।

यम-नियम दस हैं। यदि दृढ़संकल्प वाला साधक अनुकूल वातावरण में सद्गुरु के अनुशासन में चलता हुआ एक महीने में एक व्रत को सिद्ध करले तो भी लगभग एक वर्ष तो यम-नियम साधना के चाहिएं। योग शिविर दस दिन में ध्यान लगवा देता है। पतंजलि मुनि कहते हैं -

"योगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।"

योग के आठ अंगों का विधिवत् अनुष्ठान करने से अशुद्धि का क्षय हो जाता है। अशुद्धि रूपी आवरण का क्षय हो जाने पर आत्मज्ञान प्रदीप्त हो जाता है। ज्ञान का प्रकाश प्रचण्ड होता

हुआ विवेकख्याति तक साधक को पहुँचा देता है। इस साधना पथ पर चलने की योग्यता का प्रमाणपत्र भी तो चाहिए। बिना योग्यता के साधना प्रारम्भ करने वालों के भाग्य में असफलता निश्चित है। इस प्रमाणपत्र के सम्बन्ध में मुनि का आदेश है **"शौचात् ..... आत्मदर्शन योगत्वानि च"।** यम-नियमों में अन्यतम **"शौचम्"** अर्थात् मलावरण का निरास व्रत का अनुष्ठान करके उसमें निष्णात होने वाला साधक आत्मदर्शन की योग्यता का प्रमाणपत्र प्राप्त करता है। ये मलावरण तीन प्रकार के हैं। सबसे प्रथम स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखने वाले मल, मूत्र प्रस्वेद आदि। दूसरे संस्कारजन्य क्लेश, रागद्वेष और तीसरा अध्यात्म 'अविद्या' जिससे अर्धमूर्च्छित होकर जीवात्मा विवेकशून्य होकर अचेतन शरीर आदि को चेतन इत्यादि मात्र धारणाओं से मार्गभ्रष्ट होकर जन्म-मरण के संस्कार चक्र में घूमता रहता है। इन तीनों प्रकार के मलावरणों का निरास करना ही शौचव्रत की सिद्धि का लक्ष्य है। इस आत्मदर्शन की योग्यता को प्राप्त कर लेने के बाद आसन, प्राणायाम आदि की साधना साधक को बड़े वेग से उसके अभीष्ट 'आत्मदर्शन' के लक्ष्य पर पहुँचा सकती है। इन यम-नियमों की अवहेलना करने वाला साधक सहसा छोटे पड़ाव 'ध्यान' पर जाने का प्रयास करेगा।

''''''''''

(2)

मुक्ति साध्य नहीं, स्वयं सिद्ध है

वानप्रस्थियों के कर्तव्य का निर्देश करते मनु महाराज कहते हैं **"संत्यज्य ग्राम्यमाहरं सर्व चैव परिच्छदम्"** ग्राम्य आहार से अभिप्राय बाजरे की रोटी से नहीं, चाट-पकौड़ी, लुच्ची-छोले से है। परिच्छद से अभिप्राय धोती-कुर्ते से नहीं, सजावट और आराम के सामान से है। गृहस्थ आश्रम में प्रत्येक गृहस्थी के लिए स्वाभाविक है कि वह अपने पड़ौसियों के साथ सात्विक स्पर्द्धा करता हुआ धन, यश, वैभव आदि में उससे आगे निकलने का निरन्तर प्रयत्न करता है।

एक पुरुषार्थी मित्र ने अधिक धन कमा कर एक सुन्दर बंगला बनाया। कार्यवश उनके निवास पर जाना हुआ। स्वभावानुसार मैं कुछ अध्यात्म चर्चा करना चाहता था परन्तु मेरे मुख से एक भी शब्द निकलने से पहले वे बंगले के लॉन, फव्वारे, तालाब आदि का वर्णन कर देते थे। कुछ दिन बाद एक बार फिर उनके पास जाने का संयोग हुआ। उनके शरीर की स्थूलता तो बढ़ गई थी पर चेहरे पर मुर्दाई छाई थी। मैंने जानबूझ कर उनके प्रिय प्रसंगों लॉन, फव्वारा, तालाब आदि की बात छेड़ने का प्रयत्न किया, परन्तु सफल न हुआ। अन्त में बहुत पूछने पर बोले, 'देखते नहीं, सामने चार मंजिला मकान खड़ा हो गया है। अब जब तक मैं छह मंजिला मकान न बना लूँ, मुझे चैन नहीं ।' यही दशा प्रत्येक गृहस्थ की है। प्रत्येक गृहस्थ में ईर्ष्या कहें, महत्वाकांक्षा कहें या दौड़ जाने में आगे निकल जाने की चेष्टा कहें, विद्यमान रहती है। मनु जब परिच्छद शब्द का प्रयोग करते हैं तो गृहस्थियों की सारी अनावश्यक उपलब्धियों का संकेत मात्र देते हैं, और ध्यान देने की बात है कि इस उपलब्धि का एक अंश ही आवश्यक होता है। शेष सब अनावश्यक होता है, परन्तु इस अनावश्यक संभार के पीछे दौड-धूप करना ही गृहस्थ की वास्तविक उपलब्धि है।

"परीक्ष्य लोकान् कश्चितान् ब्राह्मणे निर्वेदमायात् ।"

इस उपनिषद् वाक्य में यही आदेश है कि गृहस्थी सकाम कर्मों की दौड़ में निरन्तर अशान्ति का आह्वान करने पर जब थक जाता है तभी उसको परिच्छेदों में वैराग्य होता है। भूखा व्यक्ति भोजन पर टूट पड़ता है। यदि उसको दो-चार बार आवश्यकता से अधिक भोजन करने और उसके दुष्परिणाम अजीर्ण आदि को भोगने का अवसर आ जाय तो (यदि वह समझदार है) उसको

अति भोजन से वैराग्य हो जाएगा । संसार की दौड़ में भी गृहस्थी को पद-पद पर अशान्ति, निराशा, कामनाओं के वेग की अधिकता का अनुभव हो जाय तो अवश्य ही उसको वैराग्य हो जाएगा। जिसने गृहस्थ आश्रम में कामनाओं के इन वेगों का दर्शन, गंभीर अनुभव नहीं किया वह विरक्त हो नहीं सकता। उसको वैराग्य का आभास तो अवश्य होता है। उन वैराग्याभासों का नाम श्मशान वैराग्य अथवा शास्त्रीय वैराग्य है। श्मशान वैराग्य तो शवयात्रा के साथ आरम्भ होता और चिता-दाह के बाद के स्नान के साथ समाप्त हो जाता है। शास्त्रीय वैराग्य पाण्डित्य के साथ सम्बन्ध रखता है। उसका हृदय के साथ कभी सम्बन्ध होता ही नहीं। कामनाओं के पीछे दौड़ लगाकर जब व्यक्ति थक कर चूर हो जाता है, प्रत्येक कामना की पूर्ति अथवा विफलता के बाद अशान्ति की मात्रा को निरन्तर बढ़ता हुआ ही पाता है, तब जिस वैराग्य की भावना का उदय होता है वह गृहस्थ व्यक्ति को वानप्रस्थी बनने की सच्ची प्रेरणा देता है। यह सीधा, सरल और वास्तविक मार्ग है, जिस पर चलने के लिए मनु प्रेरणा देते हुए कहते हैं **"आधित्य ..... अनुत्पाद्य....."।** ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थी होना आवश्यक है। जो गृहस्थी हुए बिना संन्यास की तैयारी में वानप्रस्थ में प्रवेश करता है, अधिक संभव है कि उसका अधः पतन हो। स्वभावतः साधक के मन में प्रश्न उठता है कि 'इन कामनाओं का उदय क्यों होता है? क्या मानव जीवन में इनकी कोई सार्थकता नहीं? जब इन कामनाओं की पूर्ति के बाद भी शान्ति नहीं, तो इनकी उत्पत्ति का क्या प्रयोजन है?' - इस स्थिति में कामनाओं की उत्पत्ति का क्रम जानना चाहिए। अविद्या आदि दोषों से गृहस्थ जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप में भासित होने वाले आनन्द का स्मरण करता हुआ अभाव का अनुभव करता है। उस अभाव की पूर्ति के लिए सांसारिक विषयों का संग्रह करता है। धन, पद, यश, वैभव, भूमि, मकान किसी-न-किसी पदार्थ से 'खोखल को भरने' का यत्न करता है, पर वह खोखल आसानी से भरने वाली नहीं। जिन पदार्थों के भरोसे वह अपने अभाव की पूर्ति करने का यत्न करता है वह सब काल्पनिक सहयोगी है। उनमें से एक भी उसकी सम्पत्ति नहीं। सम्पत्ति वह, जो सदा साथ कदम मिला कर चले। मृत्यु की विभिषिका को देख कर यह सब भाग खड़े होते हैं। अविद्याग्रस्त जीवात्मा इनमें ममत्व की स्थापना कर **"मृत्योर्माऽमृतं गमय"** की प्रार्थना को चरितार्थ होता देख रहा था। मृत्यु का सामना होने पर जीवात्मा को यथार्थज्ञान होता है कि "तूने सारा जीवन जिन पदार्थों को अपना समझ कर जमा करने पर बिता दिया, वे परीक्षा की घड़ी में सब ही धोखा दे गए।' परन्तु यह ज्ञान उस समय आया जब जीवन की घड़ियां अन्तिम सांस ले रही थी। यदि गृहस्थ आश्रम में खाई ठोकरों से, किसी व्यक्ति को यह ज्ञान, ज्ञात ही नहीं, अनुभव ठीक समय पर हो जाय तो उसका वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश अवश्य कल्याणकारी होगा।

अनुभव के आधार पर यह समझ लेने पर कि मनु महाराज का कहा **'परिच्छदं'** "जीवनचर्या के लिए अनावश्यक-सा जो सामान" छोड़ कर वानप्रस्थ में प्रवेश करे ऐसा जो व्यक्ति वानप्रस्थ में प्रवेश करेगा वह उस 'परिच्छद' की व्यर्थता ही नहीं उसको साधना में विघ्न समझ कर नये सिरे से उसके संग्रह का प्रयत्न नहीं करेगा। इस मनःस्थिति को एक तरह से हम **'वशीकार वैराग्य"** का नाम दे सकते हैं। अनावश्यक परिच्छद के सम्बन्ध में यह भावना दृढ़ हो जाने पर व्यक्ति खान-पान, रहन-सहन, वस्त्रादि उपकरणों में निरन्तर सादगी लाने का प्रयत्न करेगा। जो साधक वैराग्य से भिन्न किसी अन्य कारण से वानप्रस्थी बनता है, वह फिर भी परिच्छदों में आसक्त रहेगा। इस आसक्ति की मात्रा में भेद हो सकता है। यह भेद परिच्छदों को जुटाने की सामर्थ्य आदि में भेद होने से हो सकता है। परन्तु आसक्ति तो आसक्ति ही रहेगी। यह आसक्ति ही जीवात्मा को अनन्त काल से लगातार भटका रही है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम स्वर्ण मृग के पीछे दौड़ कर अपनी प्राणवल्लभा पत्नी सीता को खो बैठे थे। हम सब भी प्रकृति के आकर्षक हिरण्यमय रूप को देख कर उस पर आसक्त होकर अनन्त काल से जीवन-मरण के चक्र में चक्कर काट रहे हैं। संसार चक्र एक पहिये की तरह है जो कि किसी के दुःख दर्द की परवाह किये बिना निरन्तर घूम रहा है। हम उस पहिये के एक अरे में आसक्त हैं। उसके साथ चिपके हैं, बंधे हैं, आसक्त हम हैं, जड़ प्रकृति नहीं। हम चाहें तो आसक्ति के बंधन का परित्याग कर सकते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम चाहते तो स्वर्ण मृग के पीछे न दौड़ते, न सीता हरण होता, न राम-रावण युद्ध होता, न लंका जलाई जाती, परन्तु हिरण्मय पात्र इतना अधिक आकर्षक है कि हम तो क्या मर्यादा पुरुषोत्तम तक सुधबुध खो बैठे।

गृहस्थ आश्रम के कड़वे अनुभवों से वैराग्य हो आने पर इस आसक्ति से बंधन छुट सकता है। आसक्ति एक रस्सी है, जिससे बंधन घटित होता है। बंधन घटित हो जाने पर छुटने की चेष्टा से उसकी गांठे और भी कसती जाती हैं। किसी विषय में राग होगया, प्रवचन सुन कर समझ में आगया कि राग करना बंधन का कारण है। अतः वैराग्य अथवा उस विषय से द्वेष प्रारम्भ हो गया। यह द्वेष उस राग का ही बड़ा भाई है। राग तो विषय की उपस्थिति में ही होता है। यह द्वेष तो होना ही, बना रहता है। द्वेष की भावना चित्त को क्षुब्ध करती है। सारांश यह कि आसक्ति अथवा आसक्ति जनित बंधन प्रयत्न से नहीं छुटता। प्रयत्न का मतलब है दौड़-धूप। सांसारिक व्यवहारों में अभ्यस्त हमने केवल एक ही अनुभव प्राप्त किया कि किसी भी वस्तु को प्राप्त करने का एक ही तरीका है, दौड़ कर उसको हथिया लो। अनादि काल से बालक इन्द्रधनुष को पकड़ने का प्रयत्न करते ही रहे हैं। प्यासा हरिण रेगिस्तान में मृगमरीची के पीछे दौड़ता अपनी जान तक दे देता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने तो स्वर्ण मृग के पीछे दौड़ कर अपनी हानि की। वह तो की ही, संसार को एक अमूल्य उपदेश दे दिया, आकर्षक पदार्थों के पीछे दौड़ पड़ने से पहले

क्षण भर स्थिर होकर सोच लेना उत्तम है। परन्तु जमा हुआ संस्कार ऐसी सुगमता से कैसे छूट सकता है। सांसारिक व्यवहारों में जिस दौड़-धूप को हमने कार्य-सिद्धि का एकमात्र साधन समझा था, घरबार छोड़ कर, वानप्रस्थ आश्रम में आकर भी वह फारमूला साथ लेते आए। संसार में धन, पद, शक्ति परिच्छद के संग्रह के लिए जो दौड़ लगाई थी वानप्रस्थ आश्रम में आकर वही दौड़ मुक्ति को प्राप्त करने के लिए लगा रहे हैं। सांसारिक व्यवहार में दुकानदारी का सिद्धान्त चल जाता है, चाहे उससे अभी फल की प्राप्ति हो या न हो, परन्तु सांसारिक पदार्थों में वैराग्य हो जाने पर भी जीवात्मा की अनन्त प्यास को बुझाने के लिए भी यदि उसी दुकानदारी का सहारा लेंगे तो काम बिलकुल नहीं चलेगा। दुकानदारी का काम गणित पर आधारित है, जितने पैसे दोगे उतना सौदा मिलेगा। अधिक पैसे दोगे जल्दी सामान घर पहुँच जाएगा । यह हिसाब-किताब, दौड़-धूप गृहस्थ को शोभा देती है। गृहस्थ ने 25-30 साल तक इसी सिद्धान्त को पकड़ कर जीवनयात्रा बिताई। खूब धन-सम्पत्ति बटोरी, पुत्र-पौत्र-सम्बन्धियों से घर भर गया, परन्तु आत्मा की अनादि प्यास, त्रिविध ताप की आत्यंतिक शान्ति की एक झलक भी न मिली। गृहस्थ को जब यह निश्चय हो गया कि परिच्छद से सांसारिक-सा, जो सामान से शान्ति के स्थान पर अशान्ति का बोलबाला होता जा रहा है, तब ही तो वह 'परिच्छद' का परित्याग कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट होता है। अनुभवी मार्ग दर्शकों ने बताया कि यह दौड़-धूप, यह सौदा-बाजी, सांसारिक पांच भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में कभी-कभी सफल भी होती है। परन्तु आत्मा की सच्ची प्यास अपने अभिन्न सखा के दर्शन प्राप्त करने की अभिलाषा, सांसारिक दौड़-धूप और सौदेबाजी से सिद्ध नहीं होने वाली। इसके लिए तो पूर्ण वैराग्य और पतंजलि मुनि के बतलाए 'वृन्ति निरोध' से ही सफलता मिल सकती है। पूर्ण वैराग्य में सांसारिक पदार्थों में आसक्ति छोड़ने से सफलता मिलेगी। यह आसक्ति ही बंधन का कारण है। चेतना जब तक सांसारिक विषयों को अपना लक्ष्य बनाए रखती है, बहिर्मुख रहती है। विषयों के बंधन में जकड़ी रहती है, मुँह फेरते ही वह अन्तर्मुख हो जाती है, और 'वृन्तिनिरोध' होने पर वह विषयबन्धन से मुक्त हो जाती है। बंधनों से मुक्त चेतना अपने स्वरूप का दर्शन करने के साथ ही अपने अन्दर व्याप्त अपने चिर सखा के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाती है। बन्धनों से मुक्ति की मुक्ति है ।

राजर्षि जनक ने प्रश्न किया **'कथं मुक्तिर्भविष्यति'** । मुक्ति की खोज पुरानी है। अष्टावक्र ने उत्तर दिया, **"मुक्तिमिच्छसि चेत्तातः, विषयान् विषवान्त्यज"** - मुक्त होने की लालसा है तो बन्धन रूप विषयों को छोड़ दो। विषयों को छोड़ना ही मुक्ति को पाना है। मुक्ति कोई सांसारिक पदार्थ नहीं जोकि किसी भी प्रकार का मूल्य देकर प्राप्त की जा सके। मुक्ति तो जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति है। इस स्वाभाविक स्थिति को विषयासक्त जीवात्मा ने स्वयं विस्मृत कर रखा है। विषय भी बन्धन के कारण हैं। विषय अचेतन है। वह आकर जीवात्मा से नहीं

चिपके। चिरनिद्रा से ग्रस्त जीवात्मा इन प्राकृतिक पंचभूतात्मक विषयों में आसक्त हो रहा है। इस अर्धचेतना या मूर्च्छाजन्य आसक्ति को जीवात्मा जिस क्षण छोड़ देगा उसी क्षण वह मुक्त हो जाएगा। किसी लम्बी चौड़ी भागदौड़, क्रियाकलाप की आवश्यकता नहीं। देखने या कहने-सुनने में इतना आसान लगने वाला आसक्ति परित्याग रूपी साधन करने में उतना ही कठिन हो जाता है। जीवन की भलीबुरी कमाई के रुपयों में से दस-पाँच रुपए दान करता व्यक्ति तरह-तरह के हिसाब लगता है। विषयासक्ति तो जन्मजन्मान्तरों की कमाई है। इसको केवल अष्टावक्र के मुख से सुन कर ही जनक कैसे छोड़ दे। परन्तु यह छोड़ना कोई घाटे का सौदा नहीं। हमारी मिल की आसपास की बस्तियों की गन्दगी को सम्हालती हुई एक नदी जब समुद्र में मिलने को होती है, तो अपने नाम और रूप को, जिनको कि वह एक दीर्घकाल से एकात्म किये हुए थी, परित्याग करती है। इस परित्याग के द्वारा वह नदी से समुद्र बन जाती है। अपने नाम-रूप जैसी नाचीज को छोड़ा और बन गई समुद्र । विषयों का परित्याग भी एक ऐसा ही परित्याग है। इन विषयों को हमने क्या भोगा, ये हमको भोग गये - **"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः"**। हम इनमें आसक्त थे। घर के मालिक अपने घर आये मेहमान पर रीझ गए थे। ये मेहमान रात में सारी सम्पदा लेकर चले गए। ऐसा घाटे का आतिथ्य करना बन्द कर के यदि हम अपनी सम्पदा की रक्षा कर सकें तो यह सौदा बड़े मूल्य का है। विषयो के परित्याग मात्र से मुक्ति का लाभ। जिस मुक्ति को प्राप्त करने के लिये संसारी जीव, सांसारिक दाँव-पेंच लगा कर उसको प्राप्त करना चाहता है। कभी किसी गुरु के चरण दबाता है, कभी किसी योग आश्रम में जाता है, कभी योग शिविर की आराधना करता है। ये सब दाँव-पेंच मुक्ति को प्राप्त करने के लिये करता है। मुक्ति पास खड़ी मुस्कुराती है। साधक एक के बाद एक निराशा को लिये नए-नए दरवाजे खटखटाता जीवन यात्रा पूरी कर लेता है। बात इतनी ही है कि बात कुछ भी नहीं। अष्टावक्र का आदेश अन्तिम है। **विषयान् विषवान्त्यज** - विषय से अभिप्राय केवल स्थूल इन्द्रियों के विषयों से नहीं, स्मृति, वृत्ति द्वारा संचित संस्कारों से है। महर्षि व्यास ने इसको 'रस' कहा है। इसका परिहार तो विवेकख्याति अथवा **'आत्मज्ञान'** से ही संभव है।

....

(3)

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

धर्म का सर्वप्रधान साधन शरीर है। शरीर तो साधन है, उसका साध्य धर्म है। शरीर चेष्टा कर सकता है, विचार मन का काम है, भावना हृदय का। बहिरंग इन्द्रियां शरीर के अंग हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां, इन दस इन्द्रियों से की गई चेष्टा का नाम आचरण है। धर्म के चार प्रमुख लक्षणों में, सबसे पहला श्रुति (वेद) केवल वेदज्ञों का भाग है। वेद से उतर कर स्मृति है। यह स्मृति भी पण्डितों के काम आ सकती है। तीसरा लक्षण सदाचार है। सत् असत् की पहचान में साधक धोखा खा जाता है। यह भी बड़े भारी क्लेश का कारण बन जाता है। महन्तों की गद्दियों ने संसार में ऐसा भ्रमजाल फैलाया है जिसको देख कर ज्ञानी अनुभवी कहलाने वाले व्यक्तियों ने संसार की धधकती आग बतला दिया। चौथा और अन्तिम लक्षण **'स्वस्य च प्रियम्'** रह गया। अपनी जेब कटती है तो यह घटना प्रिय नहीं लगती इसलिए जेब काटना, दूसरों की आवश्यकता का अपहरण करना अधर्म है। यह लक्षण तो ठीक है। इस लक्षण के अनुसार जीवन को ढ़ालने वाला साधक प्रायः अधर्म हीं करता। धर्म और अधर्म की उत्पत्ति का स्थान शरीर है, ऐसा मान लेने वाले अधर्म के जन्मदाता शरीर को कमजोर करने लग जाते हैं। न रहे बांस, न बजे बांसुरी। वे यह भूल जाते हैं कि भूखे शरीर से डाका डालना तो कठिन हो जाएगा, परन्तु उस टूटे शरीर से किसी की सेवा भी तो नहीं हो सकती। किसी असमर्थ रोगी को कन्धे पर उठाकर ले जाना भी तो संभव न होगा। साधक प्रश्न करता है - मनु महाराज ने वानप्रस्थियों का कर्तव्य बतलाया है **"शोषयेत् देहमात्मनः"** अपनी देह को सुखा डालो। उत्तर - यह भी तो लिखा है कि **"अम्मूलभिक्षाभिः पूजयेदाश्रमागतान्"** आश्रम में आने वाले अतिथियों का फलादि से सत्कार करें। **"अस्थिमात्रावशिष्ठ"** सूखी देह से न तो आश्रम का नाम चरितार्थ हो सकता है और न अभ्यागतों की सेवा फल मूलादि द्वारा।

ध्यान रहे चाय आदि पेय से अभ्यागतों की सेवा पशिचम का अनुकरण है। आज भी हैदराबाद के एक शिविर में 250 साधकों को प्रातः जलपान के समय आधा सेर दूध और यथेष्ट फल पपीता दिया गया। प्रश्न होता है कि फिर मनु के आदेश का क्या अभिप्राय है? सम्पन्न गृहस्थों ने सुखी जीवन बिताकर शरीर पर जो अतिरिक्त मेद एकत्रित कर ली थी, उसको कम करने के लिए

शोषयेत् का प्रयोग है। आश्रम का तो शब्दार्थ ही यह है कि विश्राम आदि आवश्यक कर्तव्यों को छोड़ कर शेष 14 घंटे किसी न किसी उत्पादक श्रम में व्यतीत करे। जिसका शरीर शारीरिक श्रम के लिए सर्वथा अयोग्य है, उसको चाहिए कि किसी अनुभवी प्राणाचार्य अथवा कुशल चिकित्सक की सहायता से पहले शरीर को व्याधिमुक्त करे। तब तक शरीर व्याधिमुक्त न होगा, उसके सूक्ष्मतर अन्तरंग साधनों का परिष्कार असम्भव है। इस शरीर को रथ से उपमा दी है। यदि रथ के पहिये धुरे, अरे आदि लड़खड़ाते होंगे तो कब तक उसका स्वामी, उस पर सवार होकर, अपने अभीष्ट लक्ष्य पर पहुंचने का स्वर्णिम स्वप्न देखता रहेगा। स्वस्थ शरीर, स्वस्थ निरोग और बलवती इन्द्रियाँ, मजबूत लगाम, सावधान सारथी ये सब मिलकर रथ के स्वामी आत्मा को शीघ्र ही अपने लक्ष्य पर पहुँचा देते हैं। शरीर से अभिप्राय छाती और पेट से नहीं; आत्मा की शक्तियों के विकास के लिए आवश्यक सब ही अंग, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण, सबका स्वस्थ होना शरीर के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। दसों इन्द्रियों में से एक-दो का भी रुग्ण होने का मतलब है कि रथ को खींचने वाले घोड़े बीमार हैं। अन्तःकरण प्रसुप्त अथवा क्षुब्ध होने का मतलब यह होगा कि लगाम कमजोर या सारथी बीमार है।

महाभारत के युद्ध में दुर्योधन और अर्जुन एक साथ द्वारिका पहुँचे । कृष्ण से दोनों ने सहायता चाही। कृष्ण ने कहा मेरी सभा के दो विभाजन हैं। दुर्योधन चाहे मुझे ले ले, चाहे मेरी सेना को लेले। दुर्योध ने सोचा अकेले कृष्ण को क्या लेना है, सेना के लाखों वीर काम आएंगे, सो उसने सेना मांग ली। अर्जुन की हार्दिक इच्छा पूरी होगई। महाभारत के सारे युद्ध में पाण्डवों की विजयश्री का श्रेय अर्जुन के सारथी कृष्ण को ही है। इस शरीर रूपी रथ में सारथी रूप बुद्धि का भी वही महत्त्व है। जीवन यात्रा को सफल बनाने के लिए अन्तरंग साधनों का भी बलवान स्वस्थ और कार्यक्षम होना आवश्यक है। इस स्वास्थ्य को प्राप्त करने के लिए केवल वाणी से प्रार्थना या शुभकामना कभी पर्याप्त न होगी। इस स्वास्थ्य को प्राप्त करने के लिए जिन-जिन मिथ्याचरणों से इस स्वास्थ्य का नाश किया था, उसका ठीक विपरीत आचरण करना होगा। हम आश्रमवासी प्रायः सुख (निरकुश) गृहस्थ जीवन बिता कर आए हैं। इस निरंकुशता का स्पष्ट प्रभाव आहार पर है। आहार का साधारण अर्थ भोजन लिया जाता है। किसी हद तक ठीक भी है। परन्तु आहार में बहिरंग साधनों द्वारा लिये गए स्थूल और ज्ञानेन्द्रियों से लिये गए अनुभवों का सभी का समावेश है। योग साधना में व्यस्त साधकों को सावधान करते हुए महर्षि व्यासदेव ने कहा, **"युक्ताहार....."** इत्यादि। आहार-विहार जीविका स्वप्न जागरण में अतियोग व हीनयोग करने वाले साधक को सफलता मिलेगी। जिह्वा के रस में, आसक्त भोजन में, चक्षु विषय रूप में, आसक्त विपरीत लिंगों में, अथवा चित्रपट आदि में श्रोत्र विषय में आसक्त संगति में, अतियोग करता और परिणाम में रक्तचाप, दुष्टव्रत, व्यातव्याधिओं आदि से पीड़ा पाता है। समझदार चिकित्सकों की सम्मति है कि अनाहार से

उतनी मृत्यु नहीं होती जितनी पेटभर भोजन करने वालों की। ब्रह्मचर्य के मनसा परिक्रमा के तीसरे मंत्र में आदिमूल सत्ता को वरुण का रूप देते हुए कहा **"अन्नमिषव:"** साधक की थाली में पड़ा निश्चेष्ट दिखलाई देने वाला अन्न मात्रा से अधिक खाये जाने पर **'विचर्षणि'** वरुण के पाश में बंधा भोक्ता नाना प्रकार के रोगों से पीड़ित होता है।

महर्षि व्यास ने कहा आहार के साथ विहार **"विपरीत दिशा में गमन"**, भोजन के साथ मल विसर्जन का भी ध्यान रखना चाहिए। शरीर में उत्पन्न होने वाले रोगों में अधिकांश अतिभोजन अर्थात् पेट के साथ सम्बन्ध रखते हैं। अफारा या पेट में गैस के एक रोगी का विचित्र आदेश मुझे स्मरण आता है। 'दवा आप चाहे जितनी कीमती देदें, परन्तु भोजन के सम्बन्ध में कोई आदेश न दें।' उसने कहा। मुझे आश्चर्य होता है जब कोई कहता है कि **'भूख लगी है'** क्योंकि भूख तो मुझे आज तक लगी नहीं, पर दोनों समय पाँच-पाँच रोटी अवश्य खाती हूँ। इसके बिना बड़ी बेचैनी होती है। यह तो ऐसा ही हुआ कि पाँच सौ रुपए मासिक आय वाला एक गृहस्थ किसी गणितज्ञ के पास जाकर कहे कि खर्च सात सौ है। दो सौ बीमा के भी देने हैं। आय पाँच सौ बराबर कर दी। नही हो सकता, खर्च में कमी करनी होगी। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उसमें आहार आदि के मिथ्यायोग से उत्पन्न विषयों का निराकरण करना होगा। ये विष शरीर की धाराओं में यथास्थान आश्रय पाते हैं। सभी चिकित्सक भिन्न-भिन्न रोगों की भिन्न-भिन्न औषधियों द्वारा चिकित्सा करते है। परम कारुणिक महर्षि पतंजलि ने योग मार्ग पर आरूढ़ अपने साधकों को प्राय: सभी रोगों की एक मात्र चिकित्सा बतला दी **"प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य"** । सूत्र तो मन की स्थिति का उपाय बतलाता है, परन्तु यह मन की स्थिरता बिना रुग्ण हुए संभव नहीं। सारे शरीर में पांव के अंगूठे से शिखापर्यन्त निरन्तर सोते-जागते में भ्रमण करने वाला रक्त, वायु मण्डल से श्वांस में लिये गए प्राणवायु द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंग में उपस्थित या संचित रोग की उत्पत्ति के कारण रूप विजातीय पदार्थों को साथ लेकर प्रश्वांस द्वारा बाहर निकाल देता है। यह प्रक्रिया इतनी जटिल और इतनी आवश्यक है कि यदि तीन मिनट के लिए यह प्रक्रिया बन्द हो जाय तो जीवन समाप्त हो जाता है। इस प्रक्रिया को उपयोगी बनाने के लिए विशेषज्ञों ने अनेक प्रकार के अभ्यास बना दिये हैं। व्यक्ति विशेष की स्थिति की अपेक्षा में वे अभ्यास गुणकारी भी प्रमाणित होते हैं। शरीर के सब ही आवश्यक अंगों में एक-एक अंग को शस्त्र क्रिया से पृथक् कर अथवा निश्चेष्ट कर देने पर भी मनुष्य जीवित रहता है। परन्तु श्वास प्रश्वास की एकमात्र प्रक्रिया ऐसी है कि इसके रुक जाने पर जीवन समाप्त हो जाता है। श्वांस का स्थूल शरीर के जीवन के साथ ऐसा प्रगाढ़ सम्बन्ध है। अन्त.करण मन के साथ तो इसका तादाम्य ही है। मन की एकाग्रता के साथ श्वांस स्थिर हो जाता है। सायंकाल के धुंधलके में छोटी सुई में धागा डाल कर देखिए, श्वांस को रुका पाएंगे। किसी भी कारण से श्वांस में चंचलता हो (थकान, ज्वर, आवेग आदि से), मन को अथवा मन की सहायता से

काम करने वाली इन्द्रियों से अभीष्ट काम नहीं कर पाएंगे। श्वांस मन का वाहन है। श्वांस स्थूल शरीर का वाहन है। जब श्वांस बाहर जाता है वह क्षणिक मृत्यु है। भीतर जाना श्वांस 'जीवन' है। जब अन्तिम बार श्वांस बाहर जाता है लोक में उसी का नाम मृत्यु है। जीवन-मरण का यह नाटक जन्मभर चलता-चलता हमको इस सांस की महत्ता की तरफ ध्यान दिलाता है। इसकी एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि शरीर की ऐच्छिक और अनैच्छिक क्रियाओं में स्पष्ट विभाजन होने पर भी यह दोनों में सम्मिलित है। श्वांस की इस विशेषता को दृष्टि में रखकर महर्षि पतंजलि ने मन की स्थिरता सम्पादन करने के लिए श्वांस को ही माध्यम बनाया। विजातीय पदार्थों की उपस्थिति से उत्तेजित रक्त मन की चंचलता का कारण बनता है। श्वांस द्वारा प्राणवायु के फेफड़ों में जाकर रक्त को समृद्ध कर देने पर प्रश्वांस द्वारा शरीर में संचित मल बाहर निकल जाता और उत्तेजित मन शान्त हो जाता है।

सूत्र का अर्थ यह है श्वांस को वमन की तरह बलपूर्वक फेंकने और वहीं रोक लेने की साधक की एक क्रिया होगई। कुछ समय तक बाहर रुक जाने के बाद वायुमण्डल के स्वाभाविक दबाव के कारण खाली फेफड़ों में वायु स्वयं प्रवेश कर जाएगी । इस प्राणवायु को फिर पहले की तरह बाहर फेंकना और कुछ समय तक (यथाशक्ति) बाहर ही रोकना। साधक इस अभ्यास को नियमित रूप से दीर्घकाल तक करता जाय। आहारादि की शुद्धि पर ध्यान दें तो शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के कष्टों में कमी होगी। साधना पथ पर चलने वाले साधक को अनुभव होने लगेगा कि उसका शरीर उसका साथ देने लग गया।

प्रारम्भ में हमने कहा था कि **"आचारो परमो धर्मः"**। केवल जानकारी पर्याप्त नहीं, उस जानकारी को कर्म का रूप देना आवश्यक है। केवल स्वस्थ और बलवान् शरीर ही ज्ञान को कर्म में रूपान्तरित कर सकता है। इसी आशय को सामने रख कर कहा गया था -

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।'

....

(4)

परम पुरुषार्थ

हम पुरुष हैं। हमारी एक पुरी है। हमने उसका निर्माण कभी नहीं किया। हम उसका निर्माण कर भी नहीं सकते। उसका निर्माण किसी ऐसे कुशल कारीगर ने किया है कि सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी, जिसके पास बुद्धि नाम का एक अनमोल रत्न है। उस रचना का एक अंश भी नहीं समझ सका। किसी अज्ञेय शक्ति ने हमको उस पुरी का मालिक बना दिया है। मार्ग दर्शक विचारकों ने हम को सावधान भी कर दिया कि इस पुरी में ग्यारह सहायक सेवा करने के लिए हमको दिये गए हैं। उन सेवकों से यथायोग्य सेवा लेना एक समझदारी का काम है। समझदारी का स्वरूप यही है कि निरन्तर जागते रहना है। जागना सेवकों को नहीं, पुरी के स्वामी को जागना है। सेवक बड़े लुटेरे हैं। उनको पुरी का शुभ चिन्तक समझ कर यदि पुरी की रक्षा का भार इन्द्रियों पर डाल दिया जाय तो इसमें उनको तनिक भी दोष न होगा।

इन सेवकों का साधारण नाम इन्द्रिय है। गिनती में ये ग्यारह हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ उसका प्रचलित नाम **'मन'** है। शास्त्रों में इसका नाम अंतःकरण है। इसकी उत्पत्ति सृष्टिक्रम में कब हुई और किस उपादान से हुई, इस सम्बन्ध में महर्षि कपिलाचार्य ने अपने सांख्यदर्शन में कहा **'महतोऽहंकारः'**। सृष्टि की रचना में सबसे प्रथम महत्त्व की उत्पत्ति सत्व, रज, तम - तीन गुणों से, जिस महत्त्व की उत्पत्ति, हुई वह सत्वगुण प्रधान था। भौतिक दृष्टि से वह अत्यन्त सूक्ष्म था। क्योंकि वह शक्ति का प्रथम रूपान्तरण था। उसको हम सृष्टि के रचयिता परब्रह्म का चित्र भी कह सकते हैं। सृष्टि रचना क्रम में महत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति हुई। महत्त्व शक्ति का रूपान्तरण, अत्यन्तसूक्ष्म, सारे ब्रह्माण्ड का उपादान, अहंकार को सबसे पहले इसलिए उत्पन्न करता है कि सृष्टि की रचना जिस वासनाग्रस्त जीवात्मा के भोग के लिए की गई है, उसमें व्यक्तित्त्व चेतना उत्पन्न हो। व्यक्तित्व उत्पन्न हुए बिना वासना के आधार जीवात्मा की तृप्ति नहीं हो सकती। यह तृप्ति क्षणिक थी, क्योंकि इस तृप्ति का मूल जड़ प्रकृति स्वयं क्षणिक है, अर्थात् परिवर्तनशील और नाशवान् थी। फिर भी एक सत्य उसने जीवात्मा के सामने उजागर कर दिया कि जिस वस्तु की आपको आवश्यकता है उसको प्राप्त करने के लिए उस वस्तु के भण्डारी के पास जाना चाहिए।

सर्दी लगती है, गर्मी की चाह है। गर्मी के भण्डारी अग्नि के पास जाओ। सृष्टि प्राणिमात्र को यह शिक्षा दे रही है। बुद्धि से हीन पशु-पक्षी, कृमि-सरीसृप इस शिक्षा को स्वाभाविक ज्ञान से प्राप्त करते हैं। मनुष्य को इस स्वाभाविक ज्ञान के बदले में बुद्धि दी गई है। अहंकार के साथ बुद्धि, चित्त और मन यह तीन और उपकरण हैं। मुख्य साधन जीवात्मा का अहंकार है। व्यक्तित्व का निर्माण इस ही अहंकार **'मैं'** से होता है। इस अहंकार की उपस्थिति में व्यक्ति अपने से भिन्न पदार्थ मात्र को जड़ चेतन सृष्टि को और यहाॅ तक कि परब्रह्म को भी अपने से भिन्न मानने लगा है। मानता इसलिए है कि सृष्टि को तो अपना भोग्य समझता ही है। कारुणिक परब्रह्म को स्तुति द्वारा अपने अनुकूल बना लेने का उसको भ्रम है। इस भ्रम की उत्पत्ति उस अज्ञान से है जो कि प्रारम्भ से उसके स्वरूप अल्पज्ञता के साथ विद्यमान है। इसलिए वह अपनी सत्ता को शेष सत्ता मात्र से भिन्न मानने लगता है। यह मान लेना उसके अज्ञान का सूचक है। ऐसा वह जानता नहीं है। इस अहंकार का चतुष्पद रूप है। एक पाॅव पर तो स्थिरता न होती। इस कमी को दूर करने के लिए रचयिता ने उसको चतुष्पाद बना दिया। अहंकार तो था ही, बुद्धि-चित्त और मन इन तीन प्रक्रियाओं के और मिल जाने से अन्तःकरण चतुष्टय होगया। अहंकार से व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। जीवात्मा ने अपने से शेष सारी सत्ता से अपने को पृथक् समझने की भारी भूल की। व्यक्ति की सत्ता केवल जड़-पांचरूपवाली प्रकृति पर ही निर्भर नहीं। कोई भी व्यक्ति भूमि, जल, वायु, अग्नि, आकाश रूप में उसकी सेवा के लिए ही नहीं, उसकी सत्ता के लिए उद्यत प्रकृति की उपेक्षा नहीं कर सकता। केवल जड़ प्रकृति ही उसके जीवन की सत्ता का आधार नहीं, उसके सामाजिक जीवन के लिए तो असंख्य उसके सजातीय और विजातीय प्राणिओं की आवश्यकता है।

बचपन से भी पहले शैशव में उसको माता की आवश्यकता थी । बचपन में खेलने के लिए साथियों की आवश्यकता थी। यौवन में गृहस्थ संचालन के लिए अर्धांगिनी की आवश्यकता रही, वानप्रस्थ आश्रम जीवनधारा में परिवर्तन लाने के लिए साथी साधकों और मार्गदर्शन के लिए दीक्षागुरु की आवश्यकता थी। इन सारी परिस्थितियों को देख, अपने व्यक्तित्व की हीनता का परिचय तो उसको अवश्य मिला होगा। इस हीनता को दूर करने के लिए उसने अपने आसपास ईंट-पत्थरों की चारदीवारी उठानी प्रारम्भ की। इसके बाद सारा जीवन इसी हीनता को दूर करने में व्यतीत हुआ। लोग मूर्ख न कहें इसलिए विद्यालयों, महाविद्यालयों से प्रमाणपत्र प्राप्त करने में पन्द्रह-बीस वर्ष व्यतीत किए। कोई मुझे अपमानित न करे, इसलिए समाज में उच्चपद पाने के लिए जमादारी, सरपंची, टीचरी, मिनिस्टरी, एक के बाद एक 'टरी' की सीढ़ियों पर चढ़ने का प्रयत्न किया। कोई गरीब या दरिद्र न कहे इसलिए घर में चाहे पौष्टिक भोजन के अभाव में बच्चे सूखे की बीमारी से पीड़ित हों, परन्तु प्रदर्शन के लिए, बढ़िया कीमती सूट और साड़ी पहन कर निकले। सारा जीवन व्यक्ति, अपनी बुद्धि, बल, दरिद्रता और प्रतिष्ठा की 'कारी' को, छिपाने का प्रयत्न करता रहता है।

यदि उसको यथार्थ स्थिति का ज्ञान होता कि वह इतनी बहुमूल्य 'पुरी' का शासक है कि उसको अपनी कल्पित कमियों को पूरा करने के लिए अपने से भिन्न किसी की भी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। किसी के भी सामने दैन्य प्रदर्शन करता हुआ हाथ पसारे भीख मांगने के लिए नहीं जाना चाहिए। जिस साधक को स्वाध्याय के द्वारा अपनी 'पुरी' का और उसके अधिष्ठाता 'स्व' के स्वरूप से परिचय प्राप्त करके जान लिया है कि वह रहस्यों से भरी एक बहुमूल्य 'पुरी' का अधिष्ठाता है। वह अज्ञानवश अपने पर आरोपित दरिद्रता अथवा अपमान को छिपाने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न और प्रदर्शन नही करेगा। एक गृहस्थ रोजगार में घाटा आ जाने से दुकान का दिवाला निकल जाने पर आने वाले संभावित अपमान की शंका से गंगा के पुल पर खड़ा होकर कपड़े उतार कर धारा में छलांग लगाने का प्रयत्न कर रहा था। 'दीवाले' का अपमान एक तरफ, परिवार के प्रियजनों का मोह दूसरी तरफ, द्वन्द्व युद्ध चल रहा था। छलांग लगाता-लगाता पीछे को हट जाता था। एक साधक ने देखा और पास जाकर पूछा, 'ऐसा क्यों कर रहे हो?' गृहस्थ बोला - 'बात करने की फुरसत नहीं, मुझे कूदने दो। पैसे का मामला है, तुम कुछ नहीं कर सकते।" साधक ने कहा, "मैं तुमको लाख-दो लाख रुपया दिला सकता हूँ।" गृहस्थ को एक सज्जन के पास ले गया, जिसको एक धनपति मरीज के लिए एक आँख की आवश्यकता थी। धनपति ताजी आँख के लिए एक लाख देने को तैयार था। गृहस्थ की आँख का सौदा एक से डेढ़ लाख तक पहुँच गया, पर वह देने को तैयार न हुआ। साधक ने कहा, "तुम पचास हजार के ऋण के पीछे प्राण विसर्जन करने को उद्यत थे, नहीं जानते थे कि इस शरीर में कितनी बहुमूल्य इन्द्रियां सम्मिलित हैं। एक समझदार डाक्टर एक इन्द्रिय के लिए डेढ लाख दे रहा है, तुम देने को राजी नहीं। अब तुम समझ गए हो कि परब्रह्म ने जो शरीर तुम को दिया है, वह एक डाक्टर की दृष्टि में करोड़ों का है। परन्तु वस्तुतः यह अनमोल है। शरीर के ऊपर दिखलाई देने वाले करोड़ों बालों में से आज तक कोई वैज्ञानिक एक बाल भी नहीं बना सका है। अज्ञेय सत्ता के द्वारा दिये गए इस रथ का आत्मा के इस अधिष्ठान का जीवात्मा और परमात्मा के मिलन मन्दिर के आधार के सम्बन्ध में साधक को यथासंभव अधिक से अधिक जानकारी रखनी चाहिए, जिससे कि इस शरीर में स्थित इन्द्रियों का सत्य अर्थ में स्वामी इन्द्र कहलाने का अधिकारी बन सके। ब्रह्मयज्ञ को प्रारम्भ करता हुआ **"वाक् वाक्"** आदि मंत्र से इस ही सच्चाई की ओर ध्यान खींचता है। साधक को प्रयत्न करना चाहिए कि ग्यारहों इन्द्रिय बलवान् हों और स्वस्थ हों, नीरोग हों। अस्सी वर्ष से आगे मनुष्य को संसार का अनुभव होता है, तभी इन्द्रियों की अधिक आवश्यकता होती है। अपने अज्ञान और असावधानी से हमने अपनी मिलकियत को तब तक नष्टप्राय कर दिया होता है। भारी पुरुषार्थ की आवश्यकता है कि शतायु होने तक इनको सक्षम रखें, करोड़ों रुपए जमा करने की अपेक्षा अपने अधिष्ठान रथ की देखभाल पर परम पुरुषार्थ है।

....

(5)

श्रोता

''''''

श्रोता का साधारण अर्थ सुनने वाला होता है। परन्तु आश्रम में आकर श्रोता शब्द प्रवचन को सुनने वाले के अर्थ में लिया जाता है। प्रवचन देने वाला होना तो एक ही चाहिए। प्राचीनकाल में आश्रम परम्परा में आश्रम में केवल एक आचार्य होता था। उस आचार्य की विचारधारा केवल (उसी आचार्य की विचारधारा) उस आश्रम में प्रचारित होती थी। जिस साधक को उस आचार्य की विचारधारा अपने स्वभाव के अनुकूल होती थी, **'श्रोता साधक'** उसी आचार्य के आश्रम में निवास कर लेता था। आचार्य की विचारधारा को पुष्ट करने के लिए आश्रम से आश्रमों में भ्रमण करने वाले संन्यासी साधकों की रही सही शंकाओं का समाधान करते रहते थे। उन छोटे-छोटे आश्रमों में केवल एक आचार्य होता था जोकि सायम्प्रातः साधकों को मार्गदर्शन करा देता था। श्रोता एक ही विचारधारा को सुनने के अभ्यस्त हो जाते थे। उनको अनेक अधकचरे आचार्यों के प्रवचन सुन कर किंकर्तव्यविमूढ़ होने का अवसर ही होता था। आवश्यक नहीं इन अनेक आचार्यों में कुछ अपने-अपने विषय में पारंगत न हों, फिर भी साधक की विचारधारा की अनुकूलता का भंग तो होता ही था। आचार्य कपिल की विचारधारा महर्षि पतंजलि की विचारधारा से, कम से कम साधक के लिए, तो सर्वथा भिन्न है। एक आचार्य सांख्य के ज्ञान योग की शिक्षा दे, दूसरे दिन दूसरा आचायं कर्मयोग की शिक्षा दे, तो साधक, उनमें से किसी को भी अमान्य तो नहीं कर सकता, फिर भी उसका मन संदिग्ध तो हो ही जाएगा। इसलिए ही संभवतः एक आश्रम में एक आचार्य की परम्परा थी। साधनाकाल में साधक से यह आशा करना कि वह भिन्न प्रतीत होने वाले आचार्यों के मतों में स्वयं समन्वय कर लेगा उचित नहीं। श्रोता शब्द का शुद्ध उच्चारण कठिन होता है। इसको 'सरोता' कह देते हैं। 'सरोता' सुपारी जैसी कठोर वस्तु को काट देता है। इस ही आशय को लेकर श्रोता का भी यही अर्थ समझा कि वक्ता ने तो कहा उसकी काटछांट करना भर ही श्रोता का काम है। इस प्रकार के श्रोताओं की कमी नहीं जो कि वक्ता के एक-एक वाक्य की अपनी योग्यता के अनुसार आलोचना कर देना श्रोता का कर्तव्य समझते हैं । इसी काटछांट को **'मनन'** कहते हैं। काट-छांट करने वाले, आलोचना करने वाले, कुछ ग्रहण करते नहीं आते। वे तो केवल प्रवक्ता की परीक्षा लेने आते हैं। और प्रायः प्रवक्ता को अयोग्य करके अपने को महापण्डित समझे की भूल का शिकार होते हैं। श्रोताओं की भी प्रवक्ताओं की तरह अनेक श्रेणियाँ हैं।

पहली प्रकार की श्रेणी है आलोचकों की, **दूसरी** परीक्षकों की; ये परीक्षक कहते हैं, यह तो मुझे पहले ही मालूम था, कोई नई बात तो बताई नहीं। **तीसरे** प्रकार की श्रेणी है श्रोताओं की। उनको क्या कहा गया, इससे मतलब नहीं, कैसे कहा गया, इसकी चिन्ता है । भाई बोलता खूब था, बीच-बीच में रामायण की चौपाइयाँ गाता था, और तो और अंगरेजी भी बोलता था, हँसता और हँसाता भी था, नौटकी वालों की तरह आवाज निकालता था। उनको क्या कहा जाय, इससे कोई मतलब नहीं। ये श्रोता भौंरे हैं, कर्णरस का पान करने वाले।

चौथे श्रोता वह हैं जो प्रवचन में कही गई बातों में अपने मतलब की बात पकड़ लेते हैं। प्रवक्ता सत्याचरण पर बोल रहा था। **"आत्मज्योति का साक्षात्कार ही सत्य है, और प्रत्येक की आत्मा स्वभाव से शुद्ध है.....।"** सेठ जी अपने मित्र के पास बैठे थे, बोले - "देखा, आत्मा स्वभाव से शुद्ध है; अभी पण्डित ने कहा था, दुकान के दाँवपेच का उस पर कोई असर नहीं। म्हारी आत्मा तो शुद्ध पवित्र है.....''। प्रवचन करने वाला असत्य आचरण पर बोल रहा था। सेठ जी अपनी जमाखोरी को प्रमाणित कर गए।

अभी **पाँचवी** प्रकार और है - एक श्रोता ने किसी विशेष प्रक्रिया से कानों के दोनों छिद्रों में आरपार रास्ता बना लिया था, इस कान से सुना, उससे निकाल दिया; उसका सुना इससे निकाल कर बाहर किया। सुनेंगे अवश्य क्योंकि पण्डित के वचन सुनने से जो पुण्य होता है उससे क्यों वंचित रहें। सायं का प्रवचन सुनने के लिए, प्रातःकाल का सुना, अनसुना करके स्थान रिक्त कर लेते हैं।

इसके बाद **छटा** श्रोता है, उसका शास्त्रीय नाम है **'जिज्ञासु'**। जिज्ञासु श्रोता केवल अपनी जानकारी में वृद्धि अथवा संशोधन करता है। उसको प्रवक्ता के कैसे और क्यों की अपेक्षा अपने **'क्या'** पर ध्यान रहता है। यदि आधे घण्टे के प्रवचन में उसको एक वाक्य भी ऐसा मिल गया, जिससे उसकी किसी शंका का समाधान हो गया अथवा उसकी जीवन यात्रा के मार्ग पर थोड़ा-सा भी प्रकाश पड़ गया तो वह एक सन्तोष की सांस भरता, और उस कथन-वाक्य-विचार को अपने भीतर संग्रहीत कर लेता है। सच्चा जिज्ञासु इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता। एकान्त में अथवा मित्रों के साथ बैठ कर संग्रहीत वाक्य या विचार पर मनन करता है। अपने वर्तमान जीवन पर, उसकी उपयोगिता पर विचार करता है। सच्चा जिज्ञासु श्रोता इस विचार से ही सन्तुष्ट नहीं होता। उस विचार को क्रियान्वित भी करता है। अपने आचरण का उस विचार को अंग बना लेता है। जो श्रोता विचार तक अर्थात् मनन तक रुक जाते हैं उनकी संख्या अधिक है। विचार को उपयोगी बनाने के लिए उसको आचरण का रूप देना अन्तिम और एकमात्र उपयोग है। श्रोता होने के लिये आवश्यक है कि वह जिज्ञासु हो और जिज्ञासा के साथ वह अंधविश्वासी न हो। अंधविश्वास को आलसी लोग 'श्रद्धा' जैसा

सर्वोत्तम नाम देकर, अपने साथ बड़ा भारी कपट कर लेते हैं। बुद्धिपूर्वक सत्य असत्य का निर्णय करके सत्य को धारण कर लेने का नाम श्रद्धा है। यह बुद्धि, यदि किसी की मलिन है, चिर स्थिर न होने से अशान्ति व्याप्त है, मन में तरह-तरह की शंकाएं उठकर व्यक्ति को विक्षिप्त बनाए है, ऐसी स्थिति में साधक यदि चाहे कि बुद्धि से काम लेकर स्वयं सत्यासत्य का निर्णय करले, संभव नहीं। ऐसा साधक प्राय: तामसी वृत्ति वाला होता है। किसी भी पाखण्डी गुरु के जाल में फँस जाता है। श्रोता बनने के लिए, सर्वप्रथम, अपने आचरण पवित्र करने चाहिएं। सत्पुरुषों की संगति में रह कर, नाना प्रकार की शंकाओं से अपने को मुक्त करना चाहिए। ऐसा स्थिर बुद्धि वाला साधक, जब अपने सौभाग्य से किसी उत्तम विचारक के प्रवचन को सुनने जाएगा तब अनेक शास्त्रीय उद्धरणों और विचारकों के विचार सुनने के बाद, उन अनेक विचारों में से अपने लिए मार्ग दर्शक विचार को पकड़ने में समर्थ होगा। सच्चा श्रोता होने के लिए अपनी बुद्धि का परिष्कार पहले कर लेना आवश्यक है।

एक जिज्ञासु श्रोता जिसका अपनी परिष्कृत बुद्धि पर बड़ा गर्व था एक प्रसिद्ध प्रवक्ता के प्रवचन को बड़ी उत्सुकता के साथ सुनने को आया। पूरा प्रवचन बड़े ध्यान से सुनने के बाद बोला, हम तो बड़ी आशा से आपका प्रवचन सुनने को आए थे कि कोई नई बात सुनने को मिलेगी, आपके प्रवचनों में तो वही उपनिषदों - सांख्य, योगादि - दर्शनों के सिवाय और कुछ भी न था। प्रवक्ता ने कहा, नए विचार कोई कहाँ से ला सकता है। दसियों हजार वर्ष से संसार भर के अरबों विचारकों से कोई विचार अछूता नहीं रह सकता। प्रवचन देने वाले उन्हीं विचारों को समयानुसार अपनी वाणी का जामा पहना कर श्रोताओं के सामने उपस्थित कर देते हैं। श्रोता जो इस विचार से सुनने को नहीं आना चाहिए कि कोई नया विचार मिले। नए श्रोता के लिए विचार नए हों भी सकते हैं परन्तु आलोचक श्रोता भी, यदि इस विचार से सुनने को आवें कि इनमे से किस विचार पर मनन करके उसको उपादेय समझ कर भी अभी तक अपने आचरण का अंग नहीं बनाया है तो श्रोता को आश्चर्य होगा कि प्रत्येक प्रवचन में उसको अनेक रत्नों की उपलब्धि हो सकती है। जो श्रोता प्रवचन को नींद की गोली समझ कर सुनने को बाध्य होकर आते हैं वे आलोचना से बाहर हैं। ये **श्रोता सातवें प्रकार** के हैं, जो कि कुछ भी सुने बिना अपने को श्रोताओं में गिना देते हैं।

घटना इस प्रकार है। एक वक्ता कई दिन से प्रवचन दे रहे थे। उन्होंने देखा कि उनका एक मित्र उनका प्रवचन सुनने को नहीं आ रहा। बड़े आग्रह से उनको मनाया कि कल से वह अवश्य आएंगे। उससे कई दिन बाद पूछा, 'अब तो आप प्रतिदिन मेरा प्रवचन सुनने आते हैं? कहिए कैसा लगा?' श्रोता ने कहा बड़ा आनन्द आया। वक्ता ने पूछा, "कौन-से विशेष विचार ने

आपको सबसे अधिक आकर्षित किया?" बोले - "आपका प्रवचन प्रारम्भ होते ही दो मिनट में मुझे नींद आ जाती है। शान्तिपाठ के समय पास बैठे सज्जन मुझे जगा देते हैं। प्रतिदिन नींद की गोली खाकर भी ऐसी मीठी नींद नहीं आती थी, अब तो जब तक आपका प्रवचन चलेगा, बिना बुलाए ही आता रहूँगा।

सातवें प्रकार के श्रोताओं की उपस्थिति में वक्ता और श्रोता दोनों साझीदार हैं। वक्ता को भी श्रोताओं की मन:स्थिति और आवश्यकता के अनुरूप प्रवचन देना चाहिए, और श्रोता को वक्ता की सभी कमियों को भुला कर अपने जीवन में काम आने वाली बात खोज कर अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए। ऐसा श्रोता उत्तम श्रोता है इस ही का नाम **जिज्ञासु** है ।

....

(6)

संयम

''''''''

अष्टांग योग में महर्षि पतंजलि ने यम नियम को आधार बनाकर धारणा, ध्यान, समाधि को साध्य कोटि में रखा है। अन्तिम तीनों साधनों को स्पष्ट रूप से पहले पाँच साधनों से पृथक् रखते हुए उनको अन्तरंग साधन कहा है। तीनों अंतरंग साधनों को, एक ही मान कर उनका नाम संयम रख दिया है। इस संयम रूपी साध्य को समझने के लिए, उसके आधारभूत यम-नियम से न्रारम्भ करना उचित होगा।

महर्षि पतंजलि ने यमों को महाव्रत कहा है। महाव्रत कह कर ही यमों को नियमों की नपेक्षा उत्कृष्टता दिखलायी। महाव्रत का लक्षण करते हुए तो उनकी महत्ता की छाप ही लगा दी। बिना किसी शर्त के सारी भूमि पर एक समान पालन किए जाने योग्य कह दिया। मनु ने भी -

"यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् ।"

कह कर यमों की ही उत्कृष्टता कही। यमों में सबसे **पहला अहिंसा** है। यदि कोई अहिंसा का व्रत धारण कर ले तो वह शेष चारों व्रतों का भी खण्डन नहीं कर सकता। अर्थात् अनायास ही शेष चारों व्रतों का भी पालन हो जाएगा। अहिंसा शब्द अभावात्मक है। अभाव वस्तु व्रत नहीं बन सकती । अहिंसा भावात्मक रूप है - मैत्री, जिसके साथ हमारा मैत्री का सम्बन्ध है, हम उसकी किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं कर सकते। इस मैत्री भावना को दृढ़ करने के लिए कितने स्थलों पर अनेक बाधाएँ आई हैं। **"सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु"** आदि । अहिंसाव्रती असत्य बोल कर किसी के साथ छल कपट नहीं कर सकता। अहिंसक चोरी कर के किसी के दिल को नहीं दुखा सकता। अहिंसक अहं चारी होकर ब्रह्मचर्य व्रत का खण्डन नहीं कर सकता। अहिंसक आवश्यकता से अधिक संग्रह करके अभावग्रस्त लोगों की अभावजनित पीड़ा को बढ़ा नहीं सकता। शेष चारों व्रतों का भी यही हाल है। वस्तुतः किसी भी व्रत को पालन करने वाला अवश्य किसी उदात्त भावना से प्रेरित होकर ही, ऐसे कठोर जीवन क्रम का वरण करता है । यमों में तो ऋषियों ने एक-एक यम सोच कर रखा है। इनमें से किसी भी एक यम का सेवन साधक के जन्म को चरितार्थ कर उसको आदर्श जीवन का अधिकारी बना देता है।

यम के बाद नियमों की बारी है। **नियम** शब्द तो बड़ा ही प्रचलित है । 'आचार सदाचार के नियम', 'वानप्रस्थाश्रम के नियम' आदि-आदि। इस नियम शब्द को सुन कर कुछ भय-सा लगता है। भय लगना स्वाभाविक है। राजधर्म वर्णन करते हुए मनु कहते हैं-

"भयाद् भोगाय कलपन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ।"

सारी प्रजा राजदण्ड के भय से, आनन्द के साथ जीवन निर्वाह करते हुए स्वधर्म में स्थिर रहती है। परन्तु ध्यान रहे यह प्रकरण राजधर्म है। राजधर्म का अधिकांश गृहस्थियों के लिए प्रयुक्त होता है। गृहस्थियों का कर्तव्य है कि परिवार पोषण के लिए द्रव्योपार्जन करे। इस वृन्ति में प्रायः भले बुरे का विचार नहीं रह जाता। इस विवेकशून्यता को नियमित करने के लिए शासक कठोर से कठोर उपायों का मृत्युदण्ड तक का सहारा लेना पड़ता है। यम-नियम पालन करने का अन्तिम सुअवसर तृतीय आश्रम वानप्रस्थाश्रम है। ब्रह्मचर्याश्रम में आचार्य के अनुशासन में रह कर अहिंसादि व्रतों का पालन यमों का सेवन है। ब्रह्मचर्याश्रम की कच्ची आयु में, यमों को सेवन कराने का अभिप्राय है कि वह अहिंसा आदि व्रत उसके जीवन का अंग बन जाय। पूरा प्रयत्न करने पर भी वह पूर्ण रूप से जीवन के अंग नहीं बन पाते। जन्म जन्मान्तरों के संचित संस्कार बाधा बन कर मार्ग में रुकावट डालते हैं। ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और अनुभव करता है कि पूर्वाश्रम के पुनीत वायुमण्डल के स्थान पर वह दम घोटने वाले ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट आदि से कलुषित सांसारिक वातावरण में प्रवेश कर रहा है। तब उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि पूर्वाश्रम में स्वीकृत व्रत द्वितीयाश्रम में उपयोगी नहीं। इस स्थिति को मनु ने भी स्वीकार करते हुए कहा है **"सत्यानृतं तु वाणीज्यं तेन चैवापि जीव्यते"**- व्यापार में सच और झूठ दोनों का सम्मिश्रण है। उससे भी जीविका का निर्वाह होता है। ब्रह्मचर्याश्रम में स्वीकृत सत्याचरण का व्रत तो गया। इसी तरह भग्नव्रती लोगों से संसार भरा पड़ा है। इनके नियमन के लिए शासक को समय-समय पर कठोर नियमों का निर्माण करना और प्रजानों पर उसको लागू करना पड़ता है। यह है नियम की उत्पन्ति और उसका स्वरूप। ये भी स्पष्ट होगया कि प्रथमाश्रम की साधना यमों की है और द्वितीयाश्रम में मान्यता नियमों की है।

विचारणीय विषय **संयम** है। वानप्रस्थाश्रम तृतीय आश्रम है। और **'संयम'** उसी की प्रमुख विशेषता है। हम वानप्रस्थाश्रमी हैं। हमको संयम का स्वरूप जान लेना उचित है। यम आचार्य का अनुशासन अन्तेवासी पर लागू हो रहा था। शरीर, मन और हृदय से भी अपरिपक्व निर्माणावस्था में था। वह अभी संसार के छल-कपट से सर्वथा अनभिज्ञ था। इस स्थिति में नियन्त्रण की नहीं केवल

निर्माण की आवश्यकता थी। कार्य बड़ा महत्वपूर्ण था परन्तु उसमें अधिक खेंचातानी नहीं थी।

अब आइये गृहस्थाश्रम में, इसमें उत्तरदायित्व बढ़ गया। आचार्य अनुशासन व संरक्षण जाता रहा। प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट का दौर है। मनु ने कहा इस स्थिति के सम्बन्ध में कि यदि शासक जागरुक न हो, प्रजा कठोर दण्ड के भय से भयभीत न हो, तो समर्थ, बलवान और शक्तिशाली लोग कमजोर लोगों को ऐसे ही खा जायं जैसे समुद्र में बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है। कठोर नियम की आवश्यकता है। इस आपाधापी को भोग कर जब गृहस्थी घर का उत्तरदायित्व योग्य कंधों पर डाल कर सांसारिकता से सचमुच विरक्त हो कर, किसी ऐसे वातावरण की खोज में निकलता है, जहां संसार के छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष से रहित शुद्ध पवित्र विचारों वाले साथी मिल सकें, आध्यात्मिक सत्संगों की ही चर्चा रहे तब वह वानप्रस्थाश्रम में आता है।

वानप्रस्थाश्रम में बालक अंगुली पकड़ा कर चलाने वाले आचार्य की आवश्यकता नहीं, जो कुछ जानना और सीखना था वह प्रथमाश्रम में सीख चुका है। उस समय की साधना का नाम था यम। कठोर नियमों का काल भी उसने भुगत लिया। कितनी बार शासकों ने आवश्यकता पड़ने पर दो-दो, चार-चार दिन का कर्फ्यू (संचार निरोध) लगा दिया था। उन दिनों की कड़वी स्मृति हो आती है। इस तृतीयाश्रम में उन दिनों के कठोर नियमों की आवश्यकता नहीं। इतना ही नहीं, नियम नाम की कोई भी वस्तु इस आश्रम की वास्तविकता को शोभा को कलुषित करती है।

साधक पूछता है **यदि नियम न हो तो व्यवस्था कैसी हो ?** प्रश्न देखने में संगत है। तब वानप्रस्थ आश्रम एक बार फिर गृहस्थ आश्रम बन जाता है। भुक्त भोगी गृहस्थी जब वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है तो उसको यम और नियम, दोनों से पृथक् **संयम** को आधार बना कर चलना होगा। **'यम'** दाहिना छोर है, जहाँ सारी जिम्मेदारी आचार्य की है। **'नियम'** बाँयां छोर है जहां सारी जिम्मेदारी शासक की है। तृतीयाश्रम में पूरा उत्तरदायित्व व्यक्ति का है, वह **'यम'** और **'नियम'** दोनों के ठीक बीच में है। उसको आचार्य का डर है, न शासक के राजदण्ड का। क्योंकि उसका अपने ऊपर पूर्ण संयम है। यदि अभी पूर्ण संयम नहीं तो भी वह उसको प्राप्त करने का प्रयत्न तो करता ही है। ऐसे वानप्रस्थ आश्रम में न नियमों की आवश्यकता है, न नियमों के संचालित करने वाले शासकों की । ऐसे संयमी व्यक्तियों का संगठन आदर्श वानप्रस्थाश्रम का निर्माण कर सकता है। प्रत्येक आश्रम वासी स्वतन्त्र होना चाहिए।

स्वतन्त्र का अर्थ है अपने पर आधारित उसको किसी दूसरे के नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं। दूसरे के नियन्त्रण की आवश्यकता ही नियमों की जननी है। जो तन्त्र नहीं उसको परतन्त्र

रहना ही होगा। इस ही परतन्त्रता में नियम और नियामकों की आवश्यकता होती है। **यम** और नियम दोनों से पृथक् व्यक्ति केवल संयमी हो सकता है। संयमी वह है जोकि आहार-निद्रा आदि का तो सेवन करता है, परन्तु आवश्यकता के अनुसार, न कम, न अधिक । सितार के तार ढ़ीले छोड़ दो, आवाज न होगी; ज्यादा कस दो टूट जायेंगे। ढ़ीला रखने और कसने के बीच एक स्थिति है जिसमें रागों की उत्पत्ति होती है। संयमी व्यक्ति भोग्य पदार्थों का उचित मात्रा में ही सेवन करता है। मात्रा से अधिक सेवन करने वाला रोग को निमन्त्रण देता है। **'भोगे रोगभयम्'**- भोजन का परित्याग कर देह को सुखाने वाला निर्बल, निर्वीय, निस्तेज हो जाता है। संयमी व्यक्ति स्वस्थ समर्थ और आनन्दमय जीवन का उपभोग करता है। संयमी से ऊपर भी एक व्यक्ति है जो तीनों यमों (यम-नियम-संयम) से भी आगे निकल जाता है, इनका अतिक्रमण कर जाता है; उसका नाम है **संन्यासी** । मृत्यु क्षण में जो घटना अवश्य घटने वाली है उस संन्यास (पूर्ण परित्याग) को जीवन काल में ही सिद्ध कर लेने वाला संन्यासी है।

....

(7)

अभिव्यक्ति

कौन अभिव्यक्ति नहीं चाहता । चिड़िया पेड़ पर बैठी है, आप कहीं से निकल आए। चिड़िया फुर्र से उड़ गई। आप समझते हैं कि आपसे डर कर उड़ गई। शायद वह आपको अपना पराक्रम दिलखलाने के लिए उड़ी हो। एक वैज्ञानिक जिस तरह अपने अनुसन्धान की उपलब्धि को वेज्ञानिको में प्रकट करके आनन्द लेता है, संसार का प्रत्येक जड़ चेतन, अपनी विशेषता का प्रदर्शन किये बिना संतुष्ट नहीं होता।

परमेश्वर में सृष्टि रचना का सामर्थ्य है। उस सामर्थ्य का प्रदर्शन उसको भी करना पड़ता है। रंगबिरंगे फूल खिलते हैं, अपने लुभावने रंगों और आकर्षक सुगन्ध से पथिक को आकृष्ट करते हैं। वनस्पति में मूर्च्छित चेतना है, जड़ पत्थर भी अपने आकर्षक रंगों और भिन्न-भिन्न आकृतियों के द्वारा, बच्चों को ही नहीं, बड़े-बड़े प्रसिद्ध जौहरियों तक को आकृष्ट करते हैं। यह अपने गुणावगुणों का प्रदर्शन अभिव्यक्ति है। जड़ पदार्थों में यह प्रदर्शन, सहज-निष्काम और पराधीनतावश है। ईंट पत्थर चाहते हुए भी अपने को प्रकट करने न करने में स्वतन्त्र नहीं। राज ने जिस ईंट को नींव में डाल दिया, वह चुपचाप वहीं पड़ी है। जिस ईंट को शिखर पर रख दिया वह वहीं पर सर्दी-गर्मी, चुपचाप सहन करती है। नींव वाली ईंट को अपमानित होने का विचार नहीं, शिखर वाली ईंट को अपने उच्चासन का अभिमान नहीं। वनस्पति, जगत् के रंग बिरंगे फूल खिला कर, वायुमण्डल में अपनी गन्ध को बखेर कर, न तो आनन्दित होती है और न दुखी। उनका सब काम सहज है। परिस्थितियों की अनुकूलता और प्रतिकूलता को निष्कामभाव से स्वीकार करती है। चेतन मनुष्य प्राणीजगत् भी अपने स्वभाव के अनुसार चेष्टा करने, या अपने को अभिव्यक्त करने को बाध्य है। मेघगर्जना सुन कर सिंह दहाड़ता है, मोर नाचता है, आदि। परन्तु मनुष्य के सम्बन्ध में यह बात निर्विवाद रूप से नहीं कही जा सकती। मनुष्य जाति का प्राणी अपने को अभिव्यक्त तो कर सकता है परन्तु उसमें छलकपट की मात्रा का इतना अधिक समावेश रहता है कि उसके सम्बन्ध में यह कहना असंगत होगा कि उसकी अभिव्यक्ति सहज है। मनुष्य समाज में सभ्य कहलाने वाला मनुष्य वही अधिक सभ्य और सुशील कहलाएगा जो अपनी मनोगत भावनाओं को चेष्टा से या वाणी

से प्रकट न होने दे। इतना ही नहीं मन में विद्वेष रहने पर भी वाणी और मुखाकृति से प्रेम प्रकट कर सकेगा। हमने देखा कि जड़ चेतन में अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। और यह अभिव्यक्ति उनके स्वास्थ्य और प्रसन्नता का मूल है। मनुष्य की वाणी मन का वाहन है। पांचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संचित ज्ञान को प्रकट कर देने का काम वाणी का है। हृदय में उन भावनाओं का प्रकाश भी वाणी द्वारा ही हो सकता है। परन्तु सभ्य मनुष्य का काम है कि क्रोध आने पर उसको मुखविकार वाणी या किसी भी कर्मेन्द्रिय से उसका प्रकाश न हो। **क्रोध एक विष है**, ज्वर है, बीमारी है, उसके आते ही उसको शान्त कर देने से मनुष्य संभावित बीमारी से अपने को बचा सकता है। असभ्य कहलाने वाला जंगली या गंवार आदमी वाणी या हाथ पांव से उसको प्रकट कर के स्वस्थ हो जाता है। सभ्य आदमी काम क्रोधादि के वेगों का ही नहीं मल मूत्रादि के वेगों को भी रोकता है। इन सहज अभिव्यक्तिओं का रोकना उसकी शारीरिक रुग्णता को जन्म देने वाला है। रोकने से रुग्णता होती है और अभिव्यक्ति से असभ्यता होती है, ऐसी स्थिति में क्या किया जाय ! साधक की साधना इसी प्रश्न के समाधान का बड़ा अच्छा रूप है। बहिरंग धातुओं के साथ सीधी लड़ाई करके उनका दमन किया जा सकता है। परन्तु काम-क्रोधादि छह शत्रु अन्तरंग हैं।

"इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।"

बहिरंग शत्रुओं के साथ संघर्ष का अनिश्चयात्मक ढंग अन्तरंग शत्रुओं को तो अधिक प्रबल करने वाला है। इनसे बचने का तो एक ही मार्ग है, कि मनुष्य सावधान रहे। इनके आक्रमण की पूर्व सूचना होते ही उनके उद्‌गम पर ध्यान दे। क्रोध आते ही क्षणभर को रुक कर उसकी अभिव्यक्ति के गंवारुपन का विचार करें। तीन गहरे श्वांस लें, एक गिलास ठण्डा पानी पीयें, दस तक धीरे-धीरे गिनती गिनें। क्षणभर रुक कर, ऐसी ही किसी साधना का अवलम्ब लें तो आवेश का वेग शान्त हो जाएगा। यह मार्ग कठिन है। परन्तु उपलब्धि भी तो अमूल्य है। निरन्तर सावधान रहने का अभ्यास करने से यह साधन इतना कठिन न रह जायगा ।

जड़-चेतन की अभिव्यक्ति सहज कृत्रिम सकाम निष्काम आदि कई प्रकार की हो सकती है। परन्तु जिज्ञासु परब्रह्म की मूलभूत अभिव्यक्ति इस ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में जानना चाहता है कि इसका क्या रूप है, किस अभिप्राय से अथवा किस उद्‌देश्य को सिद्ध करने के लिए यह अभिव्यक्ति हो गई ? परब्रह्म तो निरीह है। उसको पद और प्रशंसा की कामना नहीं। उसको छल कपट ने कभी स्पर्श नहीं किया। चमत्कारपूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना करके अल्पशक्तिमान जीव को चकित करने से उसका कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता। परमेश्वर स्वयं अदृश्य तथा अज्ञेय है। ऐसा परमेश्वर

जिसके सम्बन्ध में केनोपनिनषद् में कहा है कि वह किसी भी इन्द्रिय अथवा मन से जाना नहीं जा सकता, जीवात्मा के किसी भी काम का नहीं। क्योंकि जीवात्मा के पास तो ज्ञान के यही साधन हैं। इन ज्ञान साधनों में जो शक्ति है वह भी अल्पशक्ति वाले जीवात्मा की है। यह अल्पशक्ति भी उसकी अपनी नहीं।

"य आत्मदा" का अर्थ करते हुए महर्षि कहते हैं- जो आत्मज्ञान का देने वाला, है। सारांश यह कि यदि सृष्टिकर्ता परमेश्वर सृष्टि की रचना न करता तो अल्पज्ञ और अल्पशक्तिवाला जीवात्मा, परमात्मा के साक्षात्कार का तो क्या उसकी सत्ता का भी आभास न कर सकता। केवल जीवात्मा के कल्याण के लिए उसको उसी जड़ प्रकृति के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करना पड़ा, जिस प्रकृति को रूपान्तरित करके इस भोग्य ब्रह्माण्ड की रचना की। इस ही आशय को लेकर कहा

"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वन्ति, अनश्नन्यो अभिचाकशीति।।"

अल्प शक्तिमान् जीव और सृष्टिकर्ता परब्रह्म दोनों ब्रह्माण्डरूपी वृक्ष पर बैठे हैं। अल्पज्ञ जीव भोक्ता बन् कर इस पेड़ के कड़ुवे मीठे फलों को चखता हुआ रोता हँसता है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परम पुरुष निर्लेप साक्षी बन कर भोक्ता की क्रीड़ा को देखता है। यदि परब्रह्म इस स्थूल प्रकृति का सहारा लेकर अपने को अभिव्यक्त न करता तो जीवात्मा के पास और कोई भी साधन ऐसा न था जिससे कि वह परमात्मा की सत्ता का अनुभव भी कर सकेता। किसी भी पदार्थ की सत्ता का अनुमान उसके गुणों अथवा कर्म से किया जाता है। प्राकृतिक पदार्थ पाँच महाभूतों के गुणों से युक्त हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को उनके गुणों के द्वारा, उनका ग्रहण किया जाता है। परन्तु परमेश्वर के प्राकृतिक पदार्थ नहीं, इसलिए वह **निर्गुण** है।

अब ज्ञान का साधन रह गया **'कर्म'**। सृष्टि रचना करके उसने अपना कर्म अल्पज्ञ जीव के सामने प्रस्तुत कर दिया। ब्रह्माण्ड की कलापूर्ण चित्र-विचित्र रचना को देखकर साधक चकित हो जाता है। यदि भोक्ता बन कर जीवात्मा भोग्य प्रकृति में आसक्त न हो जाता तो सृष्टि कर्ता परमेश्वर की रचना के देखने के बाद दार्शनिकों के दर्शन और प्रवक्ताओं के प्रवचन सुनने की आवश्यकता न होती। अल्पज्ञ जीवात्मा अनानि वासनाओं से गुण और अविद्या दोष से पीड़ित है। प्रकृति उसकी भोग्या अवश्य है। परन्तु सीमा का अतिक्रमण करके नहीं। एक सीमा में रह कर जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने तक ही जीवात्मा का भोक्ता बनना सार्थक और उचित भी है। ऐसा न हुआ। अविद्या के कारण राग द्वेष की उत्पत्ति हुई। राग से आसक्ति और आसक्ति से शारीरिक और मानसिक रोगों ने साधक को आ दबाया। ठोकरें खाने के बाद देर सबेरे जब उसने

होश संभाला, आसक्ति के गढ़ गृहस्थाश्रम को छोड़ कर वानप्रस्थाश्रम में आया, आश्रम का शुद्ध वातावरण साधक को प्रभावित किये बिना नहीं रहता। प्रमुख आचार्यों के प्रवचन सुनने के बाद साधक इस भूलोक से कुछ तो ऊपर उठ ही जाता है।

इस प्रकार परब्रह्म अपने को जड़ प्रकृति द्वारा ब्रह्माण्ड के रूप में व्यक्त करके पहले अपने विराट् रूप का दर्शन कराता है, फिर कारण रूप सत्व-रज-तमात्मक मूल प्रकृति में स्थिर ईश्वर का भी दर्शन करा देता है। जड़ प्रकृति के संसर्ग का सर्वथा परित्याग करने वाला **'गुणातीत'** साधक अपने परमलक्ष्य परब्रह्म को अपने ही अन्दर विराजमान होने का आभास पा जाता है, दर्शन कभी नहीं करता, न कर सकता है। कठोपनिषद् में इसी भाव को स्पष्ट किया है- **"अस्तित्येवावगन्तव्यं'** उसको जानने की परमसीमा यही है कि उसको **'अस्ति'** सत्ता रूप में जान लिया जाय। इसलिए उसके प्रमुख विशेषण **'सत् चित् आनन्द'** में **'सत्'** सर्वप्रथम है ।

....

(8)

निराकार के दर्शन

महर्षि दयानन्द की शंखध्वनि की गूंज सुनने के बाद प्रायः सब ही बुद्धिवादी मतमतान्तरों के अनुयायियों ने परमेश्वर सृष्टिकर्ता को सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् मानने के साथ-साथ निराकार भी मानना प्रारम्भ कर दिया है। यह मानना लाचारी है। संसार में सर्वाधिक प्रचलित मतों में सृष्टिकर्ता का जो स्वरूप चित्रित किया गया है वह साकार ही हो सकता है, जोकि बुद्धिवाद से सर्वथा असंगत है। इसलिए उन्होंने निराकार के साथ साकार का भी प्रयोग करना आवश्यक समझा है। वे अपने संगठन में बुद्धिवादियों वैज्ञानिकों को संतुष्ट रखने के लिए निराकार मान लेते हैं और अपने धर्मग्रन्थों की गरिमा को सुरक्षित रखने के लिए **'उनका'** भी काम हो जाता है। परन्तु महर्षि दयानन्द के अनुयायी वैदिक धर्मी सृष्टिकर्ता को केवल निराकार स्वीकार करते हैं। यह स्वीकार करना भी मानना ही है। मानने और जानने में अन्तर समझ लेना उचित है।

मानना लाचारी में होता है, जानना निज का खजाना है; जिसके लिए कहा गया- **"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा"** । ज्ञानी के पास आए ज्ञान को ज्ञानी सम्हाल कर छिपा कर रखता है। उस ज्ञान का ढिंढ़ोरा नहीं पीटता। इसके विपरीत किसी मान्यता को मानने वाला उसका ऐलान कर के अपनी जान बचाता है। दूसरे मतान्तरों की बात छोड़ दें। महर्षि दयानन्द के अनुयायियों की पूजा पद्धतियों को देखें, वे तीन प्रकार से की जाती हैं- स्तुति, प्रार्थना और उपासना। सृष्टिकर्ता को निराकार मानने वाले सिद्ध नहीं, साधक, उसकी निर्गुणोपासना ही कर सकते हैं। सगुणोपासना प्रारम्भ करते ही निराकार प्रभु एक व्यक्ति का रूप धारण कर लेते हैं। प्रार्थना में तो यह व्यक्तित्व और भी उभर कर सामने आ जाता है। प्रभु की आनन्दमयी गोद, प्रभु के पावन चरण आदि भक्ति प्रवण भक्तों के उद्‌गार निराकार को साकार बना कर छोड़ते हैं। उसमें महर्षि के सिद्धान्तों अथवा भक्तो को भक्ति भावना में कोई कसर नहीं। संसारी मनुष्य का स्वाभाविक आचरण मात्र इसका उत्तरदाता है। संसार में कौन ऐसा मनुष्य है जिसने अपने जीवन काल में किसी व्यक्ति के गुणों से प्रभावित होकर उसकी स्तुति न की हो। आवश्यकता पड़ने पर अपने से अधिक समृद्ध व्यक्ति से सहायता की प्रार्थना न की हो। स्तुति प्रार्थना की ये सांसारिक रूप रेखाएं मानवमात्र के

मानस पर इतनी गहराई से अंकित हैं कि जब उसको निराकार की स्तुति प्रार्थना को कहा जाता है तब भी वह पुराने संस्कारवश उसको साकार मानकर ही अपने उद्‌गार प्रकट करता है। उद्‌गारों को प्रकट करने के लिए आवश्यक है कि उसके उद्‌गारों को सुनने वाला सांसारिक व्यक्ति से मिलता जुलता कोई व्यक्ति है। बस यहीं से निराकार साकार हो उठता है।

परन्तु फिर भी साधक को लगन तो लगी है अपने निराकार प्रभु के दर्शन की। प्रभु के सम्बन्ध में कोई साधक, प्रभु को मानने तक नहीं रुकता, वह तो सीधा दर्शन मांगता है। यह दर्शन शब्द ही साधक को चकराने वाला है। पांच ज्ञानेन्द्रियों में से केवल आँख दर्शन का काम करती है। निम्बू की खटाई का ज्ञान जिह्वा से होता है। उसमें आँख का कोई दखल नहीं। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना क्षेत्र है। क्षेत्र से बाहर उसका कोई बस नहीं। मन भी एक ज्ञान साधन है। स्मृति मन का काम है। मन के सिवाय इस काम को कोई दूसरा नहीं कर सकता। मन से भी आगे भगवान हृदय का काम है। नाक या कान से भावना नहीं की जा सकती। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना क्षेत्र है। दार्शनिक परिभाषा में अपने-अपने क्षेत्र में संग्रह किए जाने को उस इन्द्रिय को **'दर्शन'** कहा जा सकता है । इस प्रकार दर्शन को अर्थ ज्ञान अथवा अनुभव भी है।

इन सभी ज्ञान साधनों से निराकार ईश्वर का दर्शन अथवा ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वह इनके क्षेत्र से बाहर है। यही एक कठिनाई है साधक के सामने। उसने अपने बुद्धिकौशल से अपनी प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को विज्ञान के सहारे हज़ारों लाखों गुणा बढ़ा लिया। और इस असाधारण सफलता से उत्साहित होकर, उस वैज्ञानिक ने निश्चय किया कि यदि कोई ईश्वर नाम की सत्ता है तो एक दिन वह मेरे 'माइक्रोस्कोप' की पकड़ में आ ही जाएगा और यदि पकड़ में नहीं आता तो मानना पड़ेगा कि उसकी कोई सत्ता नहीं। अकिंचन मानव की इस गर्वोक्ति को ज्ञान चक्षुओं से देख कर प्राचीन मनीषियों ने कह दिया था, कि भोले लोगों ! तुम्हारे विचार से केवल दो प्रकार के पदार्थ हैं- एक ज्ञात और दूसरा अज्ञात। ज्ञात को आप लोग विज्ञान में डाल देते हैं और अज्ञात को खोज-खोज कर ज्ञात के संग्रह 'विज्ञान' में डालते जाते हैं। एक तीसरा पदार्थ भी है जो ज्ञात और अज्ञात दोनों श्रेणियों से भिन्न है और उसका नाम है **'अज्ञेय'**, जोकि किसी भी ज्ञान साधन के क्षेत्र से बाहर है। जितने भी ज्ञात पदार्थ हैं वे सब सगुण और साकार हैं। इन गुणों के कारण तो पकड़ में आ जाते हैं। सृष्टिकर्ता परमेश्वर निर्गुण और निराकार है इसलिए किसी भी ज्ञान साधन की पकड़ में नहीं आता। और उसको 'अज्ञेय' की कोटि में रखा है।

साधक पूछता है - "तो फिर उसका दर्शन अथवा ज्ञान का अनुभव कैसे हो ?"

हिमालय के शिखर से चली पानी की बूंद अपने उद्गम समुद्र के दर्शन को लालायित हजारों मील लम्बी दुर्गम पर्वतधारियों और घनघोर जंगलों की यात्रा को पार करके समुद्र में लीन होकर, उसके सच्चे दर्शन का लाभ प्राप्त करती है। जीवात्मा भी चौरासी लाख योनियों और अन्त के मनुष्य जीवन में आकर अपनी यात्रा को समाप्त कर सकता है, केवल एक ही मार्ग से कि वह चेतना के महासमुद्र परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाय। शुद्ध स्वरूप में लीन होने के लिए जीवात्मा को भी समानधर्म शुद्ध स्वरूप होना पड़ेगा। इस शुद्ध स्वरूप का नाम पतंजलि ने **'कैवल्य'** रखा है। भोग योनियों में भटकते जीवात्मा ने त्रिगुणात्मक प्रकृति के सम्पर्क में रह कर उसके स्वरूप और गुणों के अनुरूप सुख-दुख, निद्रा आदि का उपभोग किया था। 'कैवल्य' अवस्था में आ जाने पर जीवात्मा प्रकृति के गुण धर्मों से मुक्त हुआ, जिस तरह बूंद महासागर में लीन होकर अपनी सत्ता को - जो कि नाम और रूप से व्यावृत्त थी - खो बैठी थी, उसी तरह जीवात्मा भी कैवल्य की स्थिति को प्राप्त कर आनन्दघन परम चेतन परमात्मदेव के शुद्ध स्वरूप, जिसको कि गायत्री मंत्र में **'भर्ग'** कहा है, में लीन हो जाता है ।

साधक को इस सारे दार्शनिक विवेचना से तृप्ति नहीं हुई। उसका प्रश्न तो निराकार के दर्शन प्राप्त करने का है। दर्शन के स्वरूप का वर्णन तो बूंद के महासागर में लीन होने के उदाहरण से कुछ स्पष्ट हुआ। परन्तु बूंद की महासागर की तरफ की यात्रा का मानव जीवन में क्या स्वरूप होगा, यह भी तो अभी समझना शेष है। हम गायत्री मंत्र का पाठ बड़े प्रेम से करते हैं, उसमें **"भर्गो देवस्य धीमहि"** पद आता है। **'भर्ग'** का अर्थ परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है। परमात्मा का अशुद्ध स्वरूप नहीं होता । हम दृष्टि दोष से परिस्थिति विशेष से उसके स्वरूप को विकृत रूप में देखते हैं। स्थूल दृष्टि में उसको विराट रूप में नाना प्रकार की आकृतियों और भिन्न-भिन्न रंगों में फूल पत्तियों नदी पहाड़ आदि में छिपा हुआ देखते हैं। शायद इसी आशय को **"परोक्षप्रिया इवेहि देवाः'** में भी कहा गया है। समझदार व्यक्ति इन्द्रियों से प्रत्यक्ष किए पदार्थ को नहीं, उसके पीछे दिए विराट रूपी परम पुरुष का दर्शन करते हैं। वही देवलोग सूक्ष्म सृष्टि में उसको हिरण्यगर्भ रूप में देखते हैं। आकाश में चमकने वाले नक्षत्र नीहारिका आदि जिसके गर्भ अर्थात् अन्दर विद्यमान है। देबलोग निरन्तर ऊर्ध्वगति करते हुए सृष्टि रचना से पूर्व कारण रूप सत्व, रज, तम रूप शक्तिओं को अपने अन्दर धारण करने वाले के रूप में देखते हैं। ये परब्रह्म के शुद्ध रूप इसलिए नहीं कि इन रूपों का दर्शन देवों ने प्रवृत्तिस्थ परमात्मा का किया। उसका एक चौथा रूप है जिसको कि उपनिषत्कार **'तुरीय'** कहते हैं।

तुरीय का विस्तार कल्पनातीत है। यह ब्रह्माण्ड तो उसका एक 'नेमप्लेट' भी नहीं। **"एतावानस्य महिमा अतोज्यायांश्च पुरूषः"** - स्थूल बुद्धि मानव को, उसकी महिमा बतलाने के लिए ब्रह्माण्ड है। इस ब्रह्माण्ड के रहस्य और उसके विस्तार को भी मानव मन कभी पार नहीं कर पाया, और अभी यह केवल 'नेमप्लेट' है। परब्रह्म परमेश्वर को जानने या उसके स्वरूप के दर्शन का विचार एक- मनोरञ्जन विचार - कहा जा सकता है। जैसे बूंद अपने उद्गम सागर का दर्शन करने के लिए उसमें प्रविष्ट होगई, तन्मय होगई, इसी तरह जीवात्मा भी यदि प्रभु दर्शन कर सचमुच प्यासा है तो आवश्यक होगा कि वह एकाग्र होकर तन्मयता के साथ अपने जीवन का निर्माण करे। जीवन निर्माण का मतलब है कि प्रकृति माता के सबसे उत्तम उपहार बुद्धि का निरन्तर उपयोग करें। बुद्धि का निरन्तर उपयोग केवल जाग्रत दशा में हो सकता है।

महर्षि दयानन्द ने आर्य समाज के नियमों में पाँचवां नियम यही बनाया कि प्रत्येक कार्य सत्यासत्य का विचार कर करें। 'भर्ग' अर्थात् परमात्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकृति के तीनों गुणों से अतीत है। उसको धारण करने का अभिप्राय है, स्वयं तीनों गुणों से पार होना। सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से सर्वथा अछूते हो जाना । महर्षि पतंजलि का **'वृत्तिनिरोध'** और सांख्यकार कपिल का **निर्विषय मनः'** अष्टावक्र का **विषयान् विषवत् त्यज'** सबका एक ही अभिप्राय है। ऋषि-मुनियों के इन वाक्यों के अभिप्राय को समझ कर जीवन में चरितार्थ करना साधक की साधना है ।

....

(9)

नयमात्मा बलहीनेन लभ्यः

जिधर देखो साधकों की दौड़ दिखलाई पड़ती है। दौड़ते साधक को रोक कर पूछो- 'किधर जा रहे हो? आत्मा की तलाश में, आत्मदर्शन के लिए?' अधिक मत पूछना, वह भाग-दौड़ की तेजी में दूर निकल चुका है। आपकी आवाज उस तक शायद ही पहुँचे। साधना, आश्रम, योग आश्रम आदि आश्रमों में साधकों की भीड़ लगी है। आसन, प्राणायाम, जप, तप आदि की शिक्षा दी जा रही है। साधकों को कोर्स पूरा करने के बाद डिग्रियाँ भी मिलने लगीं। सौभाग्य है भारत का जहाँ लाखों योगी साधकों का पथप्रदर्शन करने के लिए उद्यत हैं। परन्तु इतने पर भी प्रायः सभी साधक मुंह लटकाए निराश ही दिखाई देते हैं। कारण यह है कि कच्ची नींव पर या बिना नींव के भवन खड़ा करने की जल्दबाजी है। शिक्षक भी क्या करे। यदि साधक को पहले ही स्पष्ट शब्दों में समझा दें, कि साधनासरल नहीं, साधना में सफलता प्राप्त करने के लिए एक तरह से पुनर्जन्म ही ग्रहण करना होगा तो साधक तत्काल ही दूसरे सब्जबाग दिखलाने वाले आश्रम के मालिक 'योगीराज' के पास चला जाएगा। योगाश्रमों, शिविरों आदि की संख्या इतनी बढ़ गई है कि साधक को रोकने के लिए उपाय (हथकंडे) बरतने आवश्यक हो गए हैं।

चित्त को स्थिर करने के अभ्यास की नींव को मजबूत करने के लिए पतंजलि मुनि कहते हैं -

'स तु दीर्घकालनैरंतर्य सत्कारसेवितो दृढ़भूमिः।'

यदि इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करके प्रारम्भ में ही साधक को बतला दिया जाय, तो आश्रम की शोभा बढ़ाने के लिए केवल शिक्षक महोदय ही रह जाएंगे। पतंजलि किसी आश्रम के संचालक नहीं थे। वह एक वैज्ञानिक थे। उन्होंने मनःशास्त्र का गहन अध्ययन करके निरीह भाव से उन सिद्धान्तों और साधनों का वर्णन कर दिया, जो आत्मानुभूति तक ले जा सकते हैं। न शिविर की फीस की चिन्ता थी न आश्रम सेवकों के वेतन की। उन्होंने स्पष्ट कह दिया, चित्त को स्थिर करने की साधना एक लम्बे समय तक, बीच-बीच में व्यवधान न करते हुए, कई वर्ष या दशांकियाँ लग जायं। ऐसा नहीं कि हर दो-तीन महीने बाद, दो-चार महीने घर पर बाल-बच्चों की निगरानी

करें। यद्यपि ऐसा करना कठिन है, इसी लिए तो प्रारम्भ में कह दिया गया था साधनपथ को पुनर्जन्म समझ कर चलना उचित होगा।

आइए अब देखें कि उपनिषत्कार इस आत्मदर्शन के सम्बन्ध में क्या आदेश देते हैं। कहते हैं कि 'बलहीन' इस आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता। बलहीन से अभिप्राय शरीर-मन- और आत्मा इन तीनों से है। सबसे पहले शरीर के सम्बन्ध में विचार करें। ब्रह्मयज्ञ को स्वाध्याय भी कहते हैं। स्वाध्याय का अर्थ है स्वामी के साधनीभूत इन्द्रियों की देखभाल। स्वामी द्रष्टा, साक्षी चेतन, जीवात्मा की शक्तियों का प्रदर्शन अथवा उनको उपयोग में लाने वाली इन्द्रियों की देखभाल, अर्थात् उन में आई त्रुटियों को दूर करते रहना। सायं प्रातः साधक का काम है कि वह इन इन्द्रियों के सम्बन्ध में सावधान रहें। उनकी कमजोरी को दूर करें। पहलवानी करने वाला केवल मांसपेशियों को सुड़ौल और शक्तिसम्पन्न करने वाला हो सकता है। साधक को तो पाचन संस्थान, श्वांस संस्थान, रक्तसंचरण आदि, सब ही क्रियाओं पर ध्यान देना है। शरीर के किसी भी एक अंग में विकार होने से मन की स्थिरता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ शरीर में सब ही इन्द्रियां अविकल होंगी। आँख, नाक, कान आदि सब अपने-अपने काम को पूरी तरह निबाहेंगे। शरीर स्वस्थ भी होगा, बलिष्ठ भी होगा, सुड़ौल भी होगा, कार्यक्षम भी होगा। ऐसा शरीर साधक के काम का होगा। शरीर के बाद उससे अधिक सूक्ष्म और बलवान साधन मन है। मन कमजोर होने का मतलब संकल्प शक्ति का अभाव है। संकल्प का अर्थ है 'दृढ़ निश्चय'। दृढ़ निश्चय का एक ही मतलब है निश्चयात्मक निश्चय। यदि इस निश्चय में थोड़ी भी कमी होगई, तो फूटे घड़े की तरह रहासहा निश्चय भी चू जायगा। ऐसा समझलो कि पानी 100 डिग्री पर उबलता है, वह सौ डिग्री पर ही उबलेगा, उसमें सौदेबाजी नहीं चलेगी। मन का संकल्प तभी 'फीसदी' हो सकता है जबकि वह सांसारिक विषयों से सर्वथा विरक्त होकर साधक की साधना में एकाग्र होकर सहायक बने। दो बातों पर विशेष ध्यान देना है, एक तो यह कि वह सांसारिक विषयों से सर्वथा विरक्त हो। सर्वथा विरक्त होने के लिए शास्त्रीय ज्ञान ही पर्याप्त नहीं। यदि ऐसा ही होता तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही सीधे साधनाश्रम वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश का विधान होता। ऐसा न कर मनीषियों ने बीच में गृहस्थाश्रम का विधान किया। इसका मतलब यह है कि केवल शब्द ज्ञानमात्र से वैराग्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। भुक्तभोगी गृहस्थी के लिए ही संभव है कि विषयों के विषमय प्रभाव का अनुभव करने के बाद वह उनसे उपरत हो जाय, तो भी भुक्तभोगी गृहस्थियों में से सैंकड़ों में एक को ही वैराग्य उत्पन्न होता है।

दूसरी विशेषता है - एकाग्र होना । विषयों से विरक्त मन भी यदि स्वाभाविक चंचलता के कारण एक दीक्षागुरु से दूसरे के पास भटकता रहता है अथवा किसी भी अन्य कारण से, मन को

एकाग्र करके, साधना में लीन नहीं होता, तो उसको सफलता मिलनी असंभव है। यह होगया मन के सम्बन्ध में विचार ।

तीसरा साधन स्वयं आत्मा है। थोड़ी देर के लिए मान लो कि इन्द्रियों और मन को अपने स्वामी के दर्शन की प्रबल कामना होगई है, परन्तु उनका स्वामी गाढ़ निद्रा में निमग्न है- **"यो जागार तमृचः कामचनो"**, वैदिक ऋचाएँ भी जागते हुए मनुष्य की कामनापूर्ति करती हैं। आत्मा के जागरण का अभिप्राय यह है कि उसको विवेकख्याति द्वारा जड़ चेतन में भेद प्रतीति हो जाने के बाद अपने परम सखा में मग्न होने की ऐसी प्रबल तड़प हो कि सांसारिक विषयों का सेवन तो क्या उनके विचार मात्र से उसको उपरति होजाय। आत्मा के जागरण से यह ध्वनित होता है कि हम सोये हुए हैं। हमारे प्रतिदिन के सोने के साथ क्या स्थिति होती है? हमारे बहिष्करण ज्ञानेन्द्रियाँ थक कर या तमोगुण से प्रभावित होकर काम करना बन्द कर देती हैं, इस ही का नाम निद्रा है। जिस स्थिति को हम जागरण कहते हैं, उसमें भी यदि यही स्थिति हो; आँख की पलक तो खुली हो, देखने वाला यही समझता है कि हम जाग रहे हैं। परन्तु हम देख नहीं रहे होते, तो इस स्थिति को हम क्यों न यह कहें कि आँख खोल कर सो रहा है। मन की सहायता के बिना इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं। फिर भी यदि काम हो रहा है तो अभ्यासवश हो रहा है। एक ही क्रिया को अनेक बार कर लेने के बाद शरीर को अभ्यास हो जाता है, फिर वह कठिन से कठिन काम को भी अभ्यासवश करता ही जाता है।

बस ड्राइवर सवारियों से भरी बस को चलाता हुआ पास बैठे साथी से बात कर रहा है, जेब से सिगरेट निकाल कर जला रहा है, स्टीयरिंग पर कोई हाथ नहीं, बस चली जा रही है। यही दशा क्या हम सबकी नहीं? थाली सामने पड़ी है, हाथ अपना काम कर रहा है, मुख अपना काम कर रहा है, मन अपने सोच विचार में व्यस्त है - पीछे को, हानि-लाभ को, मान अपमान को, अनुकूल-प्रतिकूल को - याद कर रहा है। भविष्य के लिए योजनाएँ बना रहा है। मन की सहायता के बिना, भोजनादि का दैनिक कार्य कैसे हो रहा है, इस ही का नाम अभ्यास है। इस अभ्यास काल में व्यक्ति निद्रावस्था में है। जागते रहना आवश्यक है - सब काम होश के साथ करने के लिए । जो व्यक्ति सोता हुआ, सब काम करता रहता है, वह एक प्रकाशहीन कक्ष में रह रहा है। प्रकाशहीन अँधेरे घर में चोर, साँप आदि शत्रु प्रवेश कर जाते हैं और गृहपति को हानि पहुँचा सकते हैं। सोते हुए साधक के व्यवहार में यह काम-क्रोध आदि शत्रु प्रहार कर देते हैं। साधक ने अक्रोध का व्रत लिया था। एक खिलाड़ी बालक पास से निकला, उसका धक्का लग गया; गुस्सा आ गया, तमाचा मार दिया। बालक का पिता साथ था, युद्ध प्रारम्भ होगया। माथे पर निशान को

देख पत्नी ने पूछा यह क्या हुआ? बोले, क्या कहूँ, जा रहा था, कुछ सोच रहा था, लड़के से टकरा गया - न मालूम क्यों हाथ चल पड़ा, लड़के को तमाचा मार दिया; बस, कहासुनी होगई। लड़के के बाप ने जूता निकाल कर मेरे सिर पर मारा। मैंने कल ही तो **'क्रोध कभी न करूँगा'** यह व्रत लिया था। न मालूम यह कहाँ से आ जाता है?..... इत्यादि।

अभ्यासवश काम करते जाने का यह परिणाम है। काम सब अभ्यासवश हो रहा है, और हम सो रहे हैं। इस निद्रा की स्थिति में अन्दर छिप कर बैठे शत्रु को प्रहार का अवसर मिल जाता है। जो व्यक्ति प्रत्येक कर्म को, चेष्टा को, होश के साथ करता है वह नींद में नहीं होता। काम, क्रोधादि को उस पर आक्रमण करने का अवसर नहीं मिलता। अतश्चेतना के जागरण से यह स्थिति हो जाएगी कि 'भोजन के प्रत्येक ग्रास, दूध की प्रत्येक घूंट, भ्रमण में प्रत्येक पग हमारी जानकारी में होगा। हम निरन्तर जाग रहे होंगे। इस स्थिति में आत्मा बलवती होगी और स्वप्रकाश हो जाएगा।

....

(10)

भद्रं भद्रमिति ब्रूयात्

एक मित्र हैं वे महोपदेशक का कार्य बड़ी योग्यता से करते आ रहे हैं। उन्होंने अपनी वाक् चातुरी का महत्त्व प्रदर्शित करने की अनेकों आपबीती घटनाएँ सुनाई। कहने लगे कि - मैंने यह सूत्र याद कर रखा है कि किसी की बात पर हँसी नहीं करनी । मुझे पहचानने वाले तो मेरे सामने कुछ बोलने का साहस नहीं करते और यदि किसी अनजान ने कोई बात कह दी तो मुझे तो झपट्टा मारने का अवसर मिल गया। इश्तिहार मे मेरा नाम हो तो खासी भीड़ जमा होती थी। मित्र धर्म को निबाहने के लिए मैंने ख़तरा मोल लिया और कहा - महाशय जी वह भीड़ सत्यासत्य का निर्णय सुनने वालों की नहीं थी। बिना टिकट मुर्गे की लड़ाई देखने वाले शौकीनों की रही होगी। मित्र बिगड़े और बोले तो क्या गत 23 वर्षों से मैं आर्य समाज का प्रचार नहीं कर रहा। इश्तिहार में मेरा नाम देख कर भारी भीड़ का जमा हो जाना मेरी सफलता का प्रमाण है। मैंने कहा - महाशय जी, भीड़ जमा करने के तो कई सस्ते उपाय हैं। चौराहे पर सारे कपड़े उतार कर खड़े हो जाइए, दस मिनट में बिना बुलाए पुलिस का दस्ता भीड़ को तितर-बितर करने को आ जाएगा।

मित्र बोले - आखिर आप कहना क्या चाहते हैं? मैंने कहा - आप अपने अहंकार का इलाज कीजिए। यह सस्ती नुमाइशें भीड़ जमा करने के हथकंडे आप जैसे आर्यवीरों को शोभा नहीं देते। आप सत्य का प्रकाश करने को निकले हैं। भीड़ जमा करके तालियों की गड़गड़ाहट सुनने को नहीं। सत्य का प्रकाश करने वाले को फूल मालाएँ और भारी भीड़ों से स्वागत नहीं - गालियाँ, ईट, पत्थर आदि का स्वाद लेने को तय्यार रहना होगा। देखो अपने पथ-प्रदर्शक स्वामी दयानन्द की जीवनी को। स्वामी दयानन्द ने भी **'खण्डन-मण्डन'** किया, परन्तु कहना चाहिए **'मण्डन-खण्डन'** किया। सत्यार्थ प्रकाश के 14 समुल्लासों में से पहले दस समुल्लास मण्डनात्मक हैं। सत्यासत्य का निर्णय करने में सत्य के साथ असत्य का भी निर्देश करना आवश्यक है। परन्तु आपका मूल मन्त्र तो यह है कि किसी भी स्थिति में मुख से 'हाँ' नहीं कहनी। इतना ही नहीं कथन यदि इतना भी सत्य हो कि दिन को दिन कहा जाता हो, फिर भी आप अपनी वाक् चातुरी प्रकट करने के लिए दिन को भी रात सिद्ध करके दिखलाने का यत्न करें, तो यह मन:स्थिति केवल अहंकार का प्रदर्शन

मात्र है। अहंकारी व्यक्ति 'हां' कहने में अपने को अपमानित अनुभव करता है। उसको सत्यासत्य से कोई सम्बन्ध नहीं ।

सुना है - एक व्यक्ति अत्यन्त दुःखी था। सब लोग उसे मूर्ख या बुद्धू समझते थे। जनसाधारण की सम्मति की चिन्ता न करना किसी असाधारण तपस्वी का ही काम है। पड़ौस में एक समझदार आदमी (शायद वकील) का घर था। जटिल समस्याओं को लेकर लोग उसके पास आते और समास्या का समाधान ले कर जाते थे। मूर्ख महाशय भी उसी के पास पहुँचे और अपनी करुण कहानी कह डाली। ऋषि वशिष्ठ की तरह क्षणभर गहन विचार में मग्न होकर वकील ने उससे पूछा, 'तुम इतनी रात गए यहाँ क्यों आए?' बाँसभर दिन चढ़ चुका था। धूप निकली हुई थी। मूर्ख ने जवाब दिया 'जी, ऐसे ही आगया।' वकील ने जो बात बताई थी उसका उसने निषेध नहीं किया। वकील समझ गया कि यही इसकी कमजोरी है कि 'ना' करना नहीं जानता। उसने सलाह दी कि आज से कोई जो कहे उसका खण्डन शुरू कर दो। और सात दिन बाद मेरे पास आना। सात दिन में ही अड़ौस-पड़ौस में प्रसिद्ध हो गया कि 'मूर्खानन्द जी' तो बड़े ही समझदार हैं।

अपने उपदेशक को सलाह दो कि इस सस्ती भीड़, अग्रासन, पुष्पमालाओं का मोह छोड़ने के लिए अहंकार का परित्याग करना आवश्यक है। यह अहंकार सर्वथा मिथ्या है। इसको खड़ा करने के लिए एक दो नहीं पग-पग पर सहस्रों टेक लगाने पडेंगे। जीवन की सारी ऊर्जा इस झूठे अभिमान को सम्हालने में ही व्यय हो जाएगी। इस अहंकार को साधारण बोलचाल में 'मैं' कहते हैं। इस 'मैं' का विश्लेषण किया जा सके और उसके सम्बन्ध में तत्वज्ञान हो जाए तो मुक्ति के लिए प्रयास की भी आवश्यकता नहीं। बालक जन्म लेते ही सबसे पहले इस 'मैं' को पकड़ता है और जीवन के अन्तिम क्षण में सब से अन्त में यह पीछा छोड़ता है। ऐसा जन्मभर साथ देने वाला यह 'मैं' अन्त तक अज्ञात ही रह जाता है।

'मैं क्या हूं', 'मैं कौन हूँ' - ये ऐसे रहस्यमय प्रश्न हैं जिनका शास्त्रीय शाब्दिक समाधान उसी साधक को प्राप्त होता है जिसकी जिज्ञासा इतनी प्रचंड हो जाय कि सोते-जागते, उसके सामने केवल एक यही प्रश्न रह जाय, प्रत्येक श्वांस के साथ इसी एक प्रश्न की गूंज उठने लगे कि **'मैं कौन हूँ'**। साधक को यह आभास होगा कि यह शरीर 'मैं' नहीं, ये इन्द्रियाँ और मन 'मैं' नहीं। इन सबको चेतना देने वाला यह द्रष्टा 'मैं' है। इस अनुभव के प्रगाढ़ होने पर रहस्य खुल जाता है। महाशय जी, इस 'मैं' का रहस्य ज्ञान सब उपदेशों का सार है। और इस 'मैं' के दुष्चक्र से बच निकलने वाला व्यक्ति अहंकार से मुक्त हो जाता है। अहंकार से मुक्त साधक, संसार की भलीबुरी

कहलाने वाली सत्ता की घटनाओं को समाहित करने का आदी हो जाता है। बिना किसी विशेष अवसर के किसी के कथन को अस्वीकार करना, उसके स्वभाव से बाहर की बात हो जाती है।

एक दिन किसी हास्यप्रिय मित्र ने भरी दोपहरी में यह देखने के लिए कि 'मैं' की क्या प्रतिक्रिया होती है, कहा, "रात आगई"। मैंने कहा बिल्कुल ठीक, दिन में रात छिपी है और रात में दिन। सूक्ष्मदर्शी ही इस सचाई को पहचान सकता है। मुझे उस समय मनु का यह वचन स्मरण हो आया- **"भद्रं भद्रमिति ब्रूयात्"**। जहां तक बने दूसरे की बात का खण्डन न कर 'ठीक है', 'ठीक है' ऐसा ही कहें। परन्तु यह प्रक्रिया सत्यासत्य के निर्णय के समय लागू नहीं करनी चाहिए। मनु आगे कहते हैं **"शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्"** - किसी के साथ सूखा वैर और विवाद न करें। वैर और विवाद भी सूखा और गीला (सरस) होता है। जो विवाद जिज्ञासु लोग सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए करते हैं वह विवाद सरस है, सूखा नहीं। जो विवाद केवल अहंकार को पुष्ट करने के लिए किया जाता है, वह सूखा विवाद है।

आपने जिस सूत्र को अपनी जीवन यात्रा को सफल बनाने का साधन समझ कर पकड़ रखा है, उससे न आपका कल्याण होगा और न श्रोता का। दूसरों की बातों का खण्डन/अस्वीकृति आप नहीं करते आप के द्वारा आपका अहंकार करवाता है। दूसरे की कही सच्ची बात को मान लेने में, आपको ऐसा प्रतीत होता है कि आपका अपमान होगया - लोग क्या कहेंगे कि पण्डित जी को उनकी बात स्वीकार करनी पड़ी। यथार्थ सत्य यह है कि लोगों को न आपकी अधिक चिन्ता है, न आपके अपमान की। यह आपके मन की कल्पनाएँ हैं, जोकि आपको चौबीसों घण्टे भयभीत रखती हैं। जैसे कल्पित भूत के भय से डरा हुआ व्यक्ति घर के कोने-कोन में भूत की आँखों को देखता है। अहंकार से पीड़ित व्यक्ति अपने को चारों तरफ से अपमानित होता देखता है। उस कल्पित अपमान के बहाने के लिए अहंकारी प्राणी आस-पड़ौस के सभी लोगों की बातों का खण्डन कर यह प्रमाणित करना चाहता है कि वह धुरन्धर पण्डित है। समझदार श्रोता उस अहंकारी प्राणी को करुणा की दृष्टि से देखते और कामना करते हैं कि उसका यह 'अहंकार ज्वर' उतर जाय।

परन्तु सबसे जटित प्रश्न तो यह है कि मनुष्य मात्र में कम-अधिक मात्रा में घर किया यह 'अहंकार ज्वर' शान्त कैसे हो। मकान में घुसने और बाहर निकलने का उरवाजा एक ही होता है। व्यक्ति जिस दरवाजे से भीतर जाता है, बिना किसी से पूछे उस ही से बाहर निकल आता है। केवल दिशा परिवर्तन की आवश्यकता होती है। अहंकार के सम्बन्ध में भी यह नियम लागू होता है।

'हूँ' के बाद, बालक को 'मैं हूँ' की प्रतीति हुई थी। यहाँ तक ठीक था। इसके बाद 'तू' की प्रतीति हुई। इस 'तू' के साथ 'मैं' का संघर्ष अविद्याजनक प्रारम्भ हुआ। इस संघर्ष में बालक बालपन से ही मैं को पुष्ट करने लगा। मैं के गिर्द एक बाड़ बनाई, उस बाड़ को बचाने के लिए कांटेदार तार लगाया। उस तार को बचाने के लिए चारदीवारी बनाई। 'तू' का भय फिर भी बना रहा। परकोटे के साथ खाई बनवाई। खाई में पानी भरा। 'तू' इसको भी तैर कर, दीवार पर चढ़ कर भीतर आ ही गया। सारा जीवन, सारी शक्ति इस कल्पित तू के भय से मुक्ति पाने में निकल जाता है। इस काल्पनिक 'तू' के भय से मुक्ति पा लेने के बाद 'मैं' का कल्पित भय जाता रहता है। भय जाते ही अहंकार की मात्रा कम हो जाती है। अहंकार ज्वर शांत हो जाता है। 'तू' के भय से मुक्ति पाने का सरल मार्ग है -

यस्मिन् सर्वाणि भूतानिन आत्मैवाभूद्विजातः ।"

इस वाक्य में बतलाया गया है - मनुष्य मात्र ही नहीं, प्राणी मात्र में आत्मबुद्धि का अभ्यास करने से 'तू' के साथ अहंकार भी शान्त हो जाता है।

....

(11)

पशु प्रवृत्ति से उद्धार

चौरासी लाख अथवा असंख्य भोग योनियों में भोक्ता जीवात्मा भोग्य प्रवृत्ति के कड़वे-मीठे भोगों का उपभोग बिना किसी रुकावट के करता, जब अपने संचित संस्कारों का पर्याप्त अपवर्जन कर चुकता है तब वह मनुष्य योनि में आता है। मनुष्य योनि की एक ही विशेषता है कि उसको बुद्धि नाम का एक अद्वितीय उपहार मिल जाता है। इस उपहार का यह स्वरूप है कि जीवात्मा को स्वतन्त्र कर दिया गया है। वह अपने को सोच समझ कर काम करने के योग्य समझने लगा है। स्वतन्त्र होने का मतलब यह है कि वह अब तक स्वाभाविक ज्ञान नामक, जिस परतन्त्रता या कैदखाने में बन्द था उससे उसको मुक्त कर दिया गया है। मनुष्य योनि में आकर उसको प्रत्येक कर्म पूरी जिम्मेदारी के साथ करने होंगे। कर्म करने में जिस स्वतत्रता का उपहार उसको दिया गया, मनुष्य को कर्मफल भोग रूप में, उसकी पूरी कीमत चुकानी पड़ेगी। **'योग: कर्मसु कौशलम्'** का यही अभिप्राय है कि शुभ-अशुभ कर्म बन्धन करने वाले होते हैं। योगी अपने कौशल से इस कर्म बन्धन से मुक्त भी हो जाता है। बुद्धिमान् मनुष्य अशुभ काम क्यों कर बैठता है? जब उसके पास बुद्धि है, तो सोच समझ कर शुभकार्य ही क्यों नहीं करता । इस के कारण वह संचित संस्कार जो उसने पशु योनियों में भटकते हुए संग्रह किए, कामनाओं के वशीभूत होकर, मनुष्य योनि में जो संस्कार अर्जित किए थे उनका अपवर्जन, मनुष्य से भिन्न योनियों में किया। परन्तु स्वाभाविक ज्ञान के आधार पर जीवन निर्वाह के जो साधन स्वीकार किए थे उनके संस्कार मनुष्य योनि में भोक्ता जीवात्मा के साथ आए। स्वतन्त्र मनुष्य की सात्विक बुद्धि भी उन पाशविक संस्कारों से पराजित होकर उसे पशु के समान व्यवहार करने में प्रवृत्त कर देती है। पशु का व्यवहार बड़ा सरल और स्वाभाविक है। वह निरन्तर परिस्थिति से वर्तमान से प्रभावित होकर काम करता है। भेड़िये को भूख लगी - भेड़, बकरी, खरगोश जो मिला, मार कर खा लिया। धूप लगी, छाया में चले गए। प्यास लगी पास की नदी तट पर जाकर पानी पी लिया। ऐसा प्रवृत्ति समर्पित जीवन भोग योनियों में था। मनुष्य योनि में भी यदि ऐसा ही प्रकृति समर्पित जीवन हो, तो जीवन सिद्ध है।

एक विशिष्ट योगी से किसी ने प्रश्न किया - आपकी साधना क्या है? उत्तर मिला - जब भूख लगती, खा लेता हूँ; प्यास लगती है, पी लेता हूँ; नींद लगती है, सो जाता हूँ। जिज्ञासु ने कहा ऐसा तो पशु भी करते हैं। उत्तर मिला - मेरी तो यही साधना है। ज़रा गौर से देखो, क्या हम जिह्वा के रस के वशीभूत होकर आवश्यकता से अधिक अन्न नहीं खाते ? यदि भूख मिटाने के लिए ही भोजन करते हैं तो षड्रस भोजन की क्या आवश्यकता है? मनुष्य से भिन्न कोई भी प्राणी अपने भोजन को मिर्च मसालों से दूषित नहीं करता। प्रकृति समर्पित होने का तात्पर्य है कि भोजन को अग्नि संयोग से पकाना, छौंक लगाना आदि से उसको निवृत्त करना छोड़ कर शुद्ध प्राकृतिक रूप में ही उसको स्वीकार करना। मनुष्य मात्र ऐसा नहीं करता । केवल सिद्ध पुरुष करपात्री या परमहंस ऐसा कर सकते हैं।

एक नींति है - **"आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च, सामान्यमैतत् पशुभिर्नराणाम् ।"** खाना-पीना, सोना-जागना, मृत्युभय, सन्तानोत्पत्ति - ये सब काम पशु भी करते हैं। मनुष्य की विशेषता यही है कि वह प्रत्येक काम को सोच-विचार कर करे। मनुष्य की व्युत्पत्ति यास्काचार्य करते हैं- **"मत्वा कर्माणि सीव्यति"** - कर्मों का ताना-बाना सोच समझ कर बुनता है जिससे कि अपने बनाए जाल में स्वयं न फंस जाय। सोच-समझ कर काम करने के सम्बन्ध में समझदार लोगों ने कितनी ही बातें कहीं हैं। ईशोपनिषद् के दूसरे ही वाक्य में **"न कर्म लिप्यते नरः"** का तरीका बताया है कि **"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषत्..."** का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए महर्षि व्यास कहते हैं - **"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु ..."** कर्म करने में तू स्वतन्त्र है। कर्मफल पर तेरा कोई बल नहीं। यह विचार भी पशुवृत्ति से मेल खाने वाला है। संभवतः पशुओं को आशा निराशा का सामना कभी नहीं करना पड़ता; क्योंकि वह हिसाब-किताब कभी नहीं रखते। भगवान के भक्त तो ओंकार गायत्री आदि के जप का भी हिसाब रखते हैं, और कामना पूरी न होने पर उलाहने देने से भी नहीं चूकते।

एक दूसरा कथन है - **"शुभस्य शीघ्रम् - अशुभस्य विलम्बितम्"** - इसका तात्पर्य यह है कि अच्छा विचार उत्पन्न हो जाय तो देरी न करें तत्काल उसको कार्यान्वित कर दें; और अशुभ विचार सामने आए तो सोच-विचार में पड़ जायं कि 'करूं या न करूं'? होता क्या है, काम-क्रोधादि से प्रेरणा प्राप्त कर व्यक्ति सोचता नहीं, कर ही डालता है, चाहे बाद में कितना ही पछतावा करले। और शुभ विचार सामने आता है तो गहन विचारक की तरह माथे पर सलवट डाल कर सोचने का अभिनय करता और उस शुभ विचार को कार्यान्वित करने में, या तो विलम्ब करता है अथवा सीधा टाल ही देता है।

आचार्य उपदेश करते हैं - व्रत धारण करो कि प्रतिदिन एक मन्त्र याद करोगे। साधक कहता है, 'ज़रा गर्मियां निकल जायं, बरसात अनुकूल नहीं, सर्दियों में दिन छोटा हो जाता है, अगले साल सोचूँगा।' इसका नाम **'प्रमाद'** - टालमटोल है। मनुष्य को बुद्धि दी गई थी कि शुभाशुभ का निर्णय करके अशुभ का परित्याग और शुभ को तत्काल कार्यान्वित कर सके। यथार्थ उसके विपरीत है। क्रोध आया और प्रतिक्रिया में क्षण भी न लगा। पशु प्रवृत्ति उभर आई, बुद्धि की सर्वथा उपेक्षा की गई। शुभ विचार सामने आया तो प्रमाद ने बुद्धि पर परदा डाल दिया, और मनुष्य की मूल विशेषता का तिरस्कार कर के उसको फिर पशु तुल्य कर दिया। बुद्धि का काम निर्णय करने का है। जब किसी स्थिति में संदेह हो बुद्धि के द्वारा निर्णय लेकर एक पक्ष को स्वीकार कर लेना चाहिए। परन्तु कुछ साधक संदेह कोटि से निकल कर संशय में पड़ जाते हैं। संदेह और संशय में भारी अन्तर है। संदेह में पड़ा व्यक्ति एक पक्ष के औचित्य को स्वीकार कर उसको कार्यान्वित करता है। सन्देह उत्पन्न होने पर बुद्धि से निर्णय लेकर काम करना - यही तो मनुष्य की विशेषता है।

संशय में पड़ा व्यक्ति अपनी या पराई बुद्धि से निर्णय मांगे के स्थान पर संशय में ही पड़ा रहता है। तालाब या नदी में छलांग लगाने वाले खिलाड़ी 'जम्पिंग बोर्ड' से छलांग लगा देते हैं। परन्तु कुछ फिसड्डी 'जम्पिंग बोर्ड' पर ही उछल कूद कर घर वापस आजाते हैं। संशयात्मा व्यक्ति का यही स्वरूप है। इसीलिए कहा गया है - **"संशयात्मा विनश्यति"** - जो बुद्धि से काम नहीं लेता, सदा संशय में ही पड़ा रहता है, वह इस संसार में नाश को प्राप्त होता है। बुद्धि से काम लेने का मतलब है सदा सावधान रहना, जागते रहना। जो व्यक्ति सदा जागता रहता है, वह हाथ आए अवसर को नहीं चूकता। एक बिल्कुल साधारण गृहस्थ **'रॉस चाइल्ड'** अपने जीवन काल में अरबपति होगया। उसकी सफलता का रहस्य पूछे जाने पर उसने बताया कि "मैं कभी अवसर नहीं चूकता।" एक क्षण - अवसर का स्वरूप है। अवसर के आने से पहले जो उस पर सवारी करने के लिए तैयार रहता है, केवल वही अवसर को पकड़ सकता है। और जो प्रतीक्षा करता है अवसर आएगा, 'तब कमर कसूँगा और छलांग मारूँगा' वह प्रायः धराशायी होता है। अवसर की सीता तो एक क्षण है, आया और गया। उसको पकड़ने के लिए तो हर समय तैयार रहना चाहिए। इस तैयारी का नाम है जागरण। हर समय सावधान रहना। अर्थात् उसकी निर्णायक बुद्धि इतनी सचेष्ट हो कि सन्देह के उत्पन्न होते ही उसको दूर कर दे। ऐसी निर्णायक बुद्धि जो जीवन प्रवाह के प्रतिक्षण में जागरुक रह कर इन्द्रियों को सन्मार्ग का निर्देश करती रहे कैसे उपलब्ध हो सकती है? पशुवृत्ति से मननशील मानव की वृत्ति की तरफ प्रवृत्त कराने वाली बुद्धि वास्तव में मनुष्य जीवन का निर्माण करने वाली दैवी सम्पत्ति है।

हमारा मन सगुण और साकार पदार्थों पर ही आकृष्ट होता है। जब तक ये सक्रिय हैं तब तक निर्गुण और निराकार का ध्यान हो नहीं सकता। गायत्री मन्त्र में कहा है कि "बुद्धि को सन्मार्ग पर प्रेरणा देने वाला परमेश्वर है। उसके शुद्ध स्वरूप को धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।" उसका शुद्ध स्वरूप निर्गुण और निराकार है। निर्गुण और निराकार को हृदय में धारण करने अर्थात् उसकी भावना करने का अभिप्राय यह होगा कि मन को विसर्जित करना। साधक की इस स्थिति को ही 'ध्यान' कहते हैं। ध्यान में साधक के अन्त.करण विषयों से सर्वथा शून्य हो जाते हैं। ये विषयों का चिन्तन स्मरण आदि ही आत्मज्योति के आवरण रूप में विद्यमान थे। इनके हटते ही साधक 'ध्यान' को उपलब्ध हो जाता है। यही मनुष्य जन्म की सार्थकता है, जिसका प्रारम्भ निर्णायक बुद्धि की जागरुगता से हुआ और मनुष्य प्रकृति का परित्याग कर यथार्थ में मनुष्य बना ।

....

(12)

अभयं नक्तमभयं दिवानः

प्रायः प्रतिदिन प्रार्थना की जाती है कि दिन और रात दोनों में हमें अभय की उपलब्धि हो। चौबीसों घण्टे दिन और रात में ही समाप्त हो जाते हैं। एक क्षण भी इनसे बाहर नहीं फिर भी बत्तीस वर्ष का एक नौजवान कह रहा था - 'बुरा हो विद्युत् विभाग, जब देखो बिजली चली जाती है, अँधेरा हो जाता है। मुझे तो इस अँधेरे से बड़ा डर लगता है।" मैंने कहा, "विद्युत् विभाग तो अल्प शक्तिमान् उत्तरदायित्वशून्य हमारे ही साथियों से संचालित है। परमात्मा का जलाया करोड़ों वाट का वल्ब भी छिप जाता है, और रात कर देता है। बाहर से आने वाला सारा प्रकाश किसी न किसी प्रकाशमान् पिण्ड से आता है जिसकी हमारी कोई पकड़ नहीं। उस बाहर से आने वाले प्रकाश पर जब तक हम निर्भर करेंगे भय हमारा साथ नहीं छोड़ेगा। इस बाहर से आने वाले प्रकाश से भय और अभय का क्या सम्बन्ध हो सकता है। प्रकाश के अभाव का नाम अंधकार है। प्रकाश कृत्रिम है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, दीपक, वल्ब, मशाल आदि से प्राप्त होता है और इसके छिप जाने या नष्ट हो जाने पर प्रकाश के स्थान पर बिना किसी प्रयास के अंधकार आ जाता है। यह अंधकार तो तीन नित्य पदार्थों से भी पहले विद्यमान था। **"तम्-आसीत्, तमसागूढ़मग्ने"** - सृष्टि रचना से पहले सघन अंधकार विद्यमान था। इस अभावात्मक पदार्थ से किसी को कैसे भय हो सकता है। प्रकाश में तो आँख काम करती है, अंधकार में केवल कल्पना काम कर सकती है।

एक काल्पनिक पतिदेव की कारणवश रात को नींद खुल गई । खूंटी पर टंगे कोट को देख कर कल्पना कर ली कि चोर है। पत्नी को पुकारा धीरे से 'मुझे बचाओ, कोने में चोर खड़ा है ।' पत्नी - 'कहाँ, कोई भी चोर नहीं।' पतिदेव धीरे-धीरे बोले, "मैं खाट के नीचे छिपा पड़ा हूँ। कहीं देख लेगा।" - सब कल्पना के खेल हैं। अँधेरा कल्पना में सहायक होता है। भय अँधेरे से नहीं, काल्पनिक चोर-डाकू से है।

टाल्सटाय अपने स्मरणों में लिखते हैं- "एक बार सीढ़ियों से ऊपर की मंजिल पर जा रहा था। ऊपर से एक महिला नीचे आ रही थी। सीढ़ियां बहुत नहीं, कुछ तंग अवश्य थीं। सीढ़ी पर रेलिंग नहीं थी। उतरती महिला को स्थान देने के लिए सरका तो धड़ाम से नीचे गिर गया। दौड़ कर महिला ने प्रश्न किया- 'आप इतना अधिक क्यों सरके ?' टाल्सटाय ने कहा, 'मेरे साथ एक

और महिला जो चल रही थी। मैं एक उपन्यास का उपाख्यान बना रहा था, उसको बचाने के लिए सरकना पड़ा।" कल्पना - कल्पना सभी कलाकार इसी कल्पना पर जीते हैं। अँधेरे में डरने वालों की सहायक भी यही कल्पना है। अँधेरा भय का कारण नहीं। अँधेरा कल्पना में सहायक है। कल्पना प्रायः सब ही कलाकारों और भाव दशा में भय होने वाले भगवान के भक्तों के लिए बड़े काम की है।

"अभयं नक्तम्"- में - रात्रि अंधकार का वाचक है। रात्रि के अंधकार में चोर, डाकू, साँप, बिच्छू का भय हो सकता है। यह काल्पनिक भी नहीं, परन्तु स्पष्ट है कि भय अंधकार से नहीं अंधकार में छिप कर काम करने वाले शत्रुओं से भय जनक पदार्थ से भयभीत होकर चुप बैठ जाना क्या उचित है?

"तावद् भयस्य भेतव्यं यावद् भयमागतम् ।"

भय जनक पदार्थ से भयभीत होना ही चाहिए। भयभीत होने का यह अभिप्राय नहीं कि मुँह ढ़क कर लेट जायं। **"आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रहर्तव्यमशंकया"**- भय सिर पर आजाय तो भयभीत हो जाने के स्थान पर बेधड़क प्रहार करें। भय भी अनेक प्रकार के होते है। माता-पिता का भय, समाज का भय, राजदण्ड का भय - ये सब भय सामाजिक जीवन में काम करते हैं। भय से जब किसी नियम का पालन कराया जाता है तो वह नियम पालन समाज या वर्ग के लिए क्षणिक समाधान का कारण तो हो जाता है परन्तु उसकी प्रतिक्रिया अवश्य होती है। दण्ड विधान चाहे किसी ने किया हो, मनोविज्ञान की दृष्टि से उसकी प्रतिक्रिया अवश्य होगी। यह एक अमूल्य सत्य है कि किसी भी अपराध में कैद की सजा भुगतने वाला कैदी कैद से छुटकारा पाने पर प्रायः पहले से अधिक चातुर्य और सफाई के साथ उसी अकर्म को करता है। प्रायः इसलिए कह दिया कि एक आध अपवाद भी मिल सकता है। फिर भी समाज में व्यवस्था रखने के लिए नियम पालन करना आवश्यक है। और नियम पालन करवाने के लिए सिवाय दण्ड के और कोई सरल मार्ग नहीं। ध्यान रखें कि नियम पालन करवाने के लिए दण्ड ही एक मात्र साधन है। मनु महाराज भी इस विचार से सोलह आने सहमत हैं।

राजा-प्रजा का धर्म का प्रकरण केवल सांसारिक जनों के लिए है। जो गृहस्थ की इस नारकीय दशा की चौमुखी निगरानी करके दबाव से नहीं स्वेच्छा से गृहस्थ का परित्याग कर आश्रमवास करने आए हैं। उनका व्यवहार वैसा तो नहीं होना चाहिए जैसाकि द्वितीयाश्रम में था। यदि भूलचूक से कभी वैसा हो भी जाय तो उसके लिए प्रायश्चित विधान के अनुसार निर्णय लिया जा सकता है।

पुरानी बात है, समाज के एक व्यक्ति से समाज के नाम को कलंकित करने का काम होगया। आचार्य ने उसके सामने जप, उपवास, सेवा आदि कई प्रायश्चित्तीय साधन रखे। जानबूझ कर उसने सेवा का कार्य स्वीकार किया, जिससे कि शेष सदस्यों को उसकी भावना का ज्ञान हो सके। यदि उस प्रौढ़ व्यक्ति को कोई दण्ड दिया जाता - उदाहरण के लिए दस रुपए जुर्माना। अधिक संभव है कि वह इसे स्वीकार करने से इंकार करता, अधिक दबाव पड़ने पर समाज की सदस्यता छोड़ देता। सारांश यह कि **'भय'** की अनुभूति अल्याणकारी नहीं। भय दिखलाकर करवाया गया काम उस समय तो हो ही जाता है परन्तु उसकी प्रतिक्रिया अवश्य होती है जोकि न तो व्यक्ति, और न समाज अथवा वर्ग के लिए कल्याणकारी हो सकती है। यह सब तो हो गया मानव समाज के साथ भय का सम्बन्ध। कई आचार्यों प्रतिष्ठित विद्वानों के मुख से एक नए भय का हौआ सुनने को मिला। उस भय का नाम 'ईश्वर से भय' है। इस ईश्वर भय की उत्पत्ति ईश्वर की सर्वज्ञता से हुई। मनुष्यकृत समाज दण्ड या राजदण्ड केवल उन स्थूल कर्मों के साथ सम्बन्ध रखता है जो हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियों से किये जायं। मानस कर्म अथवा समाज विरोधी विचार सिद्ध होने पर भी न्यांयालय उसको दण्डनीय नहीं मानता। ये धर्मगुरु अपने चेलों पर की गई पकड़ को अधिक कारगर बनाने के लिए राजदण्ड भय से आगे 'ईश्वर भय' का प्रदर्शन करता है। शास्त्रीय दृष्टि से उसका कथन संगत है, क्योंकि ईश्वर तो सर्वव्यापक होने के साथ सर्वज्ञ भी है। मनुष्य के हृदय में असामाजिक भावना का उदय होने के समकाल ही उसके ज्ञान में आ जाता है। कर्मेन्द्रियों से किये गए अपराधों को चतुर वकील अन्यथा भी कर सकता है, परन्तु सृष्टि नियम के अनुसार मानस कर्म के उदय के साथ ही उसका संस्कार पड़ जाता है और संस्कार तो वह बीज है जो कि श्रमसाध्य पातंजल योग प्रक्रिया से ही दग्धबीज हो सकता है, अन्यथा अंकुरित होकर फूल-फूल देगा ही। इसीलिए ईश्वर के नियम का भय दिखलाया जाता है। परन्तु राजदण्ड भय और ईश्वर के विधान 'भय' में बड़ा अन्तर है। कर्मयोनि केवल एक है, 'मनुष्य भोगयोनियां' संख्यातीत हैं। कहते हैं ये चौरासी लाख हैं। मनुष्य योनि में संचित संस्कारों को भोगनेके लिए ही इतनी असंख्य योनियां बनीं। राजदण्ड में कैदी को संचारहीन कर कोठरी में बन्द किया जाता है। ईश्वरीय न्याय में संस्कार के अनुसार खुल कर भोग करने की छूट दी जाती है। इसीलिए ईश्वर को न्यायकर्ता के साथ दयालु भी कहा है। **मांसाहार** - मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं, फिर भी तीन चौथाई मनुष्य जाति मांसाहार करने वाले हैं। इनको दण्ड देने का ईश्वरीय विधान मानवीय विधान से मेल नहीं खाता। मानवीय विधान में तो अकर्म या निषिद्ध कर्म करने वाले को, उस कर्म को करने में असमर्थ कर देना है। प्राचीन दण्ड विधानों में तो जिस अंग से निषिद्ध कार्य किया हो उसका छेदन कर दिया जाना ही इष्ट था । आज की व्यवस्था में उसको संचार ही कर दिया जाता है। ईश्वरीय विधान में संस्कारों के अनुसार जिस योनि में उस संस्कार को तृप्त करने की अधिक से अधिक अनुकूलता है, उस योनि में जन्म लेने की छूट दी जाती है।

स्वेच्छा से योनि को स्वीकार करके भोग द्वारा संस्कार को तृप्त करना अथवा उसका अपवर्जन करना यह ईश्वरीय न्याय अथवा दण्ड है। प्रौढ़ावस्था से पहले अर्धसंस्कृत मनुष्य, समाजदण्ड या राजदण्ड के भय से सन्मार्ग पर चलता है। संसार के उतार चढ़ाव को देख लेने के बाद प्रौढ़ावस्था को प्राप्त प्रौढ़ बुद्धि वाला व्यक्ति निषिद्ध कर्म करेगा ही नहीं। यदि ऐसे सदाशय व्यक्ति से कभी भूल हो भी जाय तो नियम का भय दिखलाने के स्थान में आश्रम के आचार्य का कर्तव्य है उसके लिए प्रायश्चित विधान करे। नियामक अथवा व्यवस्थापक निरन्तर नियम का भय दिखला कर यदि आश्रम व्यवस्था को स्थिर रखने में समर्थ होता है तो, या तो उस आश्रम में कोई कमी है या आश्रमवासियों में 'भय' का वातावरण प्रतिक्रिया से जुड़ा है। **'अभय'** होने की प्रार्थना का आशय यही है कि भय न समाज का, न शासक का, न ईश्वर का, न परमेश्वर का - **"सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु"** ।

यह विचारणा तो बाह्य प्रकाश के अभाव में अंधकार अथवा अविद्याजन्य, भय के जनक, वास्तविक अथवा काल्पनिक पदार्थों से भय और उसकी अवास्तविकता के सम्बन्ध में है। एक प्रकाश इस बाह्य प्रकाश से सर्वथा भिन्न है। उसके उद्गम और विलय का स्वरूप भी सर्वथा भिन्न है। उस प्रकाश के प्राप्त हो जाने पर साधक सचमुच अभय हो जाता है। वह प्रकाश शाश्वत है। हवा के झकोरों या विद्युत् विभाग की लापरवाही का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । उस प्रकाश को प्राप्त कर लेने वाले साधक को किसी नियम या नियामक की आवश्यकता नहीं रहती । न उनसे कोई भय रह जाता है । उस प्रकाश का नाम है **'आत्मज्योति'**। यह ज्योति अनादि आत्मा का स्वभाव है। इसको किसी भी तरह उससे पृथक् नहीं किया जा सकता । हमारी सांसारिक चेतना और इस स्वाभाविक विशुद्ध चेतना के बीच, विचारों, मान्यताओं, अंधविश्वासों आदि का एक बड़ा अभेद पर्दा पड़ा हुआ है। जिस पर्दे के रहते शास्त्रों के स्वाध्याय, महात्माओं के प्रवचन, भक्तों के भजन, सब व्यर्थ हो जाते हैं। उस आत्मज्योति को प्रज्ज्वलित नहीं करना है। उस के ऊपर जमी धूल को साफ करना है। परन्तु उस धूल के साथ हमारा ऐसा तादात्म्य स्थापित हो चुका है कि हम चाह कर भी उसको छोड़ नहीं सकते। इस तादात्म्य को तोड़ना ही सबसे कठिन काम है - **"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके"** इत्यादि। इसी तादात्म्य का नाम अभिधा है। यही सबसे कठोर साधना है। धूल का आवरण हटते ही **"आत्मज्योति"** प्रकाशित हो जाती है, जिस प्रकाश में कामादि छह शत्रुओं से भय जाता रहता है और - **"अभयं नक्तमभयं दिवानः"**- प्रार्थना चरितार्थ हो जाती है ।

....

(13)

अवन्ध्यं दिवसं कुर्यात्

दिन और रात मिल कर चौबीस घण्टे का समय बनता है। दिन में शारीरिक और मानसिक परिश्रम करके थक जाने वाले के लिए रात्रि आ जाती है, और विश्राम का अमूल्य अवसर दे जाती है। जो लोग दिन में काम करते हैं और थक जाते हैं उनके लिए रात एक वरदान के रूप में आती है। उनको रात के अंधेरे में उपद्रव मचाने वाले मच्छरों और अधिक गर्मी आदि की शिकायतें अधिक नहीं सतातीं, परन्तु यह सब बातें पशुओं में भी विद्यमान है। दिनभर पेट भरने की चिंता में दौड़धूप करने वाले वन्य प्राणी और आकाश विहारी पक्षी जगत् भी थक कर रात को विश्राम कर लेते हैं। परिश्रम कर के न थकने वाले पशु भी उन मनुष्यों के समान हैं जोकि परिग्रह (लूटखसोट) से जमा की गई पूंजी के सहारे सुखी जीवन बिताते और रात में कम्पोज की गोली खाकर नकली नींद से संतोष करते हैं। मनुष्य जीवन तो जिस **"आत्मानुभूति"** के लिए प्राप्त हुआ है, मनुष्य यदि उस दिशा में कुछ प्रयत्न करता है और इतना तीव्र वेग से प्रयास करता है कि उसके शरीर और मन दोनों थक जायं तभी उसको प्रकृति माता के दिए रात्रि रूपी उपहार का अनुकूल अनुभव होता है। मनुष्य जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने की प्यास जिनकी अत्यन्त तीव्र होती है उन साधकों को तो हम नमस्कार करते हैं, परन्तु साधारण साधक के लिए दैनिंदिनी (ड़ायरी) का रखना एक अच्छा विचार है। आचार्य कहते हैं 'व्रत धारण करो' उपदेश को सुनते ही साधक प्रभावित हो जाता है और बड़ी उमंग के साथ निश्चय भी कर लेता है कि 'आज से ही व्रत धारण कर लूंगा' आचार्य का प्रवचन समाप्त होता है। कुटी में जाने पर सम्बन्धियों से आए पत्र, समाचारपत्र, रेड़ियो आदि के प्रवचन सामने आते हैं और निश्चय होता है कि 'एक तारीख से प्रारम्भ करूँगा'। यह अगले महीने की एक तारीख इन्द्रधनुष की तरह सदा भविष्य में दिखलाई देती रहती है, कभी हाथ नहीं आती। दैनिंदिनी लिखने वाला अपनी प्रतिदिन की उपलब्धियाँ हानि का व्यौरा उसमें आने वाली रुकावटों का स्वरूप, उन रुकावटों को दूर करने का उपाय आदि अंकित करता-करता एक दिन अपने चिरप्रतीक्षित अवसर को पकड़ ही लेता है। दैनिंदिनी लिखने से अधिक आवश्यकता व्रत धारण करने की है। जिस व्यक्ति ने व्रत धारण नहीं किया वह एक दिन में हुए हानि-लाभ का व्यौरा कैसे बैठाएगा ? व्रत का अभिप्राय है कि जीवनक्रम में किसी विशेष भावना, विचार या कर्म

को निश्चित स्थान देना । उदाहरण के लिए किसी बालक को मौका लगते ही पड़ौस के व्यक्ति के सामान को उठा लेने की आदत पड़ गई थी। यह आदत ऐसी जड़ पकड़ गई थी, वस्तु काम की हो, न हो, आँख बचा कर चुरा अवश्य लेगा। सत्संग में बैठे एक वृद्ध का चश्मा हाथ लग गया। बालक को तो आदत थी चुराने की, चुरा लिया। पकड़ा भी गया, लानत, मरम्मत, पिटाई सब होगई। भुक्तभोगी ही सदा वैरागी बनता है। अच्छे सुसंस्कृत मातापिता की संतान था, निश्चय किया कि 'कभी चोरी नहीं करूंगा' । निश्चय दृढ़ हो तो इसका नाम है **'स्वानुभव'**। इस 'स्वानुभव' के बाद व्रती जिस व्रत को धारण करता है उसमें न दीक्षागुरु की आवश्यकता है और न डायरी की। परन्तु साधारण तथा ऐसा सौभाग्य तो किसी को मिलता है, कि वह ठोकर खाकर संभल जाय। यदि ठोकर खाकर इतना संभल जाना सरल होता तो आचार्य कपिल और पतंजलि को सांख्य और योग नाम के दो भिन्न-भिन्न मार्ग मोक्षप्राप्ति के साधन रूप में न बतलाने पड़ते। इन साधन श्रेणी के लोगों के लिए जो स्वर्णमृग के पीछे दौड़ कर अपनी अर्धांगिनी से हाथ धोने वाले दशरथ पुत्र राम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहते हैं। साधक दीक्षागुरु व्रत आदि की व्यवस्था करनी पड़ी। ठोकर खाकर भी नहीं संभल पाता है, उस मनुष्य को 'अन्धा' कहना भी अन्धे को नीचा दिखाना है। जिसकी आँख ही न हो वह यदि बार-बार ठोकर खाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। दोनों आँखों वाला यदि एक बार ठोकर खाने के बाद दूसरी बार भी ठोकर खाए तो इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा? परन्तु सौ फीसदी सांसारिक व्यक्ति जिह्वा रस के वशीभूत होकर एक बार नहीं अनेक बार नहीं, जन्मभर अपच (बदहजमी) के शिकार बने रहते हैं। ऐसे ठोस साधक को व्रत धारण करना आवश्यक है। केवल व्रत धारण करना भी पर्याप्त न होगा। दस आदमियों के सामने अपना निश्चय प्रकट करना होगा। अकेले में किया गया व्रत बड़ी आसानी से एक थोथे-से बहाने की आड़ में तोड़ा जा सकता है। समुदाय के सामने धारण किये व्रत को तोड़ने में कुछ अधिक बेशर्मी की आवश्यकता होगी। व्रत धारण करने वाला अपनी अभ्यस्त कमजोरी का अनुभव करने के बाद एक दीक्षागुरु की खोज करता है जोकि सर्वदा समय पड़ने पर उसका मार्गदर्शन कर सके। इस प्रकार दृढ़ संकल्प के साथ जीवनक्रम को व्यवस्थित करने वाला साधक अपने दिन के चौबीस घण्टों का बिना किसी उपलब्धि के न जाने देगा। **"जलबिन्दु निपतित क्रमशः पूर्यते घटः"** - पानी की एक बूंद की कोई विशेष सत्ता नहीं। परन्तु उसी टपकती एक बूंद के नीचे खाली घड़ा रख दिया जाय तो रातभर में वह घड़ा बूंद-बूंद पानी से भी भर जाता है। जो साधक व्रत धारण करके अपने जीवन के एक भी दिन को बिना किसी उपलब्धि के चाहे वह पानी की बूंद से भी छोटी क्यों न हो, जाने न देगा। संसार उसकी प्रगति को देख कर चकित और स्तंभित रह जाएगा। मनुष्य योनि को सफल बनाने के लिए जिन व्रतों को धारण करने की आवश्यकता है महर्षि पतंजलि उनका बड़ा ही वैज्ञानिक परिगणन करके पातंजल योगशास्त्र में उनका सुन्निवेश कर दिया है ।

पाँच यम - अहिंसा, सत्य, अस्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह; **पाँच नियम** - शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान; - गणना लम्बी है, परन्तु जब साधक कमर कस कर इन व्रतों के पालन का निश्चय कर लेगा तब इसको एक बड़े विचित्र तथ्य का अनुभव होगा। किसी भी एक व्रत का पालन करने से शेष सभी व्रतों का पालन स्वयं जो जाएगा । अतः ऐसा कह सकते हैं कि एक व्रत को पूर्णतया पालन करने के बाद शेष सभी व्रतों का अनायास ही पालन हो जाता है। उदाहरण के लिए सबसे प्रमुख व्रत **'अहिंसा'** को लें, शब्दार्थ हिंसा न करना है। परन्तु व्रत तो कुछ करने का लेना है। न करने वाले सभी जड़ और निर्वीर्य प्राणी अहिंसाव्रती बन जाएंगे, यदि अहिंसाा का नकारार्थ लिया जाय।

अपनी वासनापूर्ति के लिए किसी के शरीर या मन को कष्ट देना हिंसा है। इस हिंसा का अभाव तब ही हो सकता है तब व्यक्ति प्राणीमात्र को आत्मभावना भावित कर के उससे मैत्री का सम्बन्ध स्थापित कर ले। मित्र की हिंसा नहीं हो सकती। इस प्रकार अहिंसा व्रत का यह अर्थ हो गया कि प्राणीमात्र के साथ मित्रभाव से व्यवहार करे।

"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।"

इस वाक्य का भी यही आशय प्रतीत होता है - ऐसे अहिंसा व्रती के पास जो कोई भी आ जाय, चाहे शत्रु भी हो, अहिंसक के मानस में बैर की भावना का उदय न होगा। प्राणीमात्र को मित्रभाव से देखने वाला अहिंसाव्रती किसके लिए असत्य भाषण व असत्याचरण कर सकता है? असत्याचरण छल-कपट के लिए होता है। छल-कपट स्वार्थ सिद्धि के लिए होता है। **"आत्मवत् सर्वभूतेषु"** पाठ करने वाला अहिंसाव्रती छल-कपट और असत्याचरण से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। लगभग यही दशा **'अस्तेय'** की है। वाणी द्वारा प्रकाशित होने वाली भावना या अनुभूति को छिपाना **'अस्तेय'** है। सांसारिक पदार्थों अथवा विचारों के अपहरण का नाम **'स्तेय'** है। दोनों भाई-बहन हैं। प्राणीमात्र को आत्मव्रत समझने वाला अहिंसाव्रती वासनापूर्ति के लिए अथवा क्षणिक स्वार्थ साधना के लिए चोरी जैसा निन्दा-ग्लानि कारक कर्म नहीं कर सकता ।

चौथा व्रत है **'ब्रह्मचर्य'** । ब्रह्मचर्य का अर्थ है परमात्मा का करने का ढंग । रचना की दृष्टि से परमात्मा की ब्रह्माण्ड रचना महनतम कार्य है। आवश्यकताएं अत्यन्त सीमित होती हैं। वासनाओं का कभी किसी ने अन्त नहीं पाया। सृष्टि रचना जैसे महान कार्य के लिए अपेक्षित ऊर्जा को जगदीश्वर ने **'इच्छा'** के रूप में अवश्य प्रयुक्त किया। परन्तु इसके अतिरिक्त अपनी ऊर्जा को

किसी भी लीला, क्रीड़ा आदि में व्यय नहीं किया। जीवनधारण करने के लिए उसको आहार-व्यवहार की आवश्यकता है ही नहीं। मनुष्य जीवन निरन्तर ऊर्जा विनियोग का एक अच्छा उदाहरण है। ऊर्जा विनियोग में उसका आदर्श ब्रह्म होना चाहिए। चारों आश्रमों में से यात्रा करता हुआ उतना ही ऊर्जा का विनियोग करे जितनी कि आवश्यकता है। आवश्यकता से अधिक व्यय की गई ऊर्जा जो कि अति भोजन आदि से होती है, कामनाओं को जन्म देती और उसके अधःपतन का कारण बनती है। ब्रह्मचारी युक्ताहार-विहारी होगा। युक्ताहार-विहार की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं। उसको अपने जीवन में हिंसक बनने की आवश्यकता ही न होगी। रह गया पाँचवां **'अपरिग्रह'** । अंदर से नंगा और भूखा परिग्रही होता है। वह अपनी दुरन्तपूरा उदरदरी को भरने के लिए साथियों की जेबें, उनके पेट आदि काट कर जमाखोर बन जाता है। उसके साथी, पड़ौसी भूखे मरें उसको चिंता नहीं।

"भूखा-प्यासा पड़ा पडौसी, तूने रोटी खाई क्या ।"

....

(14)

ज्ञानी से अज्ञानी भला

आश्रम व्यवस्था के पोषक कहते हैं कि पूर्व आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम वेदादि सत् शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए। कम से कम सोलह वर्ष तक विद्याध्ययन काल है। जहाँ तक हो सके उसका सदुपयोग यही है कि बालक विद्वान् बनकर स्नातक बने, समाजसेवा में आवे। वेदादि शास्त्रों से अपरिचित महात्माओं के व्यवहार झगड़ालू होते हैं। इसलिए विद्वान् न होकर केवल धर्मात्मा होना श्रेयस्कर है। धर्मात्मा की पहचान यह है कि वह टक्कर नहीं मारेगा। सिर झुकाकर कहा मान लेगा। उदाहरण के लिए कबीर और मीरा की कहानियाँ सुना देते हैं। श्रोता बड़े असमंजस में पड़ जाते हैं कि महर्षि के दस आदेशों में भी यही कहा गया है - **'वेदों का पढ़ना-पढ़ाना'** आदि। महात्मा जी का कथन भी सत्य है कि महात्मा बनने के लिए पढ़ने-लिखने की कोई जरूरत नहीं। देख लो कबीर, मीरा, नानक, दादू आदि को, भक्ति युग के चमकते सितारे, सब ही किसी विश्वविद्यालय के स्नातक न थे। श्रोता कुछ निश्चय नहीं कर पाता। विद्वान् बने या धर्मात्मा भगत। विद्वान् बनने के लिए नई-पुरानी दोनों पद्धतियों में सोलह वर्ष या इससे भी अधिक कठिन श्रम करना पड़ता है। महात्मा धर्मात्मा या भक्त बनने के लिए लिबास और दिनचर्या में अन्तर कर लेना पर्याप्त है। हमारे इस विवरण को पढ़ कर कुछ व्यक्तियों को असन्तोष होना स्वाभाविक है। विद्वान् का सम्बन्ध स्मृति-मन और वाणी अथवा लेख से है। ये सब लक्षण प्रत्यक्ष हैं। इनके प्रदर्शन के बिना कोई अपने को विद्वान् नहीं कह सकता। परन्तु यथार्थ धर्मात्मा के सब ही लक्षणों का सीधा सम्बन्ध आत्म जागरण से है।

इस आत्मजागरण का सीधा सम्बन्ध मन से है। मन स्वस्थ है तो उसमें रंग बिरंगे फूल खिलेंगे, इन फूलों में से सुगन्ध भी निकलेगी। पौधे की जड़ के सम्बन्ध में जो स्वस्थ होने के लक्षण हैं, वैसे ही एक धर्मात्मा में होने चाहिएं। एक चतुर कारीगर प्लास्टिक के फूलों से भी अधिक चमकीले और सुगन्धित फूल खिला सकता है। धर्मात्मा में अपनी जड़ें **'आत्मचेतना'** के विकृत होने पर भी ऊपरी आचरण से जनता को धोखा दे सकता है। लगभग चौदह फीसदी ऐसे ही धर्मात्मा अपने देश में पल रहे हैं। वेश महात्मा का होना चाहिए, बाह्याडंबर जनता को धोखे में डालने वाला होना चाहिए। नकली रंग बिरंगे फूलों पर न तो तितलियाँ मंडराती हैं, और न भौंरे गुंजार

करते हैं। परन्तु इस दृष्टि से भोला मानव धर्मात्मा के चक्कर में तो आ जाता है, पर भोला कह कर मैंने उसका अपमान किया है। वह भोला नहीं अपनी एक सांसारिक आदत से लाचार है। संसार में 40-50 साल खो कर उसने इस ही अभ्यास को पक्का किया है, और धर्मात्माओं की चरणसेवा से कम श्रम का और सस्ता मार्ग उसको मिलता नहीं। धर्मात्माओं को इन से बड़ा भक्त मिलता नहीं, दोनों का बढ़िया जोड़ा है।

ज्ञानी और धर्मात्मा में भारी भेद है। एक वह साथी है जो कुछ सूक्ति वचन याद करके अपने को महान् पण्डित समझता है और लोगों को जैसा अपने आप है वैसा ही बनाना चाहता है। किसी ने कहा - **'यदा किञ्चिज्ञोहं द्विप इव मदान्धः समभवम्'।** हल्दी की एक गांठ मिल गई उसने अपने आप को पंसारी ही समझ लिया।

एक दूसरे प्रकार के ज्ञानी भी हैं जो कि कुछ ज्ञात होने बाद भी अपने को निरा अज्ञ समझते हैं। पढ़ते-पढ़ते उनकी यह समझ में आ जाता है कि अपरा विद्या अपार है। कितना ही पढ़ लो उसका एक अंश ही पढ़ा जाता है। न्यूटन ने अपनी प्रशंसा सुन कर यही तो कहा था- 'विज्ञान (अपर विद्या) समुद्र के समान है। किनारे के रेत के एक कण को उठा पाया हूँ' । जो मनुष्य इस अपरा (विज्ञान) के अध्ययन में सारा जीवन बिता देते हैं तो अपनी ज्ञान पिपासा को जीवन के अन्तिम क्षण तक भी शान्त नहीं कर पाते। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए नारद-सनत्कुमार आख्यायिका प्रसिद्ध है। सोलह विद्याओं का अध्ययन करने के बाद भी जब नारद को शान्ति न मिली तब तो परा विद्या के अध्ययन के लिए सनत्कुमार के पास गए। सनत्कुमार के पास जाने की इच्छा नारद को तब हुई जब कि वह सोलह अपरा विद्याओं का अध्ययन कर चुका था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वेद वेदांगों को पढ़ लेने के बाद परा विद्या के अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत होती है। जैसा गृहस्थ आश्रम के कड़वे-मीठे अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति सच्चा वानप्रस्थी बन सकता है। एक सोलह वर्ष के बालक को वानप्रस्थी दीक्षा देना चाहें तो उपहास की बात होगी। इसी तरह जिस किसी व्यक्ति को 'विज्ञान' से कोई सम्पर्क नहीं वह बाह्याडंबर द्वारा 'वैज्ञानिक' बनना चाहे तो असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन है। इसी आशय को अधिक स्पष्ट करते हुए **"अविद्यामृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते"** सात्विक ज्ञान (प्राकृतिक ज्ञान/विज्ञान) को जानना अर्थात् विद्वान् होना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि यह अविद्या विद्या से सर्वथा विपरीत है। विद्या है पर का ज्ञान, पर अर्थात् दूसरा, जो मैं नहीं उसका, अर्थात् प्रकृति का ज्ञान।

सब विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, स्कूल, गुरुकुल इसी अपरा विद्या को सिखाने के केन्द्र हैं। यद्यपि नारद विश्वविद्यालय का स्नातक होने के बाद भी परा विद्या की शिक्षा की प्यास बुझाने सनत्कुमार के पास गया तो भी इस अपरा सांसारिक प्राकृतिक विज्ञान का अपना महत्व है। संसार में जीवित रहने के लिए प्राकृतिक विज्ञान का पण्डित बनना, विद्वान् बनना आवश्यक है। विद्वान्

व्यक्ति यदि अहंकार दोष से पण्डित हो तो वह अपनी ही उन्नति के मार्ग का अवरोध स्वयं करता है। विद्वान् को यह जान लेना चाहिए कि सांसारिक ज्ञान के द्वारा **अज्ञान, अन्याय** और **अभाव** का यथा शक्ति निवारण करना उद्देश्य और संभावना है। अध्यात्म में प्रवेश कार्य द्वारा नहीं। पर का अर्थ है अपने से भिन्न। सारा संसार अपने से भिन्न है। इस 'पर' को जानने में लगे वैज्ञानिकों ने अपनी आँख की शक्ति को करोड़ों गुणा बढ़ा कर अणु और परमाणु के दर्शन कर लिए। अपनी चंक्रमणशक्ति को बढ़ा कर चन्द्रमा पर जा उतरे। इस ब्रह्माण्ड का अनन्त विस्तार है। उसको मानने के लिए हर संभव प्रयास किया जा रहा है। वैज्ञानिकों की यह बीमारी साधारण गृहस्थियों में भी है। अधिक दूर क्यों जायं, अपने आश्रम वासियों तक में इस 'अपरा' के जानने की प्रबल लालसा रहती है। अमुक साधक की कुटी में 'फ्रिज' है, अमुक के 'कूलर' है, अमुक की कुटी में पानी के छह 'टैप' (टोंटी) हैं। दूसरों का वेष दूसरों के विचार इस सारे अज्ञान को जानने की प्रबल लालसा रहती है।

यदि किसी एक तत्व को जानने की इच्छा नहीं रहती तो 'तो' है 'मैं' और 'मेरे' से निकट सम्बन्ध रखने वाले मेरे विचार और मेरा आचरण ऐसी विद्वत्ता का निष्कर्ष तो यही होना चाहिए कि व्यक्ति 'मैं' को जान ले। 'मैं' से भिन्न को जानने का भी मुख्य प्रयोजन यही होना चाहिए कि अन्त में इसकी व्यर्थता को जान ले। मुख्य सांसारिक त्रिविध तापों की निवृत्ति चाहता है। अविद्या के द्वारा विज्ञान की सहायता से उसने तीनों तापों की निवृत्ति तो की परन्तु वह क्षणिक ही रही। उद्देश्य है अत्यन्त निवृत्ति विज्ञान में पारंगत होने के बाद उसने जाना कि इस सांसारिक विज्ञान का संसार का व्यवहार में ही प्रयोग कर सकता है। अध्यात्म क्षेत्र में इसका प्रयोग नहीं। उस क्षेत्र में प्रवेश के लिए तो व्यक्ति को बहिरंग वृत्ति का परित्याग कर अंतरंग में प्रवेश करना होगा। बहिरंग स्थिति का प्रदर्शन तो सहज ही हो जाता है। अंतरंग का प्रदर्शन नहीं होता। फिर भी संगठन बनाने की दृष्टि से लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के चिह्न बना रखे हैं। ये चिह्न नवीन विचारों की उपज नहीं। मनु से पूर्व ये चिह्न बनाए गए होंगे। तब ही तो मनु को लिखना पड़ा- **"न लिङ्गं धर्मकारणम्"** साधारण प्रजा को मनु सावधान करते हैं, धर्मात्मा बनने के जो लिंग चिह्न हैं, उनसे धोखा मत खा जाना। जो लोग धर्मात्मा बनना एक आसान काम समझ लेते हैं, उनका सीधा ध्यान चिह्नों पर ही रहता है। धर्मात्मा बनना तो जीवन का परम लक्ष्य है। मनु ने ही प्रजा को धोखे से बचने के लिए दस लक्षण लिख कर धर्मात्मा की पहचान बतला दी है- 'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या आदि' ये जिस व्यक्ति मे हों, वह चाहे जिस रंग के वस्त्र में हो धर्मात्मा है।

....

(1)

अपरिग्रह

बालक अज्ञानी था। उसको रंग बिरंगे खिलौने बड़े आकर्षक लगे। उसने अपने खिलौने अपनी पेटी में जमा करने शुरू कर दिये। उसकी छोटी बहन, जिसको वह बड़ा प्यार करता था, उसको भी उन खिलौनों से खेलने नहीं देता था। बड़ा होता गया, उसकी पसंद की वस्तुएँ बदलती गईं। नदी के किनारे जाता, रेत में अपना पंजा दबा कर घर बनाने लगता, यदि उसका साथी उस घर को तोड़े तो नाराज होता और लड़ता था। और बड़ा हुआ, उसकी ममता और आकर्षण के केन्द्र बदलते चले गए। एक दिन हमने उससे पूछा कि बचपन में तो तुम रेत के घरौंदे बनाते थे, अब क्यों नहीं बनाते? उसने कहा अब मैं बड़ा हो गया हूँ, समझदार हो गया हूँ। अब मैं उन बेकार खिलौनों और खेलों में समय नहीं गंवाता। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता गया, उसकी सारी समझदारी की दशा, पुराने बेकार खिलौनों के स्थान पर नए उपयोगी खिलौनों की तलाश और संग्रह में काम करती गई। सांसारिक पदार्थों को संग्रह करने की दिशा, उसके माता-पिता ने उसको बचपन में दी। माता-पिता सारे जीवन इसी दिशा में काम कर चुके थे। संभवतः उनको किसी दूसरी दिशा का ज्ञान ही न था। वह सांसारिक पदार्थों को ही सुख का मूल समझते थे, जैसा कि उनके पूर्वज और पड़ौसी भी समझ रहे हैं।

ऐसा नहीं कि सौ फीसदी मनुष्य ऐसा ही करते चले आए हैं। कुछ एक व्यक्ति ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने ठोकरें लगने के बाद क्षणभर रुक कर देखा कि रास्ता ऊबड़-खाबड़ तो नहीं। कई ऐसे भी थे जो फिर उसी रास्ते पर चल पड़े। दो-चार ठोकरों के बाद उनको समझ आया कि रास्ता तो सचमुच ख़राब है। इसय पर चलते जाने से कहीं भी पहुँच नहीं सकेंगे। फिर भी भारी भीड़ को उसी रास्ते पर दौड़ते देख कर, लोगों से पूछना प्रारम्भ किया कि कहां कहाँ रहे हो? प्रायः सबका एक ही उत्तर था- "यह तो मालूम नहीं कहाँ जा रहे हैं, परन्तु सब जा रहे हैं तो हम भी जा रहे हैं।" जिज्ञासु को यह सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ। साथ ही जिज्ञासा में एक प्रश्न और जुड़ गया कि "आप आ कहाँ से रह हैं?" इसका उत्तर भी सबका एक समान था - "पता नहीं"। जिज्ञासु ने सोचा कि इस भीड़ को न तो अपने आने का पता है, न जाने का। परन्तु रास्ते में जाने

वाले, मिलने वाले रंगीन ईंट-पत्थरों को जमा किये जा रहे हैं। गठरी भारी होती जा रही है। साँस फूल गई है, पाँव लड़खड़ा गए हैं, फिर भी कंकड, पत्थर, कागज, चीथड़ा जो भी मिलता है, बटोरते जाते हैं। जिस सुख को प्राप्त करने की भ्रान्ति में यह लूटखसोट प्रारम्भ की थी वह तो मिली नहीं, उसकी जगह मिली चिंता, परेशानी, लालच और असुरक्षा।

भीड़ में एक व्यक्ति साधक-सा दिखलाई पड़ा। जिज्ञासु उसके पास गया और अपना नया कड़ुवा अनुभव सुनाया। साधक बोला, "तुमने प्रश्न भी तो ऐसा कर दिया जिसका उन्तर न तो तुमको मालूम है, न मुझको। हम इनसे इसी बात से भिन्न हैं। इस अंधी दौड़ को हमने व्यर्थ समझ लिया है। हम कहाँ से आए? क्यों आए? कैसे आए? ये प्रश्न तो पातंजलयोग के विद्यार्थी के लिए भी उन्तर देने कठिन हैं। हाँ, कहा जा रहा है इसका उन्तर तो मुझे समझ में आ रहा है। ये पाँच भौतिक पदार्थों में आसक्त हैं। इनके जीवन का यही ध्येय है। पंचभूत निर्जीव हैं। ये उन्हीं पंचभूतों में सम्मिलित होने अर्थात् मृत्यु का आलिंगन करने को जा रहे हैं। इनके जीवन में और कोई लक्ष्य नहीं। कोई जमीन, कोई मकान, कोई शक्ति के पीछे पागल है। इन पदार्थों में क्षणिक सुख का आभास अवश्य मिलता है। क्योंकि इनमें भी तो उस "परम चेतन आदि मूल आनन्द स्वरूप सन्ता" का निवास है। जिज्ञासु की जिज्ञासा साधक की इन ज्ञानभरी बातों को सुनकर और भी तीव्र होगई। उसने पूछा "यह ऊलजलूल जमा करने की प्रवृन्ति मनुष्य जीवन में कहाँ से प्रवृन्त हुई, और इसका प्रतिपक्ष क्या है?" साधक ने कहा, "सबसे पहले माता-पिता ने और फिर समाज ने इस वृन्ति का पोषण किया और फिर बाद में प्रचार किया। वस्तुतः इसके प्रचार की तो आवश्यकता भी नहीं। यह तो छूत की बीमारी की तरह फैलने वाली प्रवृन्ति है। जीवात्मा के साथ वासना का अनादि संयोग है। ऐसा ऋषियों ने कहा है। यह एक जानने योग्य प्रश्न है कि वासना की उत्पन्ति कहाँ से होगई? जीवात्मा सत् और चेतना है। परन्तु उसमें आनन्द का अंश नहीं। इस अनन्त काल में प्रत्येक जीवात्मा के सामने ऐसे क्षण आ जाते हैं जो कि किसी भी कारण से अथवा बिना कारण के भी वह प्राकृतिक विषयों से असम्बद्ध हो जाते है। उस शून्य काल में उसकी स्थिति ऐसी होती है कि स्वयं प्रकाश-दशा में वह अपने भीतर व्याप्त परम चेतना की उपस्थिति का आभास प्राप्त कर लेता है। इस क्षण में उसको जो अनुभव होता है उसका नाम है आनन्द। इस अनुभव की प्रगाढ़ता इतनी तीव्र होती है कि जीवात्मा उसको भुला नहीं सकता। वासना पीडित जीवात्मा भोग योनियों में से गुजरता हुआ और अन्त में मनुष्य योनि में आकर भी उस आनन्द की छाया को तलाश करता रहता है। पंचभूतात्मक संसार के पदार्थों से घिरा हुआ उन्हीं पदार्थों में उस आनन्द की छाया सुख की तलाश करता है। सुख मिलता भी है, यदि वह स्थिर हो जाय तो जीवात्मा की भटकन समाप्त हो जाय परन्तु प्रकृति त्रिगुणात्मक है। उसमें सुख है, तो सुख के साथ दुःख अवश्य है। मनुष्य अधिक सुख

पाने के लिए अधिक मात्रा में प्राकृतिक पदार्थों का संग्रह करता जाता है। यह संग्रह जितना भारी होता जाता है सुख के साथ दु:ख की मात्रा भी बढ़ती जाती है। इस ही का नाम संसार है। ये संसारी प्राण आकृति में तो मनुष्य हैं परन्तु मनुष्य तो मननशील प्राणी का नाम है। ये लोग मूर्च्छित अवस्था में हैं। भविष्य की स्वर्णिम आशाओं से बंधे हुए पशु की तरह चींखे चले जा रहे हैं। इस मूर्च्छा की स्थिति में इनका विवेक काम नहीं कर रहा । चाहिए तो यह था कि बालकपन के खिलौने समझ बढ़ने के साथ जवानी में छूट गए थे, यदि वही समझ आगे बढ़ती जाती तो जवानी में जिन वस्तुओं में आकर्षण था, प्रौढ़ावस्था में उनका आकर्षण समाप्त हो जाता। परन्तु ऐसा होता नहीं। समझदारी का प्रभाव केवल आकर्षण का केन्द्र बलदने तक सीमित रहा। स्वयं आकर्षण के प्रतीक उसका कोई प्रभाव न था। प्राकृतिक पदार्थों में आकर्षण का नाम ही विषयासक्ति है। समझदारी का उन्तम परिणाम तो यह होना चाहिए था कि **'विषयान् विषवत् त्यज'** । सांसारिक पदार्थों के प्रलोभनों को विष समान समझ कर उनका सर्वथा परित्याग कर देना।

परन्तु देखते क्या हैं, कि आयु बढ़ने के साथ वासनाएँ प्रचण्डतर होती जाती हैं। प्राकृतिक नियमों के अनुसार इन्द्रियों की अकर्मण्यता के साथ-साथ उनके प्रति तृष्णा भी कम हो जानी चाहिए। परन्तु यह समझदारी विपरीत दिशा में ले जाती है। संग्रह में अभी कमी है। संग्रह की मात्रा बढ़ जाय तो चिन्ता और परेशानी में कमी हो जाएगी।

एक सेठ का नौकर दूध लाता था। दूध में आधा पानी होता था। एक और नौकर उसकी निगरानी पर रख दिया । दूध में तीन पाव पानी होगया । एक नौकर निगरानी के लिए और रखा। शुद्ध पानी आने लगा। चाहिए था कि सेठ जी स्वयं कष्ट करके दूध ले आते। समझदारी सीधे रास्ते पर चल पड़ी तो जीवन भर की कमाई छोड़ कर उन्तरकाशी चले गए। सांसारिक पदार्थों से विच्छेद करने के तो अनेक कारण हो सकते हैं- पत्नी कर्कशा हो, पुत्र बेकाबू हो, न्यायालय में हार जायं, दुकान का दिवाला निकल जाय - इन कारणों से घर-द्वार की जिम्मेदारी छोड़ने वानों से यी तो सारे तीर्थस्थान, कषाय वस्त्रधारी साधुओं से भरे पड़े हैं। परिस्थितियों के अनुकूल होते ही इनका क्षणिक **"श्मशान वैराग्य"** समाप्त हो जाएगा। इनका अपरिग्रह साजो-सामान का परित्याग वास्तविक नहीं, टिकाऊ नहीं। वास्तविक वैराग्य तो संसार के लम्बे अनुभव से, विषयों से, अनासक्ति से जो कि विषयो में दोष दर्शन के द्वारा ही उत्पन्न होती है, और सांसारिक सुख की अपेक्षा अधिक प्रीतिकर प्रतीत होने वाले आनन्द की झलक मिल जाने पर विषयों में वास्तविक वैराग्य की संभावना हो सकती है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए भूत और भविष्य में रमण करने वाली वृत्ति का पूर्ण रूप से निरोध (समाप्ति) आवश्यक है। अर्थात् स्थूल प्राकृतिक वस्तुओं की अपेक्षा स्मृति में संचित प्रीति-अप्रीतिकर विचार भविष्य में घटित होने वाली योजनाओं का जाल, मंतव्य, सिद्धान्त,

वाले, मिलने वाले रंगीन ईंट-पत्थरों को जमा किये जा रहे हैं। गठरी भारी होती जा रही है। साँस फूल गई है, पाँव लड़खड़ा गए हैं, फिर भी कंकड, पत्थर, कागज, चीथड़ा जो भी मिलता है, बटोरते जाते हैं। जिस सुख को प्राप्त करने की भ्रान्ति में यह लूटखसोट प्रारम्भ की थी वह तो मिली नहीं, उसकी जगह मिली चिंता, परेशानी, लालच और असुरक्षा।

भीड़ में एक व्यक्ति साधक-सा दिखलाई पड़ा। जिज्ञासु उसके पास गया और अपना नया कड़ुवा अनुभव सुनाया। साधक बोला, "तुमने प्रश्न भी तो ऐसा कर दिया जिसका उत्तर न तो तुमको मालूम है, न मुझको। हम इनसे इसी बात से भिन्न हैं। इस अंधी दौड़ को हमने व्यर्थ समझ लिया है। हम कहाँ से आए? क्यों आए? कैसे आए? ये प्रश्न तो पातंजलयोग के विद्यार्थी के लिए भी उत्तर देने कठिन हैं। हाँ, कहा जा रहा है इसका उत्तर तो मुझे समझ में आ रहा है। ये पाँच भौतिक पदार्थों में आसक्त हैं। इनके जीवन का यही ध्येय है। पंचभूत निर्जीव हैं। ये उन्हीं पंचभूतों में सम्मिलित होने अर्थात् मृत्यु का आलिंगन करने को जा रहे हैं। इनके जीवन में और कोई लक्ष्य नहीं। कोई जमीन, कोई मकान, कोई शक्ति के पीछे पागल है। इन पदार्थों में क्षणिक सुख का आभास अवश्य मिलता है। क्योंकि इनमें भी तो उस "परम चेतन आदि मूल आनन्द स्वरूप सत्ता" का निवास है। जिज्ञासु की जिज्ञासा साधक की इन ज्ञानभरी बातों को सुनकर और भी तीव्र होगई। उसने पूछा "यह ऊलजलूल जमा करने की प्रवृत्ति मनुष्य जीवन में कहाँ से प्रवृत्त हुई, और इसका प्रतिपक्ष क्या है?" साधक ने कहा, "सबसे पहले माता-पिता ने और फिर समाज ने इस वृत्ति का पोषण किया और फिर बाद में प्रचार किया। वस्तुतः इसके प्रचार की तो आवश्यकता भी नहीं। यह तो छूत की बीमारी की तरह फैलने वाली प्रवृत्ति है। जीवात्मा के साथ वासना का अनादि संयोग है। ऐसा ऋषियों ने कहा है। यह एक जानने योग्य प्रश्न है कि वासना की उत्पत्ति कहाँ से होगई? जीवात्मा सत् और चेतना है। परन्तु उसमें आनन्द का अंश नहीं। इस अनन्त काल में प्रत्येक जीवात्मा के सामने ऐसे क्षण आ जाते हैं जो कि किसी भी कारण से अथवा बिना कारण के भी वह प्राकृतिक विषयों से असम्बद्ध हो जाते है। उस शून्य काल में उसकी स्थिति ऐसी होती है कि स्वयं प्रकाश-दशा में वह अपने भीतर व्याप्त परम चेतना की उपस्थिति का आभास प्राप्त कर लेता है। इस क्षण में उसको जो अनुभव होता है उसका नाम है आनन्द। इस अनुभव की प्रगाढ़ता इतनी तीव्र होती है कि जीवात्मा उसको भुला नहीं सकता। वासना पीडित जीवात्मा भोग योनियों में से गुजरता हुआ और अन्त में मनुष्य योनि में आकर भी उस आनन्द की छाया को तलाश करता रहता है। पंचभूतात्मक संसार के पदार्थों से घिरा हुआ उन्हीं पदार्थों में उस आनन्द की छाया सुख की तलाश करता है। सुख मिलता भी है, यदि वह स्थिर हो जाय तो जीवात्मा की भटकन समाप्त हो जाय परन्तु प्रकृति त्रिगुणात्मक है। उसमें सुख है, तो सुख के साथ दुःख अवश्य है। मनुष्य अधिक सुख

पाने के लिए अधिक मात्रा में प्राकृतिक पदार्थों का संग्रह करता जाता है। यह संग्रह जितना भारी होता जाता है सुख के साथ दुःख की मात्रा भी बढ़ती जाती है। इस ही का नाम संसार है। ये संसारी प्राण आकृति में तो मनुष्य हैं परन्तु मनुष्य तो मननशील प्राणी का नाम है। ये लोग मूर्च्छित अवस्था में हैं। भविष्य की स्वर्णिम आशाओं से बंधे हुए पशु की तरह चींखे चले जा रहे हैं। इस मूर्च्छा की स्थिति में इनका विवेक काम नहीं कर रहा । चाहिए तो यह था कि बालकपन के खिलौने समझ बढ़ने के साथ जवानी में छूट गए थे, यदि वही समझ आगे बढ़ती जाती तो जवानी में जिन वस्तुओं में आकर्षण था, प्रौढ़ावस्था में उनका आकर्षण समाप्त हो जाता। परन्तु ऐसा होता नहीं। समझदारी का प्रभाव केवल आकर्षण का केन्द्र बलदने तक सीमित रहा। स्वयं आकर्षण के प्रतीक उसका कोई प्रभाव न था। प्राकृतिक पदार्थों में आकर्षण का नाम ही विषयासक्ति है। समझदारी का उत्तम परिणाम तो यह होना चाहिए था कि **'विषयान् विषवत् त्यज'** । सांसारिक पदार्थों के प्रलोभनों को विष समान समझ कर उनका सर्वथा परित्याग कर देना।

परन्तु देखते क्या हैं, कि आयु बढ़ने के साथ वासनाएँ प्रचण्डतर होती जाती हैं। प्राकृतिक नियमों के अनुसार इन्द्रियों की अकर्मण्यता के साथ-साथ उनके प्रति तृष्णा भी कम हो जानी चाहिए। परन्तु यह समझदारी विपरीत दिशा में ले जाती है। संग्रह में अभी कमी है। संग्रह की मात्रा बढ़ जाय तो चिन्ता और परेशानी में कमी हो जाएगी।

एक सेठ का नौकर दूध लाता था। दूध में आधा पानी होता था। एक और नौकर उसकी निगरानी पर रख दिया । दूध में तीन पाव पानी होगया । एक नौकर निगरानी के लिए और रखा। शुद्ध पानी आने लगा। चाहिए था कि सेठ जी स्वयं कष्ट करके दूध ले आते। समझदारी सीधे रास्ते पर चल पड़ी तो जीवन भर की कमाई छोड़ कर उत्तरकाशी चले गए। सांसारिक पदार्थों से विच्छेद करने के तो अनेक कारण हो सकते हैं- पत्नी कर्कशा हो, पुत्र बेकाबू हो, न्यायालय में हार जायं, दुकान का दिवाला निकल जाय - इन कारणों से घर-द्वार की जिम्मेदारी छोड़ने वानों से यी तो सारे तीर्थस्थान, कषाय वस्त्रधारी साधुओं से भरे पड़े हैं। परिस्थितियों के अनुकूल होते ही इनका क्षणिक **"श्मशान वैराग्य"** समाप्त हो जाएगा। इनका अपरिग्रह साजो-सामान का परित्याग वास्तविक नहीं, टिकाऊ नहीं। वास्तविक वैराग्य तो संसार के लम्बे अनुभव से, विषयों से, अनासक्ति से जो कि विषयो में दोष दर्शन के द्वारा ही उत्पन्न होती है, और सांसारिक सुख की अपेक्षा अधिक प्रीतिकर प्रतीत होने वाले आनन्द की झलक मिल जाने पर विषयों में वास्तविक वैराग्य की संभावना हो सकती है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए भूत और भविष्य में रमण करने वाली वृत्ति का पूर्ण रूप से निरोध (समाप्ति) आवश्यक है। अर्थात् स्थूल प्राकृतिक वस्तुओं की अपेक्षा स्मृति में संचित प्रीति-अप्रीतिकर विचार भविष्य में घटित होने वाली योजनाओं का जाल, मंतव्य, सिद्धान्त,

पक्ष, प्रतिपक्ष, इन सब कों छोड़ना होगा। जब अभ्यासवश चिन्त इन संस्कारों से सर्वथा रिक्त होगा, तब चेतना का आवरण उसी तरह विगलित हो जाएगा जैसे बरसाती बादलों के हट जाने पर आकाश स्वच्छ हो जाता है। चेतना अब विषयोन्मुख नहीं उसका व्यय विषयों के ज्ञान संग्रह में व्यय नहीं हो रहा। अब वह उस टार्च के सदृश है जिसके वल्ब का प्रकाश इधर-उधर फैलने के स्थान पर 'लेजर-बीम' की तरह केन्द्रित होकर अत्यधिक प्रभावशाली हो गया है, इस स्थिति में वह साधक अपरिग्रही हो जाता है।

''''''''''''

ध्यान

''''''''''

ध्यान शब्द पातंजल योग में सबसे पहले उपयुक्त हुआ प्रतीत होता है। परन्तु 'पातंजलयोगसाधना' पतंजलि मुनि की प्रवृत्ति नहीं। जैसे वैदिक भाषा को अधिक सुबोध बनाने के प्रयत्न दसियों-हजारों वर्षो से चल रहे थे, अनेक विद्वानों ने इस दिशा मे प्रयत्न किया, अनेक व्याकरण बनें, अन्त में पाणिनि मुनि का व्याकरण अष्टाध्यायी प्रचलित हो गया। पाणिनि मुनि का सयम व्याकरण की उत्पत्ति का समय नहीं कहा जासकता । इसी तरह पातंजलयोग में वहित **'ध्यान'** का प्रारम्भिक समय भी पतंजलि मुनि का समकालीन नहीं कहा जा सकता। हजारों वर्ष पहले से पूर्वज ऋषि-मुनियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों और शब्दों में प्रतिपादित इस प्रक्रिया को अन्त में पतंजलि मुनि के इस रूप में शब्दबद्ध किया । उसको ही विद्वानों ने सर्व सम्मति से 'ध्यान' पर प्रमाणिक मान लिया। जैसा कि प्रायः होता है, शब्द तो खुले कान वाले को सुनाई पड़ ही जाते हैं। अधिक भाग्यशालियों को उसका प्रचलित अर्थ भी समझ में आ जाता है। परन्तु उसका गूढ़ार्थ समझना कठिन काम हो जाता है। 'ध्यान' शब्द के समझने में भी लगभग यही स्थिति स्पष्ट होती है।

उपनिषदों में इस 'ध्यान' की परिभाषा भिन्न-भिन्न शब्दों में है। सांख्य दर्शन के प्रणेत कपिलाचार्य ने जो परिभाषा की है उसके शब्द पातंजल योगदर्शन की ध्यान की परिभाषा के शब्दों से ही नहीं, प्रचलित अर्थों में भी सर्वथा भिन्न है। यह 'ध्यान' केवल भारत में ही नहीं, भारत के वैदिक विद्वानों से बौद्ध दर्शनिकों में बौद्ध प्रचारकों द्वारा, चीन में 'फेन' में रूपान्तरित होकर चीन सये जापान में 'जेन' में रूपान्तरित होकर आज अमेरिका में 'जेन' के रूप में प्रचलित है। देश, काल और शब्द के रूप में परिवर्तन होने के साथ ध्यान के स्वरूप में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। इसीलिए प्रायः सारा संसार 'ध्यान' के लिए उत्सुक है। ध्यान का अभिप्राय समझने के लिए 'ध्यान' की स्थिति को प्राप्त करना अभीष्ट है, अथवा 'ध्यान' को छोड़ना अभीष्ट है। 'ध्यान' एक प्रक्रिया है या एक स्थिति है। यह विवाद ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन है। संभवतः **कपिलाचार्य** ने अपना अन्तिम निर्णय 'ध्यान' की परिभाषा करते हुए कह दिया **"ध्यान निर्विषय मनः"** ध्यान एक स्थिति है जिसमें मन निर्विषय हो जाता है। साधारणतया यह कहना कि मन निर्विषय हो जाय असंगत-सा प्रतीत होता है। यह तो ऐसा ही होगया कि प्रकाशहीन अग्नि, मन तो विषयासक्ति का ही स्वरूप है, या विषयासक्ति ही मन का दूसरा नाम है। सोते-जागते कभी हम

निर्विषय नहीं होते। सोते हुए अन्तःकरण निरंतर काम करता है। जागते में अन्तःकरण के साथ बहिरंग इन्द्रियां भी काम करती हैं। यह काम बन्द कभी नहीं होता । इस स्थल पर ऐसा प्रतीत होता है कि ध्यान को समझ लेने के लिए मन को भी समझ लेना आवश्यक है।

क्षण और स्वरूप में भेद होता है। **गौतमाचार्य** ने कहा **"युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिः मनसोलिंगम्"**। एक साथ दो ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन की सत्ता का चिन्ह है । यह लक्षण हुआ। मन की सत्ता का परिचायक तो हुआ, स्वयं मन का स्वरूप बतलाने वाला नहीं वाला नहीं। इच्छा द्वेष आदि आत्मा की सत्ता का परिचायक तो हुआ। स्वयं मन का स्वरूप बतलाने वाला नहीं। इच्छा द्वेष आदि आत्मा की सत्ता के परिचायक हैं, लिंग है, लक्षण है, आत्मा के स्वरूप को दर्शाने वाले नहीं। मन की सत्ता एक उत्तम उदाहरण मुण्डक उपनिषद् का वाक्य है- **"आत्मानं रथिनं मनः प्रग्रहश्च"**। बुद्धि और इन्द्रियों का सम्बन्ध जोड़ने वाला माध्यम अथवा सूक्ष्म शरीर से चेतित प्रेरणा को इन्द्रियों तक ले·जाने वाला माध्यम उसी प्रकार से मन है जैसे सारथि की प्रेरणा को घोड़ों तक पहुँचाने वाली रशना प्रग्रह या लगाम होती है। विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए सूर्य और उससे उत्पन्न होने वाले प्रकाश को लीजिए। अपनी भूमि से करोड़ों मील दूर स्थित सूर्य अपनी भूमि से लाखों गुणा बढ़ा हुआ एक दहकता हुआ अग्निकुण्ड है। इसमें से उठती लपटें तीन लाख मील ऊंची होती हैं। इसका तापमान दो लाख सेंटीग्रेड है, उससे निकलने वाला प्रकाश पौने दो लाख मील प्रति सैकण्ड के हिसाब से उसके अपग्रही तक पहुँचती है। इन प्रकाश की किरणों को ले जाने वाला माध्यम कौन है। संभवतः यह माध्यम महत् तत्व है। सृष्टि रचना के प्रारम्भ में प्रसुप्त अवस्था में पड़े सत्व, रज, तम जो कि ऊर्जा रूप में विद्यमान थे, यदि मूल सत्ता के ईक्षण मात्र से सृष्टि के उपादान महत् तत्व में रूपान्तरित हो गए। ऊर्जा से रूपान्तरित महत् तत्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व होना चाहिए। इस महत् तत्व को समष्टि चित्त कहना अधिक संगत होगा। इसका प्रथम परिणाम **'व्यष्टिचित्त'** जिसको अहंकार इसलिए कहा गया क्योंकि इसी से व्यक्ति का निर्माण होकर जीवात्मा के सान्निध्य से सृष्टि भोक्ता और भोग्य रूप में आगे बढ़ी व्यष्टि चित्त (अहंकार) महत् तत्व का परिणाम अथवा उसी का भौतिक अंश होने से मन भी अत्यन्त सूक्ष्म होना ही चाहिए। यही महत् तत्व प्रकाश और विद्युत् का भी वाहन हो सकता है। कोई दूसरा तत्व ऐसा गतिशील नहीं हो सकता जोकि विद्युत् को पौने दो लाख मील प्रति सैकण्ड के हिसाब से स्थानान्तरित कर दे। मनस्तत्व तो सयाक्षात् समष्टिचित्त (महत् तत्व) का ही एक अंश है। इसलिए उसके वेग की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। **"दूरं ज्योति संज्योति"** इस शिवसंकल्प सूक्त के वाक्य में मन की सूक्ष्मता और उसकी गति का ही संकेत है। यह मन बुद्धि और इन्द्रियों के बीच में वाहन का काम करता है। व्याकरण के भाष्यकार पतंजलि कहते हैं **"आत्माबुद्धाः समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया"** । आत्मा

की प्रेरणा से बुद्धि निश्चय करके मन को कर्म में नियुक्त करती है। इसी भाव को उपनिषद्कार ने इन शब्दो में कहा -

'बुद्धि तु सारथिं विद्धिमनः प्रग्रहमेव च ।'

बुद्धि और इन्द्रियों को सम्बद्ध करने वाले पदार्थ का नाम 'मन' है। आत्मा से चली चेतना बुद्धि को प्रेरणा मिलती है। बुद्धि मन को और मन इन्द्रियो को वापसी में इन्द्रिय विषय का ज्ञान प्राप्त करके मन को, मन बुद्धि या चित्त को दे देता है। अस्मित दोष के कारण जीवात्मा इस यज्ञान से उत्पन्न राग-द्वेष में प्रीति-अप्रीति या सुख-दुःख में ममत्व उत्पन्न कर लेता है। अपना समझ लेता है। अर्थात् सुखी-दुःखी होने लगता है। ज्ञानेन्द्रियों का काम पंचभूतों के विषयों का ज्ञान प्राप्त करना है। विषय इसलिए कहलाए कि मनुष्य इन्हीं में आसक्त होकर बुरी तरह बंध जाता है। विशेषण **"षिनन्ति - बघ्नन्ति' इति विषयाः"** - मन दिन-रात इन विषयों का वहन करने से एक वाहन मात्र (एक गाड़ी) है। लौकिक गाड़ियों की तरह यह भी आगे-पीछे चलती है। जब यह गाड़ी विषयोन्मुख होकर काम करती है तब जीवात्मा की अधोगति होती है। वह गुलामी में, दासता में बंध जाता है। जब इसकी गति विपरीत दिशा में होती है यह अन्तर्मुखी हाती है। तब भी स्मृति वृत्ति के द्वारा विषयासक्त होता है। वैराग्य अर्थात् विषयों में दोष दर्शन द्वारा जब विषयों के प्रति आकर्षण सर्वथा जाता रह जाता है, जब मन को विषयों का वाहन माना गया है तो प्रश्न होता है कि मन का वाहन क्या है? वास्तविकता ऐसी प्रतीत होती है कि चेतना के द्वारा कामनाओं का स्थानान्तरण मात्र मन का स्वरूप है। आत्मा की चेतना से चिन्तित बुद्धि कामनाओं की तृप्ति के लिए ऊर्जा को प्रेरित करती है । यह ऊर्जा इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण करके कामना की तृप्ति के लिए उसी मार्ग से उपार्जित ज्ञान को चित्त तक पहुँचा देती है। इस गमनागमन क्रिया को ही मन का स्वरूप समझना चाहिए। कामनाओं का उठना चेतना के मार्ग से विषय तक जाना प्रिय अप्रिय विषय का ज्ञान प्राप्त करके चित्त तक पहुँचा देना इन क्रियाओं में प्रमुखता विषयों की है। यदि विषय न हों तो आकर्षण न हो, और क्रिया का मूल ही नष्ट हो जाय। इस निर्विषय स्थिति का नाम 'ध्यान' है। आत्मा से प्रवाहित होती हुई चेतना का प्रवाह पूर्वतः प्रवाहित हो रहा है। अन्तर केवल इतना है चित्त में संचित, संस्कारों से उत्पन्न कामना उस प्रवाह पर सवार नहीं। कामना की सवारी चेतना पर एक बन्धन है, संसार है। कामना शून्य चेतना लोकोपकार के लिए भी प्रवृत्त हो सकती है और सिद्ध पुरुषों के सारे कर्म विषय वासना से रहित होकर लोकोपकार के लिए ऊर्जा (शक्ति/वीर्य) के उपयोग के उदाहरण हैं। अब इन सिद्ध पुरुषों के चित्त से प्रवाहित होने वाली चेतना विषयों से शून्य अर्थात् निर्विषय होती है। इसीलिए कह सकते हैं कि वह 'ध्यान'

की स्थिति में होते हैं, और कपिलाचार्य के ध्यान का लक्षण उन पर घटित होता है -

'ध्यानं निर्विषयं मनः।'

जिज्ञासु प्रश्न करता है - कि यदि ध्यान वह स्थिति है जिसमें कोई विषय न हो तो ध्यान लगेगा किस वस्तु पर ?

उत्तर - ध्यान को तो आप बचपन सेय लगाए आ रहे हैं। बचपन में खिलौनों और खेलों पर था, जवानी में विषयों में आसक्त रहा, प्रौढ़ावस्था में जवानी में संचित वस्तुओं और परिवार के सदस्यों की देखभाल में ध्यान लगा रहा, अब वानप्रस्थ आश्रम में भी ध्यान लगाने की चिन्ता कर रहे हैं। कामनाओं की पूर्ति के लिए परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न वस्तुओं में ध्यान लगा तो लिया अब कौन-सी वस्तु शेष है और उसको प्राप्त करने के लिए कितनी शक्ति शेष है? कि अब भी ध्यान लगाने के लिए विषय चाह रहे हैं?

जिज्ञासु - हम साधक अब पुत्र-पौत्र, धन-यश, भूमि-मकान आदि नहीं चाह रहे। हम तो अब मोक्ष आत्मा और परमात्मा का दर्शन चाहते हैं?

उत्तर - आप कितने समय से इन चाहों को पाने के लिए प्रयत्न में लगे हैं?

जिज्ञासु - मुझे तो यहाँ आए बारह वर्ष हो गए हैं।

उत्तर - आपको कुछ मिला ?

जिज्ञासु - मिला तो कुछ नहीं परन्तु प्रतिदिन दो घण्टे ध्यान करता हूँ। कभी न कभी (ध्यान) लग ही जाएगा। ऐसी आशा है। संसार आशा पर ही जीता है।

सिद्ध - संसार तो निःसंदेह आशा पर ही जीता है। परन्तु आशा पर जीने वालों का अन्त निराशा, सन्ताप, विषाद और दुःख में होता है।

"आशा हि परमं दुःखम्" - नैराश्यं परमं सुखम्।"

(आशा न करना नैराश्य से अभिप्रेत है।)

पचास-साठ वर्ष इसी आशा पिशाचिनी के पीछे दौड़ने के बाद भी आपको उसके स्वरूप से परिचय नहीं हुआ? कामनाओं की तृप्ति के लिए प्रयत्न करने वाला सफलता की आशा के लिए कामना करता है। प्रायः आशा के अनुसार फल कभी नहीं मिलता। यदि मिल भी जाता है तो

व्यक्ति पर लोभ सवार हो जाता है। आशा का दामन पकड़ कर चलने वाले को संसारी व्यक्ति कहते हैं। विगत पचास वर्षों में इस आशा की दासता के दुष्परिणाम भुगतने के बाद भी आप आशा लगा रहे हैं। फिर आशा किस वस्तु पाने की लगाई जा सकती है। मोक्ष कोई वस्तु नहीं, जिसको बड़े प्रयत्न से अथवा अधिक समय और ध्यान दे कर के प्राप्त किया जा सके। मोक्ष अथवा मुक्ति तो छुटकारे का नाम है। जन्म-मरण के चक्र से छुट जाने का नाम मुक्ति है। यदि परमात्मा पर ध्यान लगाना उस मुक्ति का साधन समझते हैं तो परमात्मा तो निर्गुण निराकार है। साधक उस पर ध्यान लगा ही नहीं सकता। निराकार पर ध्यान लगाने वाले की चेष्टा करने वाले को या तो निद्रा की शरण लेनी होगी या अपनी स्मृति में संचित संस्कारों के साथ खिलवाड़ करना होगा अर्थात् भूतकाल की घटनाए और भविष्य की योजनाएं 'ध्यान' का रूप धारण करेगी । सब ही ध्यान लगाने वालों की एक-सी ही अनुभूति है कि ध्यान तो लगता नहीं परन्तु ध्यान तो निश्चित लगता है। अन्तः करण में संचित संस्कारों पर लगता है। क्योंकि बाहर के साधनों को जो आपने बंद ही कर दिया है आँखें बंद हैं, ट्रांजिस्टर भी बंद है, कुटिया के द्वार भी बंद हैं, रसोई की गंध भी नहीं, ऐसी दशा में अन्तःकरण की स्मृति काम करती है।

जिज्ञासु - परमात्मा को सगुण भी तो कहते हैं। सगुण परमात्मा के द्वारा गुणी का परिज्ञान किया जा सकता है।

उत्तर - प्रश्न बड़ा गंभीर है। फिर भी प्रकरण संयगत संक्षिप्त उत्तर दिया जाना चाहिए। माण्डूक्य उपनिषद् में कहे गए एकमात्र 'अकार' के ध्यान से विराट् दूसरी मात्रा के ध्यान से हिरण्यगर्भ, तसरी मात्रा से ईश्वर - इन तीनों अवस्थाओं का ज्ञान होता है। ये तीनों रूप प्रकृति के संसर्ग से हैं। तुरीय शुद्ध रूप 'भर्ग' सर्वथा निर्गुण है। मुण्डक उपनिषद् में भी -

"ऋग्भिः मनुष्यलोकं यजुर्भिः अन्तरिक्षलोकं सामभिः ब्रह्मलोकम् ।"

अर्थात् गुणानुवाद से मनुष्यत्व लोकोपकारक कर्म करने सये देवलोक, उपासनासे ब्रह्मलोक की प्राप्ति बताई है। तीनों लोक संसारी हैं। एक मात्र तुरीय ब्रह्म के ध्यान से परम पद की प्राप्ति संभव है। तुरीय ब्रह्म (शुद्ध ब्रह्म) निर्गुण और निराकार है। उसका ध्यान हो भी नहीं सकता। इसलिए ध्यान लगाने का प्रयत्न विफल हो जाता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतन तत्व का साक्षात्कार ध्यान का विषय ही नहीं।

प्रश्न- तो आप कहना क्या चाहते हैं? सारा संसार ध्यान के पीछे पागल है। आपकी सम्मति में ध्यान लगा ही नहीं सकता।

उत्तर - यह बात नहीं है कि ध्यान लग नहीं सकता। ध्यान तो लगा हुआ है। परन्तु लगा हुआ है सगुण पदार्थ उसमें । परमात्मा लगा है तो उसके सबल रूप में, जिसकी विस्तार से विवेचना मुण्डक और माण्डूक्य में की गई है। परमात्मा में ध्यान लगाने वालों को पतंजलि मुनि के कथनानुसार गुणातीत अवस्था का लोभ तब तक न होगा जब तक साधक स्वयं गुणातीत होने का प्रयत्न नहीं करता। इस ही गुणातीत अवस्था का नाम ध्यान है। ध्यान नाम इसलिए है कि इसमें 'ध्यान' की ही प्रमुखता है। संसारी व्यक्तियों का मन स्थूल प्राकृतिक विषयों में आसक्त बहिर्मुख था उसको अन्तर्मुख करने का प्रयत्न होना चाहिए । विषयों में वैराग्य होने के बाद अन्तर्मुख होने की दशा में अन्तःकरण बड़े वेग से काम करेगा। पतंजलि ने इन स्थितियों के चार विभाग किये हैं जिससे साधक को आगे बढ़ने में कठिनाई न हो। सवितर्क-निर्वितर्क, सविचार-निर्विचार इन स्थितियों को समाधि में ही गिना है। क्योंकि इन स्थितियों में भी साधक 'समाहित चिन्त' हो जाता है। उसके मन में शंकाओं का उदय नहीं होता। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण सशंक रहता है। अपने भविष्य के सम्बन्ध में कोई भी निश्चय नहीं कर सकता...इत्यादि। इन चार श्रेणियों के बाद संस्कार शेष सम्प्रज्ञान समाधि है। अन्तर्मुख होने के बाद ही साधक की साधना का कठिन भाग पारम्भ होता है। संघर्ष का मार्ग दुनियादारी में तो किसी हद तक काम करता प्रतीत होता था - केवल प्रतीत ही होता था। यथार्थ में, अन्त में, संघर्ष वहां भी असफल ही होता है। अन्तर्मुखी साधक की अन्दर की यात्रा में संघर्ष को कोई स्थान नहीं।

जिज्ञासु पूछता है - फिर सफलता कैसे मिलेगी?

अन्तःकरण, विशेषतः मन तो भूत-भविष्य के विचारों का ताना-बनाने से रूकेगा नहीं। ऐसी स्थिति में निराकार परमात्मा का ध्यान तो एक कल्पना मात्र रह जाएगा । यदि किसी साकार और सगुण पदर्थ का ध्यान करते तो सफलता की संभावना तो होती। मन के साय संघर्ष भी नहीं करना, क्यांकि सघर्ष से ही उसको शक्ति प्राप्त होगी। राग में इतना आकर्षण नहीं जितना द्वेष में है। कहने को तो द्वेष में विकर्षण है परन्तु यथार्थ सत्य यह है कि जिसको भुलाना चाहो वही अधिक याद आता है। बन्दरों को भूलने के प्रयत्न करने वाले साधक के सारे शरीर पर बन्दर ही बन्दर चिपटे हुए थे। मन को संघर्ष द्वारा शांत करने का प्रयत्न साधक को अधिक अशांति में डाल देता है, यदि अनुभव उन सब साधकों का है जिन्होंने कठोर व्रत, उपवास आदि के द्वारा मन को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया था। साँप एक विजातीय पदार्थ है। उसको तो मार ही दिया जाएगा। परन्तु यदि पेट में फोड़ा हो जाय तो पेट को काट कर फेंका नहीं जाएगा। एक हाथ को दूसरे हाथ से लड़ाया नहीं जाता। मन भी हमारा एक उपकरण है। इसकी स्वेच्छाचारिता को

समझदारी के साथ दूर करना होगा । चित्त में संचित संस्कारों से प्रेरणा प्राप्त कर मन ने इन्द्रियों को उनके विषयों में प्रेरणा दी थी। इन्द्रियों के ज्ञान में अनुकूलता प्रतिकूलता को अनुभव किया बुद्धि ने। याद रहे बुद्धि और मन चारों एक हैं। बुद्धि के अनुभव के साथ तादात्म्य स्थापित किए जीवात्मा ने अपने को सुखी या दुखी समझ लिया। अज्ञान से उत्पन्न जीवात्मा की इस कमजोरी का लाभ उठाया मन ने। एक के बाद एक नई योजना बना कर आशाओं के रंग बिरंगे इन्द्र धनुष दिखला कर जीवात्मा को खूब भटकाया। जब तक जीवात्मा चित्त के साथ तादात्म्य नहीं छोड़ता उसको कल्याण नहीं । मन मेरा साधन है, मुझे उसकी जब आवश्यकता हो, वह उपस्थित हो, ठीक है। रात-दिन सोते जागते उपद्रव करना उचित नहीं। केवल एक तरीका है जीवात्मा मन के साथ तादात्म्य छोड़ दे। उसकी प्रसन्नता में प्रसन्न न हो। उसके रोने-धोने में सम्मिलित न हो। नेताजी झण्डा लेकरे नारे लगाते जा रहे हैं, ताली बजाने वाले कोई न हों, नेता जी चुप हो, गली में घुस जाएंगे। मन के अनुभूत प्रियाप्रिय का समर्थन करने वाला जब कोई न होगा तो बिना संघर्ष के मन शांत हो जाएगा । मन की शान्ति का अभिप्राय यह होगा कि विषयों में प्रवृत्ति रुक जाएगी । स्वयं इन्द्रियों का व्यापार निष्काम होने के कारण चेतना को तरंगित नहीं करता। इसलिए चेतना का प्रवाह शान्त और निस्तरंग होगा। **"प्रत्ययैकतानताध्यानम्"** यही स्थिति ध्यान है।

जिज्ञासु - कपिलाचार्य (सांख्यप्रणेता) का बतलाया ध्यान महर्षि पतंजलि के द्वारा बताये ध्यान से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। इनमें से आप किस परिभाषा को स्वीकार करते हैं?

उत्तर - परिभाषाओं के शब्दों में अंतर प्रतीत होता है। भाव दोनों का एक ही है। कपिलाचार्य कहते हैं जिस स्थिति में मन निर्विषय हो जाय उस स्थिति का नाम 'ध्यान' है। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि चेतना का प्रवाह प्रशांत अर्थात् निस्तरंग हो जाना ध्यान है। चेतना के प्रवाह पर विषयों की सवारी का नाम मन है। ध्यान में चेतना प्रवाह और विषय दोनों ही सम्मिलित हैं। कपिलाचार्य ने विषय के संबंध में कहा कि इनका पूरा निरोध होगया और पतंजलि मुनि ने निरोध परिणाम स्वरूप चेतना प्रवाह का निस्तरंग होना बतलाया है। दोनों ने ध्यान को दो दृष्टिकोणों से देख कर उसका शुद्धतम स्वरूप साधकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया केवल निर्विषय हो जाने के बाद चेतना की स्थिति क्या होगी यह जानना शेष था। पतंजलि मुनि के शिष्यों ने प्रश्न किया होगा, मुनि ने समाधान दे दिया कि चेतना का प्रवाह निस्तरंग शांत हो जाएगा। प्रभंजन के अभाव में नदी का प्रवाह दर्पण की तरह निर्मल और स्वच्छ हो जाता है। स्वच्छ आकाश में ही सूर्य अपनी पूरी ज्योति के साथ जगमगाता है। अन्तः करण द्वारा संगृहीत विषयों के आवरण से चेतना केन्द्रीभूत होकर अपने को और अपने भीतर स्थित अपने परम सखा परम चेतन परमानंदस्वरूप देवाधिदेव महर्षि की उपस्थिति का आभास पा लेता है।

....

(3)

स्वास्थ्य

स्वस्थ होने की दशा का नाम 'स्वास्थ्य' है। जब हम किसी से प्रश्न करते हैं **'आपका स्वास्थ्य कैसा है'** तो उसका गूढ़ार्थ यह है कि आप स्वस्थ तो हैं? यह दो अक्षरों वाला छोटा-सा शब्द, केवल निरोग शरीर का वाचक बन गया है। **'स्व'** का अर्थ है 'अपना' और **'स्थ'** का अर्थ है 'ठहरना' बैठना। स्वस्थ का अर्थ हुआ अपने में स्थित। अपने का अर्थ अपनी चेतना।

रोगी शरीर वाला साधक, जिसके पेट में दर्द है उसकी चेतना के पेट के ही भीतर रहेगी। जब वह सन्ध्या करने बैठेगा, उसकी चेतना निरन्तर पेट की तरफ जाएगी। यदि आप बलात् उसको वहां से हटाकर **'प्राचीदिगग्नि....'** आदि पर लगाना चाहें, तो भूखे नटखट बालक की तरह पेट गुड़गुड़ा कर उसको अपने पास बुला लेगा। अकेला पेट ही नहीं, आँख, नाक, कान, कमर, घुटना, शरीर के सब ही अंग, जब तक पीड़ा का अनुभंव करेंगे, चेतना को केन्द्रित नहीं होने देंगे। सारांश यह है कि रोगी शरीर के साथ, साधक साधना नहीं कर सकता। इसके बाद, रोग दूर हो जाने क के बाद भी, उसको तब तक स्वस्थ नहीं कह सकते, जब तक उसका शरीर साधना के योग्य न हो जाय। सन्निपात ज्वर का रोगी इक्कीस दिन बाद, ज्वर का वेग शान्त हो जाते ही, स्वस्थ नहीं कहलाएगा। रोगग्रस्त साधक को स्वस्थ होने के लिए, चतुर चिकित्सक का आश्रय लेना ही होगा। साधारणतया स्वस्थ साधक को भी अपने आहार-विहार के औचित्य पर निरन्तर ध्यान देना होगा। ऋतु परिवर्तन के अनुसार खान-पान आदि दिन-चर्या को व्यवस्थित करना होगा।

ब्रह्मयज्ञ के प्रारम्भ में ही इन्द्रियों का परिगणन भी इसी आशय से किया गया है । ब्रह्मयज्ञ में सफलता की कामना करने वाले साधक को, आँख, नाक, कान आदि शरीर के सब ही अंगों को स्वस्थ और बलवान् बनाना चाहिए। ब्रह्मयुग के अनुष्ठान में स्वस्थ आँख देखने का काम तो नहीं देगी, परन्तु दुःखती आँख ब्रह्मयज्ञ में, विहित मन्त्रों के अर्थ विचारने में बाधा अवश्य उत्पन्न करेगी। साधक के लिए स्वस्थ शरीर का अभिप्राय यह है, शरीर के सभी अंग स्वस्थ हों, और स्वस्थ होने की परीक्षा यह होगी कि उनकी सत्ता की अनुभूति न हो।

एक स्वस्थ नौजवान को कभी यह कहते सुना होगा, या पाठक ने कभी तो अपने यौवन में इस स्वास्थ्य की दशा का अनुभव किया होगा, जबकि अकस्मात मुख से यह शब्द निकल जाते हैं "आज तो मैं अपने को हवा की तरह हलका अनुभव कर रहा हूँ' । स्वास्थ्य की दशा में चेतना को उसकी सत्ता का अनुभव ही नहीं होना चाहिए। अपनी टांग से जब हम कहते हैं कि चलो, तब ही वह चलती है, उसको तब ही चलना चाहिए। यदि बिना हमारी प्रेरणा के वह हिलना प्रारम्भ कर दे तो हम उसको बीमार कहेंगे। वह रुग्ण होगी, उसके कम्पवान की चिकित्सा करवानी होगी। जब साधक संध्या करने के लिए अन्तर्मुख होकर एकान्त में बैठता है, जब उसको अपने स्थूल शरीर की उपस्थिति की कोई आवश्यकता नहीं होती। यह प्राकृतिक विधान है कि स्वस्थ शरीर की चेतना को उसकी उपस्थिति का भी ज्ञान हो। इसी आशय को लेकर 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में योग प्रवृत्ति के योग्य स्थूल शरीर के सम्बन्ध में **"लघुत्वमारोग्यम्"** ये दो विशेषण दिये हैं। साधना प्रारम्भ करने के लिए, उसकी तैयारी के रूप में, अपने शारीरिक स्वास्थ्य पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए । यदि इस साठ सेर के शरीर में एक ग्रेन का भी फोड़ा विद्यमान होगा तो अन्तर्मुख होने का साधक का सारा प्रयत्न निष्फल हो जाएगा। चेतना अन्तर्मुख होने के स्थान पर उसी एक ग्रेन के फोड़े पर केन्द्रित होगी। इसके अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक साधक का अपना अनुभव भी इसी सचाई का समर्थक है। शारीरिक स्वास्थ्य के बाद मानसिक स्वास्थ्य पर भी ध्यान देना चाहिए। स्वास्थ्य का एक लक्षण हमको मिल गया है कि उसकी सत्ता का मालिक को अनुभव न हो। मन भी अन्तश्चेतना का जीवात्मा का एक उपकरण है। शरीर के स्थूल उपकरणों - इन्द्रिय आदि का स्वस्थ होना - जितना आवश्यक है, मन का स्वस्थ होना उससे सहस्र गुणां अधिक आवश्यक है। स्वस्थ मन की भी वही पहचान है जो कि स्वस्थ शरीर की थी। हम जब आदेश दें, वह तब ही काम करे और शेष अवस्था में, ऐसा निश्चय हो, कि उसकी उपस्थिति का आभास भी न हो।

साधक को अपनी परम साधना 'ध्यान' में आने के लिए अपनी चेतना को निस्तरंग, स्वच्छ दर्पण की तरह शान्त करना है। यह मन ही है जो कि क्षण-प्रतिक्षण विचारों का संग्रह और विसर्जन करता रहता है। यह एक उस वृक्ष की तरह है जिस पर स्वेच्छा से पक्षी आकर बैठते और स्वेच्छा से उड़ भी जाते हैं। यदि इतना ही होता तो साधारण बात थी, परन्तु मन उन विषयों में से कुछ-एक पकड़ लेता है, अपने कोटरों में उनके लिए स्थान बना देता है, वह अण्डे बच्चे देता है। उनको खाने के लिए सांप और नेवले जैसे उपद्रवी प्राणी आते हैं। इस तरह वह वृक्ष एक आश्रयस्थल के स्थान एक दुर्घटनाग्रस्थ इकाई बन जाता है। मन की यह स्थिति हम सब ही साधकों की है।

प्रात:विचार, सायं विचार, रात्रि में भी स्वप्नों के रूप में विचार, इन विचारों के आक्रमण से चेतन प्रतिक्षण उद्विग्न रहती है। साधक चाहता है 'ध्यान' की स्थिति में बैठना और बिना अनुमति

या आज्ञा के मन विचार रूपी पतंगे उड़ाने में व्यस्त है। साधक कहता है कि वातावरण शान्त हो, नटखट मन कहता है - कि मैं तो रंग बिरंगी पतंगे उड़ाऊंगा।

'कहु रहीम कैसे निभे केर वेर को संग ।"

अस्वस्थ रुग्ण चंचल मन साधक की साधना का सब से बड़ा प्रतिद्वन्द्वी है। जब तक शरीर के इस शक्तिशाली सूक्ष्मभाग को हम स्वस्थ न कर लें, चेतना को केन्द्रित करने में सर्वथा असफल रहेगा। मन को स्वस्थ करने का एक ही उपाय, जिसका निर्देश 'ध्यान' प्रकरण में किया गया है, कि चेतना का केन्द्र मन की उछल-कूद की तरफ दिलचस्पी लेना बन्द कर दे। न तो उसकी उछल-कूद को देख कर तालियां बजाएं और न अपनी अप्रसन्नताा प्रकट करें। उसकी तरफ से उदासीन वृन्ति धारण कर लें। अस्मिता दोष से जिस में जीवात्मा ने अपने उपकरणों - शरीर इन्द्रियादि - के साथ एकात्मता (तादात्म्य) स्थापित कर ली थी, अपने को पृथक् कर ले। अनादि काल से अस्मिता दोष से ग्रस्त जीवात्मा, चिन्त के अनुकूल और प्रतिकूल अनुभवों को अपना समझता चला आ रहा है। यदि वह इस स्थिति में परिवर्तन कर के उदासीन वृन्ति धारण कर ले तो स्वाभाविक है कि मन की चंचलता में कमी आ जाएगी।

अभिनेता रंगमंच पर नृत्य कर रहा है, तालियां बज रही हैं। दर्शकों की **'वन्समोर'** की ध्वनि से, रंगशाला गुंजायमान हो रही है, अभिनेता के नृत्य में जान पड़ जाएगी । और यदि दर्शक उठ कर चले जायं, बचे-खुचे दो-चार जंभाईयां ले रहे हों तो नर्तक का नृत्य धीमा होते-होते बंद हो जाएगा। मन की की भी ठीक यही दशा है। जीवात्मा की उदासीनता मन की चंचलता पर एक ब्रेक बन जाएगा। शान्त मन ही स्वस्थ मन है।

मानसिक स्वास्थ्य का लाभ करने के बाद अब 'स्व' के स्वास्थ्य का भी विचार करना चाहिए। अभी तक तो अन्तश्चेतना जीवात्मा के उपकरणों, साधनों के स्वास्थ्य का विचार किया गया। शरीर और मन के अस्वस्थ रहते निर्विषय मन की स्थिति उपलब्ध करना असंभव बात है। यदि जीवात्मा स्वयं मूर्च्छित अथवा निद्रित अवस्था में हो तो स्वस्थ शरीर और मन दोनों मिल कर भी ध्यान की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकते । चिन्त के संग्रहालय में संचित जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार अनुकूल परिस्थिति की प्रतीक्षा में चुप पड़े रहते हैं। काल तो लोक व्यवहार को सिद्ध करने के लिए मन की अपनी कल्पना है। वास्तविक काल तो वर्तमान क्षण है। इस क्षण के वामपार्श्व में भूत और दक्षिण में भविष्य निवास करता है। भत तो है भी बीता हुआ, भविष्य की अभी सन्ता ही नहीं है। संस्कार इन की चिन्ता नहीं करते। हजारों वर्ष एक घड़ी की तरह बिता

सकते हैं। इन संस्कारों में बहुमूल्य विचार अंधविश्वास, अंधश्रद्धा, सिद्धान्त, मान्यताएं, कल्पनाएं सभी सम्मिलित हैं। इनके आवरण में जीवात्मा निद्रित अवस्था में है। इन सबका परित्याग कठिन तो अवश्य प्रतीत होता है परन्तु वैराग्य से, वास्तविक उदासीनता से इन सब का नाश हो जाता है। इस आवरण के हटने का तात्पर्य यह है, साधक सच्चा संन्यासी बन गया है। उसे किसी भी प्रकार के बंधन से प्रेम नहीं। शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक तीनों की दासता से मुक्त है। इनकी दासता से मुक्ति का नाम **'स्वास्थ्य'** है । अब जीवात्मा इनमें से किसी में भी दिलचस्पी नहीं लेता। इनके अस्वस्थ होने पर भी चेतना दौड़ कर इनकी सेवा में उपस्थित नहीं होती। अब चेतना स्वकेन्द्रित है, यही दशा परम स्वास्थ्य की है।

....

(4)

श्रद्धा

श्रद्धा शब्द के अर्थ ज्ञान के बिना भी साधकों को उसमें बड़ी श्रद्धा है। श्रद्धा शब्दार्थ जान लेने पर उसको जो प्रचलित अर्थ है, वह टिक नहीं सकता। श्रुत का अर्थ है 'सत्य'। इस सत्य को धारण करने के प्रबल संकल्प का अथवा वृन्ति का नाम है 'श्रद्धा' । श्रद्धा का प्रचलित अर्थ किसी भी धर्मात्मा वेषधारी व्यक्ति के कथन, आदेश व आचरण को बिना सोचे विचारे स्वीकार कर लेना। लौकिक सत्य का निर्णय तो केवल मनन के बाद ही होता है। बिना विचारे किए किसी के कथन को मान लेना अश्रद्धा है। यह मठाधीश तो चाहते ही यह है कि विचार शक्ति से रिक्त अंधश्रद्धा वाले लोग उनके अनुयायी बनें जिससे कि उनके आचरण पर आलोचना करने वाला कोई न हो। उधर से ये अंधश्रद्धालु यह समझते हैं कि इन महात्मा जी का पल्ला पकड़ लेने पर बिना अधिक परिश्रम के अथवा थोड़े ही परिश्रम से जिसका स्वरूप दान-दक्षिणा है, भवसागर से पार उतर जाएंगे। मठाधीश को और चाहिए भी क्या? उसको तो दक्षिणा से मतलब है। उसकी दक्षिणा पूरी होनी चाहिए। उसके बाद जब उसका यजमान भवसागर में गोता लगा जाएगा तो पूछने वाला कौन होगा? इन अंधश्रद्धालुओं और उनके मार्ग दर्शकों को मुण्डल उपनिषद् में मूढ़ कहते हुए कह दिया -

"दन्द्रम्यमानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।"

जैसे अंधे को नेता और मार्ग दर्शक बना कर अंधों की जमात उसके पीछे चल पड़ती है, वही दशा इन अश्रद्धालुओं की होती है, जोकि बिडालवृन्ति मठाधीशों पर विश्वास करके स्वयं स्वाध्यायादि से वंचित रहते हैं । अंधश्रद्धा का यही मूल विश्वास है। केवल आलसी व्यक्ति विश्वास करता है।

महर्षि दयानन्द ने अनेक तंत्रग्रन्थों में भिन्न-भिन्न नाड़ी चक्रों का वर्णन देखा । पढ़ कर विश्वास नहीं किया, नदी में प्रवाहित होते शव को पकड़ कर शल्यक्रिया की और देखा ग्रन्थों में लिखित वर्णन अशुद्ध है। ग्रन्थों को शव के साथ नदी में प्रवाहित कर दिया। अंधश्रद्धालु उन ग्रन्थों को छाती से चिपकाए अपने को ज्ञानी समझते हैं। महर्षि ने 'सत्यार्थप्रकाश' जैसा खण्डन मण्डनात्मक ग्रन्थ लिख कर भूमिका में लिख दिया कि मेरे मंतव्यों को इसलिए मत मान लेना कि

ये मेरे मंतव्य हैं। इन पर विचार करना और विचारने और आचरण में ये सत्य सिद्ध हों तभी इनको स्वीकार करना। संसार के ज्ञात इतिहास में एक भी तो ऐसा सुधारक नहीं हुआ जिसने शास्त्रार्थ में महर्षि से पराजय न पाई हो। फिर भी आदर्श है महर्षि की निरभिमानिता का, कि स्वयं प्रार्थना करते हैं पाठकों से, अपने भक्तों से कि बिना विचारे, बिना परखे मेरे कथन को स्वीकार न करना। महर्षि के भक्त-आर्यसमाजी प्रायः अंधश्रद्धा से रहित हैं। पौराणिकता के संस्कारबद्धमूल होने से कभी-कभी ऊपर आ जाते हैं। फिर भी दयानन्द के अनुयायी प्रायः ठोस आलोचक और तार्किक होने से सहसा किसी पण्डित भावी विडाल वृत्ति पर विश्वास नहीं कर लेते। श्रद्धा अर्थात् सत्य को धारण कर लेने की प्रबल इच्छा रखने वाला साधक महर्षि के बनाए पाँचवें नियम के अनुसार अपने जीवन में घटित होने वाले प्रत्येक असत्य कर्मों को, चाहे वह इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता हो, चाहे वाणी या मन से तत्काल परित्याग कर देगा और इसी तरह जान लेने पर सत्य को तत्काल अपने जीवन का अंग बना लेगा। यद्यपि व्यक्ति का अहंकार इस परित्याग और स्वीकृति में बड़ा बाधक होगा। अहंकार कहेगा 'मै' और असत्य 'यह मैं मान नहीं सकता'। आसुरी सम्पत्ति का वर्णन करते हुए महर्षि व्यास कहते हैं कि आसुरी सम्पत्ति वाला व्यक्ति अहंकार मद में **'मन्त'** कहता है,

"ईश्वरोऽहं अहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी, कोऽन्यो सदृशो मया ।"

इत्यादि। इतने सघन अहंकार से पीड़ित व्यक्ति कभी अपने आचरण में असत्य को स्वीकार कर ही नहीं सकता। और ऐसा अहंकारी असत्य का त्याग कैसे कर सकता है? त्याग के बाद ही नया वस्त्र धारण किया जा सकता है। जो मैले फटे वस्त्र को उतारने को तैयार नहीं, वह नए वस्त्र को कैसे धारण कर सकता है? 'श्रद्धा' की स्पष्ट व्याख्या महर्षि के प्रिय गायत्री मंत्र **'विश्वानि देव'** आदि मे किया गया है। जब तक हम दुरितों को अपने से निकालेंगे नहीं, भीतर स्थान रिक्त करेंगे नहीं, भद्र कल्याणकारी विचारों को कैसे धारण कर सकते हैं? साधारण समझ वाला बालक भी दूध लेने के लिए जाने से पहले लौटे को पानी से खाली कर लेता है। सत्य को धारण करने का जिसने संकल्प लिया है, उसको अपने चित्त में संचित उन सभी संस्कारों को निकाल बाहर करना होगा जो असत्य हैं।

महर्षि "गुरु स्वामी विरजानन्द" से दीक्षा लेकर विदा हुए। उस समय तक उनके अनुभव में अवश्य कमी रही होगी। मथुरा, आगरा आदि में उन्होंने रुद्राक्ष की मालाएं भक्तों को धारण कराई, शायद हलका नशा भी करते थे। परीक्षा के बाद देखा कि ये असत्याचरण हैं। तत्काल परित्याग कर दिया ।

रामकृष्ण परमहंस का भी जीवन इस ही प्रकार के परीक्षणों से भरा पड़ा है। सूक्तियों के चक्र-नृत्य से प्रभावित होकर, मुसलमान बने। निरन्तर छह मास तक मस्जिद के सामने पड़े रहे। पाँचों नमाजों में सम्मिलित होते और निष्ठा के साथ सूफी मतानुसार अंधश्रद्धा के साथ कर्मकाण्ड करने के बाद अध्यात्म पिपासा न मिटी, तो वैष्ण बने। अन्त में काली के उपासक बने। पूर्व जन्म के संस्कारों के प्रभाव से उनको सवित की समाधि सिद्ध थी। योग्य गुरु न मिलन से वह निर्वितर्क समाधि से आगे नहीं बढ़ सके। एक बात - उनके स्वभाव की विशेषता थी - कि वह अंध श्रद्धालु नहीं थे। वह ध्यान की स्थिति को प्राप्त करना चाहते थे। परन्तु उनकी साधना के साधन मूर्त थे जोकि इन्द्रियों के विषय हैं। काली की साधना में काली ने उनका पीछा पकड़ लिया। अन्तर्मुख होते ही आ खड़ी होती। चाहते थे असम्प्रज्ञान समाधि परन्तु काली के आते ही प्रगति रुक जाती थी। उनके सौभाग्य से उन्हीं दिनों एक प्रकाण्ड पण्डित तोताराम उधर से निकले। परमहंस की समस्या का उन्होंने समाधान किया। कहा निरन्तर अभ्यास से कल्पना दृढ़ हो गई है। दृढ़ संकल्प से इसका परित्याग करो। काल्पनिक तलवार से काल्पनिक कालीमाई का वध कर दो। परमहंस ने ऐसा ही किया और साधना में आगे बढ़ गए। अंधश्रद्धालु साधना के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता। सच्चे साधक को साधना के मार्ग में किसी दूसरे पर चाहे वह गुरु हो, चाहे आचार्य, स्वयं प्रयत्न करना होगा । शिविरों और आश्रमों में निवास वाले मार्ग दर्शकों से निर्देश पा सकते हैं । परन्तु उस निर्देश के अनुसार चल कर साधक को स्वयं देखना होगा कि निर्देश पर किया आचरण उनको अभीष्ट पथ पर ले जाता है या नहीं। सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग का नाम ही **'श्रद्धा'** है। **'सतवचन महाराज'** कह कर गुरु जी का जयकारा लगाने वाले वास्तविक श्रद्धा का स्पर्श भी नहीं कर सकते ।

....

(5)

संगच्छध्वं संवदध्वम्

अहंकार से ही व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था। संसार का यथार्थ स्वरूप, इस ही अहंकार को पुष्ट करने में स्पष्ट होता है। कौन ऐसा प्राणी है जिसमें अहंकार की मात्रा विद्यमान न हो। यदि अहंकार न हो, तो ममत्व न हो और यदि ममता न हो तो माता अपने पुत्र का लालन-पालन भी न करे। अहंकार से उत्पन्न हुई ममता ही सांसारिक सम्बन्धों में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है। माता और पुत्र में यह वात्सल्य रूप में प्रकट होती है। इस ही वात्सल्य को ममता कहा

"अन्योऽन्यमभिर्ह्यत वत्संजातमिवाघ्न्याः।"

मनुष्य मात्र को गौ से ममता की शिक्षा लेने का आदेश है कि परस्पर एक दूसरे से इस तरह प्रीतियुक्त व्यवहार करो जैसे गौ अपने नव-जात वत्स के साथ करती है। गौ नवजात शिशु का पालन पोषण रक्षण सभी काम करती है। ममता के बिना ये वात्सल्य हो नहीं सकता। और ममता अहंकार के बिना उत्पन्न हो नहीं सकती। अहंकार से उत्पन्न ममता से ही संसार के सारे सम्बन्ध, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन, चाचा-भतीजा इत्यादि के अतिरिक्त मेरा-घर, मेरा-गाँव, मेरा-शहर, मेरा-देश, मेरी-भूमि, मेरी -पृथ्वी आदि के उदात्त विचारों का जनक यही अहंकार है। तब ही तो वेद में कहा है -

"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः"

ये उदात्त भावनाएं ममता से, और उसके भी जनक अहंकार से उत्पन्न हुई हैं। यदि अहंकार का केवल सदुपयोग ही होता तो इन सद्गुणों की उपस्थिति में यह पृथ्वी ही स्वर्ग बन जाती, किसी काल्पनिक स्वर्ग का विचार ही न उठता। परन्तु व्यास मुनि का कथन **'युक्ताहारविहार'** केवल एक देशीय नहीं, उसका विनियोग संसार की प्रत्येक घटना में होता है। माता और पुत्र का वात्सल्य प्रसिद्ध है। परन्तु यही वात्सल्य अनेक बालकों के जीवन को नष्ट करने वाला भी होता है।

एक नौजवान को चोरी के अपराध में कठोर दण्ड की आज्ञा सुनाई गई। कारागृह में भेजने से पहले अपनी माता के दर्शन की अनुमति भी दी गई। माता के आते ही उछल कर उसने उसकी नाक दांतों से काट ली । पूछने पर उसने कहा, "बचपन में इसी के प्रोत्साहन से, मैं आज एक प्रसिद्ध चोर बना"। नीतिज्ञों ने कहा,

"लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशर्षाणि तु ताडयेत्"
लालनाश्रयिणोदोषाः।'

अहंकार से उत्पन्न ममता की भी एक सीमा है। यज्ञ में दी जाने वाली स्विष्टकृत् आहुति का भी यही अभिप्राय है। यज्ञ अर्थात् लोकोपकारी निष्काम कर्म भी औचित्य और शक्ति से बाहर नहीं होने चाहिएं। इस ही प्रकार वात्सल्य आदि अत्यन्त शुभ गुणों की भी एक सीमा है। गाय भी बछड़े को तब तक ही दूध पिलाती है जब तक वह चारा खाकर अपने पेट भरने के योग्य नहीं हो जाता।

वैदिक प्रार्थना में **'संगच्छध्वं'** का अर्थ संगठित होकर काम करना ही नहीं है, यदि है तो वेदानुरागी धर्मभीरु व्यक्तियों से कहीं बढ़ कर पापाचरण में रत चोर-डाकू व्यसनपीड़ित लोगों ने इस आज्ञा का पालन किया। **'सं'** के **दो अर्थ** अभिप्रेत हैं। **एक** तो **संगठित** होना और **दूसरा** अर्थ **संस्कार** शब्द में है - **पवित्र करना** - दोषरहित करना। इस तरह **'संगच्छध्वं'** का अर्थ हुआ कि **संगठित होकर लोकोपकारी कर्म करो** । लोक विघातक, चौर्यादि और व्यसन पीड़ितों के शराबखाने आदि का सेवन करने वाले, बड़े ही संगठित होते हैं। अमेरिका के बुट्लिगर्स का इतिहास उनके संगठन का एक ज्वलन्त उदाहरण है। चोरी से शराब का व्यवसाय करने वाले संगठन के बल पर इतने प्रचण्ड हो गए थे कि अमेरिका का शासनसूत्र लगभग उन्हीं के हाथ में आगया था। राष्ट्र की पूरी सैन्य शक्ति का सामना करने के प्रयास में वे विफल हो सके। आसुरी शक्तियों का एकमात्र अवलंब यह संगठन है । आसुरी संगठन में लोकोपकार के स्थान पर स्वार्थ साधन की वृत्ति का बोलबाला है।

दैवी सम्पत्ति वाले व्यक्ति, इसके ठीक विपरीत, एकान्तप्रिय होते हैं। एकान्तप्रिय व्यक्ति संगठन नहीं कर सकते। इस ही कमज़ोरी को देख कर ऋषियों ने पञ्चमहायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ के बाद देवयज्ञ को स्थान दिया। आध्यात्मिक अर्थों में रुचि रखने वाले **'विश्वेदेवा यजमानश्च सहित'** का खींचतान कर कुछ भी अर्थ लगा लें परन्तु शब्द स्पष्ट है कि 'सब समझदार लोग और उनका नेता' 'एक प्लेटफार्म पर' बैठे हैं। ऐसा आदेश इसीलिए दियाा गया कि समझदार लोगों को साथ मिलकर

काम करने की या तो समझ न थी या उनको स्वाध्यायादि शुभ कर्मों के अनुष्ठान के बाद समय का अभाव था। जब एक माता अपने बालक को आदेश देती है कि **'सत्यं वद'** तो इसका यह अभिप्राय है कि बालक ने कभी असत्य बोला होगा। देवलोक को संगठित होने का आदेश भी तभी संगत है जबकि दैवी सम्पन्ति वाले व्यक्ति संगठित न होते हों। स्वाभाविक भी है। दैवी सम्पन्ति वाले स्वभावतः अन्तरंगवृन्ति वाले होते हैं। स्वाध्याय और प्रवचन में उनको अधिक आस्था रहती है।

ईशोपनिषद् का वाक्य है **"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते"** विद्या अर्थात् आत्मज्ञान से अमृततत्त्व की प्राप्ति होती है। क्षत्रिय और वैश्य के उन्तरदायित्व, स्वाध्याय, प्रवचन, यज्ञ, भक्ति, संगीत आदि से पूरे नहीं होते। अन्तरंग साधना में साधक को अपना मार्ग एकाकी ही बिताना है । इसी लिए ब्रह्मयज्ञ के लिए मनु ने कहा - **"अपां समीप नियतो"** इत्यादि। ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान साधक को अकेले में ही करना है। परन्तु देवयज्ञ के लिए यज्ञशाला में संगठित होना आवश्यक है। संगठित होने का यह तात्पर्य नहीं कि भेड़-बकरियों की तरह एक स्थान पर बिना किसी व्यवस्था के इकट्ठे हो जायं। महर्षि पाणिनि ने इस बात पर विचार करके निर्णय किया - **"समजः पशूनां समाजः मनुष्याणाम्"** - पशु जहाँ एकत्रित होंगे उसको 'समज' कहते हैं; मनुष्यों के विचारशील प्राणियों के समूह को 'समाज' कहते हैं। विचारशील मनुष्य जब किसी स्थान पर संगठित होते हैं तो उनमें विचारशीलता परिलक्षित होती है। मनुष्यों के समूह समाज में बैठने वाले को सभ्य कहते है। सभ्य का शब्दार्थ ही यह है कि सभा में बैठने की योग्यता रखने वाला। यह योग्यता व्यक्ति रूप से प्रत्येक सदस्य में होनी चाहिए। कहाँ बैठना, कैसे बैठना, किससे बोलना, कितना बोलना, सभा संचालकों के आदेशों का पालन आदि अनेक बातें सभ्य बनने के लिए आवश्यक हैं। आसन ग्रहण करने के लिए एक व्यक्ति अपना महत्व प्रदर्शित करने के लिए विलम्ब से आता है और कूद-फाँद कर अग्रासन पर जाता है। उसको सभ्य नहीं कह सकते। बैठने में उकडूँ बैठना, सो जाना आदि सभ्यता के लक्षण नहीं। वक्त से प्रार्थना की जाय दस मिनट की, वह बीस मिनट पर भी चुप न हो - ये सभ्यता के लक्षण नहीं। समझदार मनुष्य जब एक स्थान पर बैठ कर संगठित होते हैं तो अवश्य ही किसी उच्च विचार को प्रकट करने अथवा उसको धारण करने के ही विचार से ऐसा करते हैं।

'संगच्छध्वं' पद में गम् धातु है। गम् धातु का अर्थ ज्ञान गमन और प्राप्ति है। यह चेष्टा और प्राप्ति ज्ञानपूर्वक होनी चाहिए। सभ्य समाज के रूप में संगठित साधक यदि यज्ञ आदि शुभ कर्म करने के बाद, प्रवचनों को सुनने के बाद, पदाधिकारियों अर्थात् यजमानों का आदेश वेदज्ञ प्रवक्ताओं के आदेश सुनने के बाद भी अपने आचरण में किंचित्मात्र भी परिवर्तन न करे तो गम् धातु का अर्थ-

ज्ञानपूर्वक कर्म करके उपलब्धि करना सर्वथा असंगत होगा। शुद्धि एक होती है, और अशुद्धियाँ अनेक होती हैं। जब मंत्रों का अशुद्ध उच्चारण सैकड़ों कण्ठों से निकलेगा तो विसंगति का होना आवश्यक है। यह संगठन न हुआ । संगठन की उत्पत्ति ज्ञान से होती है और उसका परिणाम संवाद में होता है। भावना की एकता सबको एक स्थान पर लाती है। बुद्धि एक स्थान पर लाती है। बुद्धिपूर्वक एक स्थान पर सम्मिलित होने वालों में सभा में बैठने वालों आदि की योग्यता होनी चाहिए। इसके स्तुति, प्रार्थना, उपासना, भजन, सन्ध्यादि के लिए पुरोहित का विधान है। पुरोहित का अर्थ ही यह है कि सब कामों में उसी को आगे रखना - प्रामाणिक मानना चाहिए। यज्ञ में यजमान की जो स्थिति है, सभा में सभापति की जो स्थिति है, संगठन में पुरोहित की वही स्थिति होनी चाहिए तब ही 'संगच्छध्वं' सार्थक होगा ।

....

(6)

शौच

शौच का साधारण अर्थ शुद्धि अथवा पवित्रता है। अष्टांगयोग के नियमों में इसको सर्वप्रथम स्थान दिया गया है । प्रथम स्थानीय होने से इसका महत्व बढ़ जाता है और विचारना होगा कि साधारण बुद्धि से बढ़कर भी इसका कोई अभिप्राय हो सकता है। जब हम किसी वस्तु को पवित्र करने की बात करते हैं तब उसका तात्पर्य केवल एक ही होता है कि उस वस्तु को अकेला कर दो - उसके साथ मिले हुए अथवा उसके ऊपर आवरण रूप में चढ़े हुए पदार्थों को उससे पृथक् कर दो। वस्त्र को स्वच्छ करने का यही अभिप्राय है कि उस पर लगे पसीना आदि पदार्थों को उससे पृथक् कर दो। यह आवश्यक नहीं कि पृथक् किए जाने वाले पदार्थ अपवित्र ही हों। एक दूधिया साधक को दूध देता था। दूध लेने वाला साधक कोमल हृदय का व्यक्ति रहा होगा। दूध पतला होगया, कुछ बोला नहीं। दूधिया ने समझा अच्छा शिकार हाथ लगा है। आधो-आध पानी मिला कर लाने लगा। आखिर कार साधक ने कहा, भाई दूध तो ठीक नहीं। दूधिये ने पूछा क्यों? साधक ने स्पष्ट कह दिया, पानी मिला है। दूधिया हाजिर जवाब था, बोला - "दूध खराब कैसे हो सकता है, मैंने तो इसमें गंगाजल मिलाया है।" सारांश यह कि गंगाजल मिलाओ और चाहे परिश्रुत (डिस्टिल्ड) पानी मिलाओ, पानी मिल जाने पर दूध का (एकाकीपन) कैवल्य नष्ट हो गया। इस कैवल्य को जीवात्मा के साथ बाद में ही मिलाएंगे। अभी तो अपने ही ऊपर इस व्रत का प्रभाव देख लें। मनु ने लिखा है - **"अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति"** पानी से शरीर का बाह्य मलावरण शुद्ध हो जाता है। शरीर से पृथक् हो जाता है और शरीर को कैवल्य प्रदान कर देता है। यह तो बाह्य शौच हो गया ।

आभ्यन्तर शौच भी मल त्याग द्वारा (मलत्याग द्वारा मलांज को) रिक्त करने से सम्पन्न होता है। शरीर के भीतर वात, पित्त, कफ के कुपित हो जाने पर शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है। कुपित दोषों को शान्त करने के द्वारा शरीर को उनसे मुक्त कराने वाला वैद्य चतुर कहलाता है। यह हमारा शरीर केवल स्थूल शरीर ही नहीं, यह अत्यन्त आश्चर्यजनक उपकरणों का संघात है। उपनिषद् में कहा गया है -

इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः मनास्तु पराबुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ।
महन्तःपरमव्यन्क्तं अव्यक्तात्पुरुषः परः पुरुषात्र परं किंचित्साकाष्ठा सा परा गतिः।।

इन्द्रियां मन और बुद्धि इनको अधिष्ठाता पुरुष यह सब मिल कर शरीर को बनाते हैं। एक से एक बढ़ कर उत्कृष्ट हैं। आदिमूल सत्ता ने संसार के उपभोग के लिए हमको प्रदान किए हैं। इनको स्वच्छ, पवित्र रखना हमारा उत्तरदायित्व है। इन्द्रियों की बाह्य पवित्रता तो पानी से संभव है परन्तु इन्द्रियों के बाहर के गोलक तो उनका केवल स्थूल भाग है। वास्तविक इन्द्रिय तो शक्ति रूप है। उसका शौच - उसको पवित्र रखना एक महान् कार्य है। इस पवित्रता के रहस्य को न जानने वाला **"भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम"** के गूढ़ार्थ को कैसे समझ सकता है। इन्द्रियों की विकलता अथवा कमजोरी को हम चतुर चिकित्सक ही सहायता से दूर कर सकते हैं। परन्तु उसकी अपवित्रता को किसी ओषधि से दूर नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इन्द्रिय कभी अपवित्र होती ही नहीं। उदाहरण के लिए सबसे प्रमुख इन्द्रिय आँख को ही लीजिए। जाग्रत अवस्था में खुली आँख दिन के चौदह घण्टों में लाखों पदार्थों को देखती है। यदि इन्द्रियों में भी दोष हो तो उन सब ही स्थानों पर राग-द्वेष हो जाना चाहिए, ऐसा नहीं होता। राग-द्वेष कब होता है, जब मन कामना को लेकर इन्द्रिय से काम लेता है। आँख ने एक फूल को देखा, मन उस ज्ञान को बुद्धि तक ले गया। बुद्धि ने अपने कोषाध्यक्ष चिन्त से प्रश्न किया - कहो कैसा है? संस्कारों के रिकार्ड से चिन्त ने सूचना दी - 'बढ़िया है। उसे हथिया लो।' मन इस सूचना को लेकर हाथ के पास गया आँख को बताया, चौकीदार - कोई देखता तो नहीं। अब पाठक स्वयं सोचें। इस सारे कर्म में आँख का क्या दोष है? मन की सहायता के बिना आँख काम नहीं करती।

नचिकेता किताब खोले बैठा था। ध्यान था भण्डार में । यमाचार्य ने पूछा, 'क्या पढ़ा'। नचिकेता आजकल के दाँवपेंच से अनभिज्ञ था, सच बोला - 'भूख लगी है', मन भण्डार में था। न आँख ने पुस्तक देखी, न कान ने आपका बोल सुना। मन का भी इस ही प्रकार कोई दोष नहीं। बुद्धि द्वारा प्रेरणा प्राप्त करके मन सकाम हुआ। चिन्त के संग्रहालय में अनन्त जन्मों के संस्कार संगृहीत न होते तो न कामना होती, न बुद्धि की प्रेरणा होती, न मन इन्द्रियों को राग-द्वेष की प्रेरणा देता। इस विश्लेषण से परिणाम यह निकला कि इन्द्रियों को कुमार्ग में जाने से रोकने के लिए मूल कारण जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से सम्बन्ध विच्छेद करना है।

महर्षि पतंजलि ने इसी शौच व्रत के अनुष्ठान का विधान किया था। उनके सम्बन्ध में किम्वदन्ति है -

"योगेन चित्तस्य, पदेन वाची, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।"

महर्षि ने तीन प्रकार के प्रचलित मलों का निराकरण करके मानवता की अमूल्य सेवा की। योगदर्शन के द्वारा चित्त के संचित संस्कारों के मल को दूर करके आत्मा को पवित्र किया। व्याकरण पर महाभाष्य लिख कर शब्द शास्त्र का मल दूर किया। और आयुर्वेद विज्ञान द्वारा शारीरिक मलों को निरस्त किया। सारा जीवन उस सोचवृत्ति ने शरीर, वाणी और आत्मा के मलों को ही दूर करने के साधनों को शास्त्रों का रूप देकर मनुष्य का महान् उपकार किया। विचारों की परम्परा ही मन का रूप है। अपने आश्रम के एक वर्ष में कम से कम आठ सौ प्रवचन होते है। यदि इन सब ही प्रवचनों का संग्रह कर लिया जाय तो प्रतिवर्ष एक 'महाभारत' तय्यार हो सकता है। साठ वर्ष से यह क्रम चालू है। मन इतने सब विचारों को तो संग्रह नहीं कर सकता-

"अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथाऽऽयुर्बह्वश्च विघ्नाः।"

'सारं न तु ग्राह्यम्'

शब्द सागर अपार है। उसके सामने आयु बहुत छोटी है। इसलिए सार को ग्रहण करके असार का परित्याग करे। यहाँ भी असार (मल) का परित्याग ही अभीष्ट बतलाया है। महर्षि व्यास ने इस शौच व्रत को सूत्र में कह दिया - **'युक्ताहार विहारस्य"** साधक का आहार और विहार युक्त अर्थात् संतुलित होना चाहिए। इन्द्रियों से जो कुछ भी ग्रहण करे उसको अन्दर ही समेटना नहीं चाहिए। असार भाग (बाहर भी) उसी अनुपात में बाहर निकाल देना चाहिए। वेद में **'अश्विनौ'** शब्द अनेक स्थलों पर आता है, जिसका अर्थ गमनागमन अर्थात् लेन देन है। मन विचारों का प्रवाह है । जब तक ये विचार आते रहते हैं तब तक मन पवित्र रहता है। विचारों का 'सार' भाग अनुभव लेकर शेष को विदा कर देना ठीक है। मन विचारों का आश्रयस्थल है, सराय है, आवें और क्षणिक विश्राम के बाद चले जावें। यदि मन में इनमें से कुछ विचारों को पसन्द करके अपने पास सुरक्षित रख लिया जाता है तो उन्हीं विचारों का नाम मन्तव्य, सिद्धान्त आदि पड़ जाता है। मंतव्यों को पकड़ कर बैठने वाला मन उस गृहस्थ के समान है जो अपने घर की सभी खिड़की-दरवाजे-रोशनदान बंद करके सो जाता है, वह नहीं चाहता कि बाहर की शुद्ध वायु और अंधकार को दूर करने वाली प्रभात की सूर्य किरणें उसके घर में प्रविष्ट हों। वह उस गड्ढे जैसा है जिसमें बरसात का पानी आकर भर गया, निकला नहीं। परिणाम यह होगा कि वह पानी सड़ेगा, मच्छर पैदा होंगे, बीमारी फैलेगी। विश्वास और अंधश्रद्धा मन के भारी मल हैं। विचार-विश्वास, मंतव्य-सिद्धान्त ये सब मल के मैल हैं। मन को इन से रिक्त रखना चाहिए।

दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में यह लिख कर कि "मैंने यह लिखा है इसलिए मेरे कथन को मत मानों, विचार करो, परीक्षा करो, सत्य समझ में आवे स्वीकार करो, आचरण करो।" अंधविश्वास आदि से मुक्त मन पवित्र होगा। अपने स्वाभाविक कार्य मनन को भली प्रकार कर सकेगा। यही मन का परिष्कार अथवा शौच है। मन का वाहन 'वाणी' है। इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान और मनन के द्वारा उत्पन्न ज्ञान और मनन के द्वारा उपलब्ध विचारों का प्रकाश वाणी द्वारा होता है। यदि वाणी उन विचारों और ज्ञान को अन्यथा प्रकाशित करती है तो मनु के विचार में यह **'चौर्यकर्म'** है। इसलिए वाणी अपवित्र होती है। उन विचारों को जैसा का तैसा प्रकाशित करना वाणी का काम है। विचारों और भावनाओं का यथावत् प्रकाश वाणी का शौच है। मनु ने अर्थशौच भी कहा है। उसका बड़ा महत्त्व प्रदर्शित किया है। अपना आश्रम रुपए के लेन-देन, व्यापार-व्यवसाय का केन्द्र नहीं। इसलिए इस अर्थशौच का अर्थ भिन्न होगा। **"तजुपसादर्शभावनम्"** में अर्थ शब्द **'वाच्य'** अर्थ में आया है। ओंकार के जप का अभिप्राय है कि ओंकार ध्वनि के **'वाच्य'** (जिसका कि वह वाचक है) का निरन्तर चिन्तन करना। अर्थशौच का अर्थ होगा मंत्रों का उच्चारण, उनके अभिप्राय आदि में अशुद्धि नहीं होनी चाहिए। इतनी विवेचना के बाद एकबार फिर आश्रम के मुख्य विषय मन की तरफ आइए। साधक अधिक संख्या में ध्यान लगाने का प्रयास करते हैं।

महर्षि कपिल कहते हैं - पहले ध्यान का स्वरूप समझ लो। फिर प्रयत्न प्रारम्भ करना- **"ध्यानं निर्विषयमनः"** - ध्यान वह स्थिति है जिसमें मन विषयों से रहित हो जाता है। जिस तरह वस्त्र को मल से रहित करके शुद्ध करते हैं, शरीर के श्वेदादि मल को स्नान के द्वारा शुद्ध करते हैं, इस ही तरह मन को विषयों से रहित करके ध्यान की स्थिति सम्पन्न की जाती है। वस्तुतः शौचव्रत, अपरिग्रहव्रत का बड़ा संस्करण है। अपरिग्रहव्रती तो भौतिक और मानसिक अनिष्ट पदार्थों और विचारों का परित्याग करता है। शौचव्रती तो परिपक्व अवस्था में अपने चित्त का भी परित्याग कर देता है। प्रकृति माता ने यह बुद्धितत्व मनुष्य योनि में पदार्पण करने के समय बालक को उपहार रूप में दिया था। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। यदि वह सोच-समझ कर काम करता है तो वह कल्याण मार्ग का पथिक बन जाता है। यदि बिना सोचे पशुवृत्ति से काम करता है, केवल पशु की तरह क्रिया प्रतिक्रिया के अनुसार चलता है तो उसकी अधोगति होती है। प्रकृति माता उसकी शुभकामना करती हुई उसको 'टार्च' के समान एक उपहार देती है जिससे कि जब जीवन में 'दोराहा' सामने आए, अथवा सघन अंधकार के कारण व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाय, अथवा काम, क्रोधादि शत्रुओं के आक्रमण के समय पशुवत् व्यवहार करने में प्रवृत्त होने लगे तब इस बुद्धि रूपी टार्च की सहायता से अपने कर्तव्य का निर्णय कर सके और पापाचरण से बच सके। कठोपनिषद् में इसी आशय का एक कथ्य है -

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेव तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।"

प्रत्येक मनुष्य के सांसारिक जीवन में अनेक बार ऐसे प्रसंग उपस्थित होते हैं जबकि उसको इस निर्णायक तत्त्व **'बुद्धि'** की आवश्यकता होती है। इस बुद्धि तत्त्व का एक दूसरा रूप भी है जिसका नाम **'चित्त'** है। वह अनादि काल से पंजीकरण (रिकार्डिंग) का काम कर रहा है। इसका नाम संस्कार है। ये बड़े दुराग्रही हैं। कठोर बीज रूप में पड़े, अंकुरित और पल्लवित होने के लिए इतने लम्बे समय तक अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। उस समय की अवधि की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इन संस्कारों से छुटकारा पाने के लिए समाधि से भी उच्च दशा बतलाई जिसमें जीवात्मा प्रकृति माता के दिये अमूल्य उपहार को भी माता के चरणों में अर्पित करता हुआ - मानो कि महर्षि के उपदेश के अनुसार विषयों में सर्वप्रथम नियम 'शौच' का पालन करता है। कैवल्यपाद के अन्तिम सूत्र का अर्थ है -

"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपशून्यावाचितिशक्तिः ।"

उपहार त्रिगुणात्मक था। जब जीवात्मा को विवेकख्याति के बाद जो कि बुद्धि की सहायता से उपलब्ध हो चुकी थी, उसकी आवश्यकता नहीं थी, वह आत्मतत्त्व से भिन्न जड़तत्त्व का अंश थी। उसके महत्त्व को समर्पित करके उसने **'शौचव्रत'** का पालन किया और कैवल्य को प्राप्त किया । कैवल्य और शौच समानार्थक हैं ।

....

(7)

तीन गतियाँ

उपनिषदों में अनेक बार और एक बार गीता में भी मरणोपरान्त जीवात्मा की गति के सम्बन्ध में भिन्न प्रकार के शब्दों में जो भी कथन किया गया है उससे साधक का भ्रान्त हो जाना स्वाभाविक है। प्रायः **दो प्रकार की गति** का कथन है - उनमें से एक है **पितृयाण** (दक्षिणायन) अथवा कृष्णा, दूसरी है **देवयान** (उत्तरायण) अथवा शुक्ला। देश, काल, वचन और श्रोता के भेद से भाषा का अथवा शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न है। परन्तु भाव एक ही है। महाभारत की एक कथा में इस प्रसंग का बड़ा रुचिकर परन्तु सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने के कारण असंभव वर्णन किया गया है। पूर्वजन्म की स्त्री शिखण्डी की आड़ से अर्जुन ने पितामह पर प्रहार किये। वाणी के लगने से होने वाले बाण और पीड़ा से व्यथित होकर भीष्म ने कहा- **"अर्जुनस्येमे वाणा नेमे वाणा शिखण्डिनः।"** मैं जानता हूँ कि ये बाण शिखण्डी के नहीं, अर्जुन के गाण्डीव से निकले हैं। कहानी कहती है कि पितामह को इतने बाणं लगे कि वह भूमि पर गिर पड़े और बाणों की सेज पर पड़े रहे। सायंकाल नियमानुसार युद्ध बन्द होता था, शत्रुता समाप्त होती थी, पक्ष-विपक्ष के योद्धा एक-दूसरे के समाचार लेने और सहानुभूति प्रगट करने जाते थे। योगीराज कृष्ण के साथ पाण्डव भी घायल पितामह से मिलने उनकी दशा देखने गए। ऐसी अवस्था में पितामह ने पूछा, "आज दक्षिणायन है या उत्तरायण?' अक्टूबर से मार्च तक छह महीने दक्षिणायन होता है, सूर्य का तेज मद्धम पड़ जाता है - **'दिशि मन्दयते तेजो दक्षिणस्यां खेरपि'।** सूर्य का तेज मन्द हो जाता है, सर्वथा लुप्त नहीं होता। अप्रैल से सितम्बर तक सूर्य प्रचण्ड प्रताप के साथ चमकता है, उसको उत्तरायण कहते हैं ।

प्रश्नकर्ता थे पितामह भीष्म और उत्तर देने वाले थे योगीराज श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण ने कहा अभी तो आपकी मनःस्थिति दक्षिणायन है। कौरव पक्ष की निरन्तर हार और अपनी क्षतविक्षत दशा में आपके मन में आशा-निराशा, सुख-दुख भविष्य की अशान्ति का दौर है। प्रयाणकाल में तो केवल सात्विक भावनाओं को स्थान मिलना चाहिए। प्रयत्न करने से यह स्थिति कालान्तर में आजाएगी। जब राग-द्वेष से रहित चित्त शान्त और सत्वप्रधान होगा। सत्वगुण के उत्कर्ष से निराशान्धकार हट कर अन्तरात्मा प्रकाश पुंज बन जाएगा तब आपका उत्तरायण होगा। उस समय स्वेच्छा से प्राण

परित्याग करना उचित होगा। कविता में इस घटना का सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन के साथ जोड़ दिया गया।

महर्षि दयानन्द द्वारा दी गई एक अमूल्य कसौटी है कि सृष्टि नियम के विरुद्ध कोई भी घटना छल-कपट और माया के अधीन नहीं हो सकती। शरशय्या पर छह मास लेटे रहना आदि सब बातें घटना को आकर्षक बनाने का कवि का प्रयत्नभर है। इसी महाप्रयाण के बाद आत्मा की गति अर्थात् कामनाओं के अनुसार नई योनि में प्रवेश के सम्बन्ध में गीता में कहा है -

"शुक्लकृष्णगति ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकयाऽऽत्मना वृत्तिं अन्ययाऽऽवर्तते ।।"

पुनः मरणोपरान्त जीवात्मा की दो प्रकार की यात्रा होती है। एक का नाम 'शुक्ल' है दूसरी का 'कृष्ण' स्पष्ट है कि निष्काम कर्मियों की गति शुक्ल अर्थात् सत्वगुण के उत्कर्ष के कारण 'मुक्ति' पद को प्राप्त कराती है। और सकाम कर्म करने वाले राजसिक व्यक्तियों की गति कामनाओं के वेग के अनुसार किसी न किसी योनि में होती है। जरायुज, अण्डज आदि किसी भी योनि में जाना हो, उसको अन्धकारावृन्त **'कृष्ण'** ही कहेंगे।

प्रश्नोपनिषद् में इन्हीं दोनों गतियों को **पितृयान** और **देवयान** नाम से कहा गया है। सांसारिकता में व्यस्त लोग इष्टापूर्त को जीवन का परम लक्ष्य मानने वाले जीवन-मरण के चक्र से सर्वथा बच नहीं सकते । शिवसंकल्प के साथ सकाम शुभ कर्म करते हुए अपने जीवन को कृतकृत्य समझते हैं। वे मरणोपरान्त कुछ समय तक आनन्द की स्थिति में रहने के बाद कामनाओं के बन्धन से बंधे हुए उन कामनाओं को तृप्त करने के लिए फिर इस ही प्रपञ्च में आकर जन्म-मरण के चक्र में फंस जाते हैं।

"तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तयो ब्रह्मचर्य्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ।"

तप, ब्रह्मचर्य और सत्य में जिनकी निष्ठा होती है, केवल उनको ही ब्रह्मलोक -मुक्ति- प्राप्त होती है। इस ही आशय को लेकर मुण्डक उपनिषद् में कहा है **'ईष्टापूर्तमन्यमाना...'** आदि। इष्ट अर्थात् यज्ञ आपूर्त कूप, तडाग, पाठशाला आदि के निर्माण को जीवन का परम लक्ष्य मान कर जीवन को बिताने वाले मरणोपरान्त लौटकर इसी मानव योनि में अथवा संस्कारों के अनुसार इससे भी नीच योनि में जन्म लेते हैं।

इसके बाद ऋषि कहते हैं -

"तपेःश्रद्धे येह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वान्सःभैक्ष्यचर्यां चरतः सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति .....।"

इत्यादि। तप और श्रद्धा के साथ जो साधक वानप्रस्थाश्रम का यथाविधि सेवन करते हैं वे सूर्य मार्ग से अथवा सत्वगुण के उत्कर्ष से ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेते हैं।

अभी तक तो **उन्तरायण** और **दक्षिणायन** के भेद से केवल दो ही गतियों का वर्णन हुआ। परन्तु पातंजलयोग में कहा- **"कर्माशुक्लकृष्णं योगिनात्रिविधमितरेषाम्"** - योगियों के गुणातीत अवस्था को प्राप्त साधकों के कर्म न शुक्ल होते हैं न कृष्ण। वे योगी को न बन्धन में डालने वाले होते हैं न क्षणिक-सावधिक मुक्ति को दिलाने वाले होते हैं, अर्थात् वे ब्रह्मलोक के निवासी हो जाते हैं। परन्तु **त्रिविधमितरेषाम्** - साधारण सांसारिक व्यक्ति के कर्म तीन प्रकार के होते हैं। **एक पुण्य, एक पाप और एक मिश्रित,** योगियों के कर्म क्रिया के रूप में होते हैं। क्रिया का अर्थ है कि प्राकृतिक मांग। शरीर को भूख लगना स्वाभाविक है, भूख लगती है पेट को भोजन देकर उसकी मांग को पूरा कर देना (मांग का नाम क्रिया) है। पर जब बीच में पड़ कर जिह्वा अपने विषय रसों की कामना को, उस भोजन के साथ जोड़ देती है, तब वह कर्म बन जाता है। इस ही तरह लोकोपकारी कर्म करते हुए लोक सेवक जब तक कामना विहीन होकर कर्म करते रहते हैं तब तक उनका कर्म क्रिया के साथ में होता है और वह बन्धन का कारण नहीं बनता। यदि वह लोक सेवक, सेवा के बदले में उच्च पद अथवा यश की कामना करता है, उसका कर्म, सकाम होने से, क्रिया नहीं, कर्म की श्रेणी में, रह जाता है। योगियों के सारे ही कर्म जोकि देखने में सांसारिक प्रतीत होते हैं निष्काम होने से बन्धंन के कारण नहीं होते। उनकी संज्ञा क्रिया है।

महर्षि दयानन्द हम लोगों से अधिक कर्म करते थे। यात्रा, शास्त्रार्थ, प्रश्नोन्तर, वेदभाष्य, आर्य समाज की स्थापना, जीवन यापन के लिए भोजन आदि ये सब कर्म अपनी इन्द्रियों के विषयों की तृप्ति के लिए नहीं थे। इसलिए वे सब क्रिया की श्रेणी में रह गए, और वे कर्मफल के सिद्धान्त के अनुसार बन्धन के कारण नहीं बने, अर्थात् मुक्ति के मार्ग में बाधक नहीं बने। सांसारिक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त केवल सकाम कर्म ही करता रहता है। प्रत्येक कर्म में प्रवृन्त होने से पहले वह घाटे और मुनाफे का हिसाब लगाता है। वह घाटा मुनाफा आवश्यक नहीं कि सम्पन्ति या नोटों के पुलिन्दे अथवा हवेलियों के रूप में हो, यश और सम्मान के रूप में भी इनक हिसाब किया जाता है। संन्यासी के लिए तीनों ऐषणाओं का परित्याग आवश्यक है। तीनों में से पुत्रैषणा का

का परित्याग तो बड़ी सुगमता से पुत्रों के कुमार्गगामी होने पर उनके आज्ञावशवर्ती न होने पर आदि स्थितियों में प्रायः हो जाता है। वित्तैषणा का परित्याग भी कई परिस्थितियों में उतना कठिन नहीं होता। परन्तु लोकैषणा - सन्मान की भूख - का परित्याग बड़ा कठिन है। योगशाला के कैवल्यपाद में **'प्रसंख्येनप्यकुसीदस्य'** आदि वाक्य इसी स्थिति के सूचक हैं। सांसारिक व्यक्ति जो कि सारे जीवन में अपनी जीवनधारा को केवल मृत्यु का द्वार बनाने में लगा रहा, तीन प्रकार के कर्म करता है - सद्‌गुण का उद्वेग हुआ तो यज्ञशाला, पाठशाला, धर्मशाला आदि बनवाता है; रजोगुण का उफ़ान आया तो किसान या कमज़ोर पड़ौसी की जायदाद पर कब्ज़ा करने का यत्न करता रहा, कभी-कभी किसी धार्मिक कार्य में बिना हिसाब लगाए भी दस-पाँच रुपए फेंकता रहा। ये उसके तीन प्रकार के कर्म होते हैं। सात्विक कर्म बन्धन के कारण होते हुए भी उत्तम योनि में प्रेरित कर सकते हैं। राजस और तामस कर्म निश्चय से अधम योनियों में तो जाएंगे। तीसरे प्रकार के कर्म यदि प्रबल हुए तो सम्भवतः मनुष्य योनि में प्रवेश मिल सके।

....

(8)

त्रिणाचिकेतः

कठोपनिषद् में यमाचार्य के मुख से नचिकेता को नाचिकेत अग्नि के चयन का उपदेश अग्निहोत्र के रूपक के द्वारा किया गया है। उस आख्यायिका का **त्रिणाचिकेत स्त्रयमेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत** आदि केवल कथानक नहीं कुछ गम्भीर अर्थ को साथ लिए है। मनुष्य अपने जीवन काल में तीन सन्धिस्थानों में, तीन प्रकार की अग्नियों को उत्पन्न अथवा उपलब्ध करने का, अवसर प्राप्त करता है। ये तीन अवसर हैं, जो इन अवसरों को हाथ मे लेने से चूकता वह तीन बार अपने भीतर तीन शक्तियों को उत्पन्न करता है। आश्रम व्यवस्थाा में शास्त्रविहित कर्म करने से जो लाभ मनुष्य को होता है उसकी तरफ आचार्य का निर्देश नहीं। एक आश्रम का परित्याग कर उसका सफलतापूर्वक सदुपयोग कर दूसरे आश्रम में प्रवेश करने के समय प्रथम आश्रम के वियोग से भारी शक्ति उत्पन्न होती है।

प्रथम आश्रम में आचार्य कुल में निवास करता हुआ बालक सर्वथा निशिचन्ति था। खाना पीना, रहन-सहन आदि किसी भी सांसारिक चिन्ताओं से वह सर्वथा मुक्त था। अथवा यह कहना उचित होगा कि उसको मुक्त रखने का विधान था। आचार्य को बालक की माता का स्थान दिया गया है - **'तिस्रः रात्री स्रंगर्भबिभर्ति '** । खेलाकूल मुक्त वातावरण में रहन-सहन विद्याध्ययन के नाम से कुल धर्म की शिक्षा होती थी। ऐसा नहीं था कि बढ़ई के पुत्र को ठोकपीट कर वेदपाठी बनाया जाय। आजकल की शिक्षाप्रणाली का प्रचलन नहीं था। वर्तमान प्रणाली में नकल-रिश्वत-छुरेबाजी की घटनाएं घटती हैं। आचार्य उसकी दिनचर्या पर ध्यान देता था । विद्यालय में पढ़ने के समय उसकी उपस्थिति आवश्यक थी। वह कितना ज्ञान संग्रह कर पाता था, इसकी चिन्ता आचार्य को न थी। बालक को कुल धर्म की ही शिक्षा दी जाती थी। ब्राह्मण कुलोत्पन्न बालक यदि गणित में रुचि नहीं लेता था तो उसको वार्षिक परीक्षा में अनुत्तीर्ण करके उसका एक वर्ष नष्ट कर देने का रिवाज नहीं था। ऐसे सुखद वायुमण्डल को, ऐसे वात्सल्य स्नेह से पूर्ण आचार्य और उपाध्यायों की स्नेहबन्धन से बंधी अपनी मित्रमण्डली साथी बालकों का जब परित्याग करने का अवसर आया, आचार्य कुल का परित्याग कर एक बार फिर सांसारिक दुश्चिन्ताओं से घिरे वातावरण में जाकर द्वितीयाश्रम में प्रवेश

की तय्यारियों को उसने देखा । सोचा कि वृद्ध माता पिता का ही नहीं, भाई बहनों का, आने वाली अपनी सहधर्मिणी का भरण-पोषण संसार चर्चा का उत्तरदायित्व लेना होगा तो परिवर्तन से होने वाली प्रसन्नता के साथ भविष्य की भारी चिन्ता ने उसके मन को अवश्य व्यथित किया होगा । सांसारिक चिन्ताओं से भरा फिर भी आकर्षक, द्वितीय आश्रम का काल्पनिक एक तरफ था, तो विगत चौदह वर्षो का चिन्ताओं से मुक्त खेलकूद से चित्रित विद्यार्थी जीवन दूसरी तरफ था। एक तरफ थ यथार्थ विगत जीवन की जाती स्मृति, तो दूसरी तरफ था अवास्तविक और काल्पनिक पर मनमोहक सांसारिक जीवन। इस संक्रमण काल में नवयुवक की मनोदशा को वही जान सकता है जो उसमें से निकला है। इस संक्रमण काल में भूतकाल की अतीत विद्यार्थी जीवन की सुखद स्मृतियों को और भविष्य में आने वाली काल्पनिक रंग बिरंगी आशाओं का परित्याग कर वर्तमान में उपस्थित कर्तव्य पर अपनी चेतना को केन्द्रित करता है, वह अपने भीतर उदीयमान एक शक्ति का अनुभव करता है। जो कि एक स्थान के वियोग से उत्पन्न होती है। वियोग अथवा विश्लेषण शक्ति उत्पन्न करता है। संश्लेषण अथवा संयोग में शक्ति का व्यय होता है। विज्ञान के विद्यार्थी इस सत्य को जानते हैं कि परमाणुओं से बनी मात्राओं के विश्लेषण से वही शक्ति उत्पन्न होती है जो उनके संयोग में काम आई थी । सविचार समाधि में स्थित आइंसटीन ने परमाणु अस्त्र बनाने से पहले अनुसंधान में लगे वैज्ञानिकों को सावधान कर दिया था कि परमाणु विस्फोट से बड़ी भारी शक्ति उत्पन्न होगी । संभवत है कि संपर्क दोष से वह सारे ब्रह्माण्ड के परमाणुओं का विस्फोट कर दे और महाप्रलय उपस्थित कर दें।

महाप्रलय की संभावना तो सही नहीं थी, सृष्टि रचना और प्रलय यह केवल प्रजापति ने अपने ही उत्तरदायित्व पर रखी है। विस्फोट से उत्पन्न शक्ति की भविष्यवाणी ठीक निकल गई।

प्रथमाश्रम से वियुक्त होने के समय नवयुवक यदि जागरुक अवस्था में होता है तो आश्रम के आचार्य और सहपाठियों से वियोग की स्थिति में, उसमें एक शक्ति उत्पन्न होनी चाहिए, जिसको अवलम्ब बना कर वह छल-कपट से भरे सांसारिक वातावरण में रह कर भी अपने पूर्व जीवन के व्रतों को भूल न जाय। **त्रिणाचिकेतः** में कही गई अग्नि को इस ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के सन्धिकाल में साधक ने प्राप्त कर लिया। गृहस्थ जीवन में **'सत्यं वद'** आदि सभी व्रतों की साधक ने एक-एक कर परीक्षा ली और परीक्षा लेने के बाद जो निष्कर्ष निकलता रहा उसका संग्रह करता रहा। संसार में सब ही विषयों को तृप्त करने के अनन्त साधन उपास्थित थे। साधक ने भी एक के बाद एक विषय का उपयोग किया। इस दृष्टि से कि कामनाएं शान्त हों। उसको याद आया **'भोगा न भुक्तावयमेव भुक्ताः....**" पढ़ा था वह नीति वाक्य, परीक्षा में खरा उतरा। गृहस्थाश्रम के तीस वर्ष

बीतने पर धन्यभाग है। वे साधक जिनको विषयों से विरक्ति होगई, परन्तु ये धन्यभागी बड़े दुर्लभ हैं । परमात्मा को अमृत पुत्रों की यह दुर्दशा देखकर शायद करुणा उत्पन्न हुई। कितनों को तो उनके इह जीवन की असफलता देख उनके व्याधिग्रस्त वर्तमान शरीर से उनको विमुक्त कर नवजीवन धारण करके नए सिरे से काम प्रारम्भ करने का अवसर दिया। जिनके शरीर अभी इस योग्य थे कि कल्याणमार्ग के पथिक बन सकें। परन्तु विषयासक्ति अभ्यासवश इतनी उग्र होगई थी कि विषयों में वैराग्य चाहते हुए भी उसको प्राप्त नहीं कर सकते थे। करुणवश आदिमूल सत्ता ने, एक-एक करके, उनकी सब इन्द्रियों की क्षमता को कम करना प्रारम्भ किया। यह देखकर समझदार साधकों ने वानप्रस्थाश्रम की शरण ली। समझदार थे इसलिए आश्रम आने से पहले तीस-चालीस वर्षों के संग्रह से ही नहीं, अपने प्रिय परिवार से भी विदाई ली। बड़ा कठिन काम रहा होगा। परन्तु इसके सिवाय कोई दूसरा मार्ग भी न था। जिसने यह सम्बन्ध विच्छेद साथ समझ कर ईमानदारी से किया उसका हृदय जानता है कि उसमें एक अपूर्व शक्ति का प्रकाश हुआ। यह दूसरी नाचिकेत अग्नि है।

अब वानप्रस्थाश्रम में आकर कुटी, फुलवारी, संगी, साथी, गौ आदि पशुओं के साथ और उन ब्रह्मचारियों के साथ भी लगाव हो जाना स्वाभाविक था। इस तृतीयाश्रम में रहते-रहते यदि गृहस्थाश्रम में संचित सब ही पदार्थों में पूर्ण वैराग्य हो गया तो उसको चतुर्थाश्रम में जाने का अधिकार है और जब तक पूर्ण वैराग्य न हो जाय, तब तक उसको वानप्रस्थाश्रम में ही निवास करना उचित है। स्मरण रहे कि अभी केवल दो ही अग्नियाँ प्रज्ज्वलित हुई हैं।

दूसरी अग्नि में अभी लपटें अभी नहीं आईं। अभी भोगी हुई कामनाएँ भिन्न-भिन्न रूप लेकर सता रही हैं। इतने पर भी साधक इन्द्रियों की विकलता और शरीर की असमर्थता के लिए किसी अदृश्य शक्ति को कोस रहा है। यही वह समय है जबकि ईश्वर प्रणिधान का पूरा अभ्यास करके **'अदृश्य नियामकशक्ति'** को वाणी से नहीं हृदय से धन्यवाद दे कि कमाल है **तेरे नियम** यदि तूने जवानी के बाद प्रौढ़ और प्रौढ़ के बाद वृद्ध अवस्था का वरदान न दिया होता । कहीं मेरी जवानी मेरे ऊपर अभी तक सवार होती तो कल्पना करना भी कठिन है कि मेरे पापों की गठरी, उठाने के लिए, एक नहीं दो ट्रक मंगवाने पड़ते। संतोषवृत्ति को धारण करने वाला साधक आश्रम में आने के बाद भगवान को धन्यवाद देता है कि तूने समय रहते मेरे अंग शिथिल कर दिए और मैं इनसे अधिक पाप न कर सका। साधक कहता है कि मैं तो यह सोचता हूँ कि मैं जो कुछ हूँ इतना होने के लिए भी मैंने कौन से शुभकर्म किए। मानव शरीर और उसमें बुद्धि नाम का हीरा आज भी मेरे पास है। मैं तेरी कृपा से विषयासक्त होने के योग्य तो रहा नहीं, परन्तु राजयोग की पद्धति से आज भी अपने जीवन की धारा को निर्मल कर सकता हूँ। पूर्ण वैराग्य प्राप्त करने के बाद साधक आश्रम की आसक्ति का परित्याग करके तीसरी नाचिकेत अग्नि प्रज्ज्वलित कर के सूर्यद्वार से अव्ययात्मा के परम धाम को प्राप्त कर सकता है।

....

(9)

विद्या ददाति विनयम्

अहंकार से भरा व्यक्ति अकड़ कर चलता है। अकड़ कर चलने के लिए ही सारा जीवन परिग्रह में लगा रहता है। उसको यदि यह वाक्य सुनाया जाय, तो वह हँस कर कहेगा जो चाहता है झुकना उसको यह उपदेश सुनाओ - **'मैं हूँ सैल्फ मेड'** । "एक किसान से लोकसभा का मैम्बर बना, अभी क्या है, रामाराव की तरह, एक पार्टी बना कर चीफ और फिर प्राइम् मिनिस्टर बनने तक का इरादा रहता हूँ।" इनसे पूछा गया - "आपकी योग्यता कितनी है?" देश विदेश की कई डिग्रियां गिना दी। ऐसे अहंकारी व्यक्तियों से संसार भरा पड़ा है। एक व्याख्याता मूर्ख और विद्वान में अन्तर बतलाता हुआ बोला - 'देखिए, इस सभा में भी एक को छोड़ कर शेष सभी मूर्ख हैं।' सभा में तीन-सौ श्रोता थे, सब ही ने चारों तरफ नज़र दौड़ाई, वही करुणाभरी। प्रत्येक अहंकारी ने यह समझ लिया कि 'मैं तो मूर्ख हो सकता नहीं' - शेष उपस्थित मण्डली पर इस भावना से नजर दौड़ाई कि ये कितने अभागे हैं। उपरोक्त वाक्य में विद्या का जो अर्थ है, उसको न समझने वाला व्यक्ति न तो विनय का महत्व समझता है और न उसको अपने अन्दर धारण करने की इच्छा करता है। इस वाक्य का यही अर्थ है, हो सकता है कि जिस विद्या अर्थात् ज्ञान को प्राप्त कर के मनुष्य अहंकारी से ठीक विपरीत 'विनीत' हो जाता है उसका नाम विद्या है।

उपनिषद् - नीति वाक्य नहीं, यह शुद्ध धार्मिक अथवा आध्यात्मिक ग्रन्थ है। उपनिषदों में कई बार 'विद्या' का लक्षण किया है। विद्या को स्पष्ट समझाने के लिए अविद्या से भी परिचय कराया गया है। ईशोपनिषद् में कहा गया है -

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।"

मृत्यु अर्थात् मरणधर्मा संसार की यात्रा को सफल बनाने के लिए अविद्या का सहारा लेना आवश्यक है, परन्तु अविद्या से अमृत की प्राप्ति न होगी। अमृततत्व की प्राप्ति अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा तो 'विद्या' से ही होगा। उपलब्धियों में भारी अन्तर स्पष्ट है। इन उपलब्धियों

को प्राप्त करने के साधनों का भी स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। **विद्या का अर्थ ज्ञान है** । अविद्या का अर्थ सीधा अज्ञान होना स्वाभाविक है। परन्तु जब अविद्या को भव़सागर क़ो तरने का एकमात्र साधन बतलाते हैं, तब सन्देह होता है कि अविद्या केवल विद्या के अभाव का नाम नहीं हो सकता। भवसागर को पार करने की तरणि के रूप में स्वीकार किया गया पदार्थ अभावात्मक न होकर कोई महत्वपूर्ण पदार्थ है। विद्या और अविद्या में भेद करने के समय इन्द्रियों की सहायता से मन के द्वारा प्राप्त किये गए ज्ञान को, जब बुद्धि द्वारा परिष्कृत कर के अनुभव का रूप दे दिया जाता है, उसका नाम विद्या है। इस कोटि तक जो ज्ञान नहीं पहुँच पाता अर्थात् जिस इन्द्रिय जन्य ज्ञान को बुद्धि द्वारा परिष्कृत नहीं किया गया, उस ज्ञान को विद्या से भिन्न समझा जाता है। इसका तात्पर्य य ह कि विद्या के सर्वथा अभाव का नाम अविद्या नहीं अपितु विद्या परिष्कृत अर्थात् उसको बुद्धि रूपी छलनी में से निकाल कर अनावश्यक तत्व से पृथक् नहीं किया गया है, उस विद्या के प्रारम्भिक रूप का नाम अविद्या है। इस प्रकार अविद्या विद्या की जननी है। साधक पहले अविद्या का संग्रह करेगा। स्थूल जगत में उसका विनियोग करके उसके सम्बन्ध में बुद्धि द्वारा जो निर्णय करेगा उसका नाम विद्या होगा।

साधक के मन में प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि **'चक्षु विशेषज्ञ'** चिकित्सक के द्वारा प्रमाणित आँख से देखे गए पदार्थ के ज्ञान का बुद्धि द्वारा संशोधन की क्या आवश्यकता है?

स्वस्थ इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न ज्ञान तो निश्चय ही शुद्ध होना चाहिए परन्तु मन की सहायता के बिना इन्द्रिय काम कर नहीं सकती। मन की अनुपस्थिति में खुली आँख देख नहीं सकती। खुले कान सुन नहीं सकते। सांख्यदर्शन में कपिलाचार्य ने एक इषुकार का उदाहरण दिया है।

युद्ध हो रहा था, लोहार को आज्ञा दी गई कि प्रातः काल तक एक हज़ार तीर बना कर दो। देश पर आक्रमण आया संकट और राजा की आज्ञा प्राणपण से लोहार काम पर लगा हुआ था। प्रातः बेटा आया, बोला, 'पिताजी सेना मासबाजे के साथ घर के सामने से निकली, देखा आपने?' लोहार चकित होकर बोला, 'कब और कैसी सेना? कैसा मास ब़ाजा? मन लगा था राजाज्ञा पूरी करने में ।' आँख कान ने काम नहीं किया, और इस मन का सहयोग इन्द्रियजन्य ज्ञान में आवश्यक है। यदि मन निर्विचार और शुद्ध है तो ज्ञान भी शुद्ध होगा। परन्तु निर्विचार मन का अस्तित्व ही कल्पनातीत है। इस इन्द्रियों द्वारा संगृहीत परिष्कार के लिए एक प्रहरी बैठा दिया गया जिसका नाम बुद्धि है। यह बुद्धितत्व एक अनुपम पदार्थ है। यह बहुमूल्य पदार्थ केवल मनुष्य को ही मिला है।

इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान के परिष्कार (संशोधन) के लिए इसका उपयोग है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ छठे संकल्प विकल्पात्मक मन, इनके द्वारा संगृहीत अविद्या का संशोधन, एक भारी काम है। संभवतः इसीलिए निद्रा की स्थिति में स्वप्नों में बुद्धि का कोई उपयोग नहीं होता। व्यक्ति चलते-चलते हवा में उड़ जाता है। साथ चल रही पत्नी गाय बन जाती है। परन्तु बुद्धि इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करती। यदि जागने की स्थिति में ऐसी कल्पना कोई करे तो बुद्धि उसको स्वीकार नहीं करती। बुद्धि का जागना एक स्थिति है। इसमें भी जागरुकता की मात्रा का भेद है। बुद्धि जितनी प्रखर, तीव्र, कुशाग्र होगी उतना ही संग्रहीत ज्ञान के परिष्कार का काम सुचारु रूप से करेगी। निद्रावस्था में बुद्धि काम नहीं करती। इस तथ्य को इस प्रकार कहा जा सकता है कि बुद्धि जिस स्थिति में काम नहीं करती उस स्थिति का नाम निद्रा है। वे सब लोग जो बुद्धि से काम नहीं लेते जागते हुए भी सोते हुए के समान हैं ।

इसीलिए ऋषि ने कहा है -

"ये जागार तमृचः कामयन्ति ।"

बुद्धि से काम लेने वाले साधक के पास ऋचाओं में निहित उच्च विचार स्वयं ही उपस्थित हो जाते हैं। इतने विश्लेषण के बाद यह तो स्पष्ट हो गया कि बुद्धि पूर्वक काम करने वाला व्यक्ति **'विद्या'** का अधिकारी है और 'विद्या' अविद्या का परिष्कृत रूप है। अविद्या के बिना विद्या की सत्ता ही संभव नहीं। जिस तरह खलिहान में अनाज भूसे के साथ ही होता है, चतुर किसान अनाज को भूसे से जब अलग कर लेता है तब अनाज मानवमात्र के लिए उपयोगी हो जाता है। विद्या के पूर्व रूप अविद्या का संग्रह करने की प्रवृत्ति अहंकार से ग्रस्त व्यक्ति के परिग्रही स्वभाव का परिणाम है। इस अविद्या का संग्रह करने वाले व्यक्ति पण्डित अथवा आजकल डाक्टर कहलाते हैं। इनका अहंकारी होना स्वाभाविक है। क्योंकि अहंकार को पुष्ट करने के लिए ही कालेज और विश्वविद्यालयों की उपाधियाँ प्राप्त की जाती हैं। जितनी अधिक उपाधियाँ जिस व्यक्ति के पास होती हैं, उसका अहंकार उतना ही प्रगाढ़ और महान् होता है। यही उपाधि पतंजलि के शब्दकोष में बीमारी का वाचक है। वस्तुतः इन उपाधियों से ग्रस्त व्यक्ति अहंकारी होकर एक मानसिक व्याधि से पीड़ित होता है। इन पण्डितों को देख ही तो किसी ने कहा था-

"विद्या विवादाय ।"

विद्या पढ़ने के बाद अहंकारी व्यक्ति 'हां' कहना भूल जाता है। दिन को दिन स्वीकार करने में भी उसको अपने अहंकार पर प्रहार लगता प्रतीत होता है। संसारभर के अस्तित्व को

स्वीकार नहीं करता। जो प्रत्यक्ष है उसमें भी विवाद करने को उद्यत रहता है। जो इस विद्या के पूर्वरूप अविद्या को बुद्धिरूप छलनी से छान कर शुद्ध ज्ञान **'प्रतिबोध'** अथवा अनुभव का रूप दे देत है वह विद्या को प्राप्त कर लेता है - तत्त्वज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। वह तत्त्वज्ञान यह है कि जन्मजन्मान्तरों के निरन्तर प्रयन्त के बाद भी जिस अविद्या के संग्रह में लगा था उसका एक अंश भी वह प्राप्त नहीं कर सका। और जितना ही अविद्या का पर के ज्ञान का सांसारिक ज्ञान का मन के द्वारा संगृहीत ज्ञान का बोध बढ़ता जाता है; चित्त अधिकाधिक अशान्त होता जाता है। जब यह निर्णय प्रगाढ़ हो जाता है, वह अविद्या का परित्याग कर विद्या की शरण में आता है। विद्या की शरण में आने के बाद उसको विमय का उपहार मिलता है। अथवा विनय के बाद ही उसको वास्तविक विद्या की प्राप्ति होती है। वस्तुतः विनय ही वास्तविक विद्या है। अविद्या अहंकार दोनों समानार्थक हैं। जिस दिन साधक ने समझ लिया कि पाँच भौतिक संसार से सम्बन्ध रखने वाला सारा ज्ञान 'पर' का ज्ञान है। यह केवल 'अहंकार' को दृढ़ करने वाला है। इससे अशान्ति की वृद्धि होती है। उसी दिन तो 'पर' के ज्ञान के साथ 'अहंकार' का भी परित्याग कर देता है और सत्ता स्वरूप एक मात्र सत्य का उपासक बन जाता है। वह अनुभव करने लगता है कि -

"यथा सुदीप्तात् पावकान् प्रवर्तन्ते सहस्रशो विस्फुलिङ्गा"

उसका अहंकार कर्ता ज्ञाता और पण्डित होने का अभिमान जाता रहता है और उसका मस्तक उस अज्ञेय अदृश्य सत्ता के प्रति विनयावनत हो जाता है। इस ही आशय को लेकर कवि ने कहा -

'विद्या ददाति विनयम् ।'

....

(10)

परम्परा

ऐसा माना गया है कि प्राणीमात्र में केवल मनुष्य ही बुद्धिजीवी होने से श्रेष्ठ है। जो बुद्धि से हीन है, वह यदि अपने आचरण में किसी का अनुकरण करता प्रतीत हो तो स्वाभाविक समझा जाएगा, परन्तु जब हम देखते हैं कि मनुष्य मात्र परम्परा नामक विष से पीड़ित है तब यह मन्तव्य कि मनुष्य बुद्धिजीवी है, असत्य प्रतीत होने लगता है। गहराई में जाने के बद ऐसा निर्णय लेना अधिक संगत है कि मनुष्य की नैतिक रचना इस प्रकार की है कि वह अवस्थाएं अनुकूल हों और प्रयत्न करे तो बुद्धिजीवी बन सकता है। बुद्धिजीवी का तात्पर्य यह कि उसका दैनिक आचरण बुद्धिपूर्वक होने लग जाएगा। यदि दुर्भाग्यवश उसको जन्म से ही अनुकूल परिस्थिति न मिली, अपनी बुद्धि को विकसित करने का अवसर न मिला, तो अपना सारा जीवन नकल करने में बिता देगा। इस अनुकरण का समाज ने एक बड़ा सुन्दर नाम रख छोड़ा है **'परम्परा'**।

'परम्परा' का शब्दार्थ ही यह है कि किसी ने प्रश्न किया कि आपने ऐसा क्यों किया? उत्तर में उसने कहा - 'दूसरे ने भी ऐसा किया था।' उस दूसरे से पूछा गया कि 'तुमने ऐसा क्यों किया?' उत्तर यही होगा कि दूसरे ने भी तो ऐसा किया था। इसी का नाम है **'परम्परा'**। इसमें बुद्धि को कोई स्थान नहीं। सोचने विचाने में तो श्रम होता है, 'परम्परा' में अनुकरण में कोई श्रम नहीं। इस 'परम्परा' नाम की भयंकर छूत की बीमारी को जन्म देने वाले ने हो सकता है कभी कारणवश, परिस्थितिवश अथवा अकस्मात् ही वैसा आचरण किया हो, परन्तु मनुष्यमात्र में उपस्थित तामसिक वृत्ति आँखे बन्द कर उसका अनुसरण करने लगती है। सोचने समझने पर भी, यह जान लेने पर भी कि वह 'परम्परा' बुद्धिपूर्वक नहीं, मानवता के अनुरूप नहीं, उसका परित्याग नहीं कर सकता। अनेक परम्परा बुद्धिपूर्वक अर्थात् समझदारी के साथ चलाई गई, चल रही हैं, अथवा भुला दी गई हैं। 'गोपालन' गो दुग्ध सेवन की एक प्राचीन आर्ष परम्परा बड़ी बुद्धिपूर्वक चलाई गई थी। प्राचीन आर्ष साहित्य उससे ओतप्रोत है। वर्तमान वैज्ञानिक के द्वारा भी सर्वसम्मत है। परन्तु आज के आर्यावर्त निवासी आर्य कहलाने वाले वर्ग ने भी उस बुद्धिपूर्वक प्रवर्तित 'परम्परा' का परित्याग कर दिया। कारण केवल तमोगुण की प्रधानता उत्कर्ष अथवा आसक्ति है। स्वाभाविक है कि तमोगुण प्रधान

समाज, तमोगुण प्रधान भैंस के दूध को ही पसंद करेगा। बुद्धिपूर्वक काम करने वाला व्यक्ति अथवा समाज किसी भी परम्परा को केवल उसके परम्परागत होने से ही स्वीकार नहीं करेगा और न किसी उपयोगी परम्परा का इसलिए परित्याग करेगा कि वह प्राचीन है।

"पुराणमित्येव न साधुसर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्"

परम्पराएं तो पुरानी होंगी ही उनका परित्याग केवल इसलिए नहीं कि वे पुरानी हैं। नवीनता में स्वाभाविक आकर्षण है। इस आकर्षण के वशीभूत होकर तत्काल उसको स्वीकार कर लेना भी बुद्धिमत्ता नहीं। वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले कितने ही विद्वान ईसाईयत के चिह्न 'टाई' को गले में लटका कर अपने को धन्य समझते हैं। विदेश में कालीदास जयन्ती पर जाने वाले एक संस्कृत के प्रकाण्ड भारतीय पण्डित का वेष ईसाईयों का, गले में गलग्रन्थी (नैक्टाई) और भाषा अंग्रेजी थी। यह मनोवृत्ति मानवीय नहीं वानरीय है। इस अनुकरण की वृत्ति का जन्म आत्म परिचय के अभाव में होता है। जिसको अपनेपन, अपनी संस्कृति, और अपने पूर्वजों के चरित्र का ज्ञान नहीं, उसके गौरव का अभिमान नहीं, वह एक निर्वीर्य भिक्षुक की तरह जहाँ कोई रंगीन कंकड़ देखता है, उठा कर अपनी झोली में डाल लेता है। इस प्रकार के भिक्षुक तैयार करने का उत्तरदायित्व उस समाज पर है जो स्वयं अन्धपरम्पराओं का अनुगामी होकर अपने अनुपम उपहार 'बुद्धि' को तिलांजलि देकर मानव जन्म लेकर भी अपनी बुद्धि को काम में लाने से स्वयं वंचित रहा और आगे आने वाली सन्तानों की आँखों पर पर्दा डाल कर उनको भी **'अन्धेर्नवनीयमाना यथान्धाः'** की औपनिषद् उक्ति को चरितार्थ करते हैं।

जिस तरह वास्तविक श्रद्धा मन की सर्वोच्च स्थिति है परन्तु वही श्रद्धा जब अंधश्रद्धा का रूप ले लेती है, तो व्यक्ति की अवनति का प्रमुख साधन बन जाती है । इसी तरह बुद्धिपूर्वक स्वीकार की गई परम्परा अपने पूर्वजों की संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान और चौमुखे उत्कर्ष का स्मरण दिला कर, व्यक्ति को सन्मार्ग पर प्रेरणा देने वाली होती है। यही परम्परा जब अन्धपरम्परा बन जाती है तो विनाश की अतुल गहराई तक ले जाती है। धर्म को मानने वाले सभी मनुष्य न्यायकारी दयालु ईश्वर को स्वीकार करते हैं, परन्तु परम्पराओं से ग्रस्त उनके कर्मकाण्ड संसार में फैली हिंसा और विद्वेष का ही नहीं मानव जाति के सर्वनाश का भी कारण बन जाते हैं।

अंधपरम्परा का एक ज्वलन्त उदाहरण इसी कुम्भ मेले में देखने को मिला। गंगा की धाराओं के बीच में निकले, रेतीले मैदानो में, शिविरों में ठहरने वाला एक भक्त प्रातःकाल मलोत्सर्ग के लिए कुछ दूर निकल गया। उसे क्या मालूम था कि और लोग भी इधर भ्रमणार्थ आ रहे हैं।

जल्दी में उसने मल को रेल से ढ़क दिया, और कोई सन्देह भी न करे, अपने जेब से निकाल कर दो फूल भी उस ढेरी पर रख दिए। अंधपरम्परा के शिकार नवागन्तुक भक्तों ने भी आसपास ढेरियाँ बना कर फूल चढ़ाने प्रारम्भ कर दिए। फूलों की बढ़ती मांग देख कर एक माली ने वहीं फूलों की दुकान खोल दी। एक छोटा-मोटा मेला लग गया।

अंध श्रद्धालुओं की दुर्दशा का कारण तो उनकी मानसिक हीनता कही जा सकती है। परन्तु जब हम अपने सुशिक्षित वर्ग में व्याप्त इस परम्परा नामक रोग को कर्मकाण्ड के रूप में व्याप्त होता देखते हैं तो चिन्ता का जन्म स्वाभाविक है। साधक कर दिनचर्या में कर्मकाण्ड का स्थान "दिशानिर्देशक" का है। यदि दिशा निर्देश करने वाले मील के पत्थर प्रति दस गज पर लगा दिये जायं तो, या तो राहगीर उनकी सर्वथा उपेक्षा करके अपने रास्ते पर चलता जाएगा अथवा उन मील के पत्थरों का आदर करके प्रत्येक पत्थर पर अंकित सूचना पर ध्यान देने का प्रयत्न करेगा। वह दिनभर पत्थरों को ही पढ़ता रह जाएगा। रास्ता चलने का उसको समय ही नहीं मिलेगा।

वास्तविक कर्मकाण्ड तो व्यक्ति की दिनचर्या है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन निर्वाह के लिए कुछ न कुछ अपने ऊपर भोजन, वस्त्र, निवास आदि पर व्यय करता है। यह व्यय उसके ऊपर ऋण के समान है। इस ऋण को उतारना आवश्यक है। ऋण को उतारने का एकमात्र साधन उसका दैनिक आचरण है। प्रत्येक आश्रम का दैनिक आचरण भिन्न-भिन्न प्रकार का होना स्वाभाविक और आवश्यक भी है। एक साधक की दिनचर्या गृहस्थ की दिनचर्या से सर्वथा भिन्न होनी चाहिए। गृहस्थ आश्रम में रहता हुआ अपने परिवार के भरण पोषण का उत्तरदायित्व निबाह रहा था। साधक बनने बाद वह उस उत्तरदायित्व से मुक्त हो गया है। इस मुक्ति का लौकिक नाम 'रिटायर' होना है। रिटायर होने के बाद समझा जाता है कि अब कोई काम नहीं।

वस्तुतः जीवन को मृत्यु का मार्ग मात्रन बनाने और अपने मनुष्य जीवन को चरितार्थ करने का यही अवसर है। जीवन की इस स्वर्णिम घड़ी को खा-पीकर सोजाने या समय को गपशप में बरबाद करने की अपेक्षा मनुस्मृति में विहित दिनचर्या में ही बिताना चाहिए। इस दिनचर्या का पालन वही साधक कर सकता है जो अपने को अंधपरम्परा से मुक्त रखे। परम्परागत कर्मकाण्डों को केवल दिशानिर्देशक मानकर उन कर्मकाण्डों का अभिप्राय समझना चाहिए। उन दिशा-निर्देशक मील के पत्थरों को सर्वस्व न समझ कर उन्हीं में समय न बिता कर शास्त्र विहित दिनचर्या के अनुसार आचरण करना चाहिए। साधक के लिए जिस दिनचर्या का विधान है उसमें प्रमुख स्थान एक तो अपना भोजन-पान यथासंभव स्वयं उत्पन्न करना और दूसरा है - 'स्वाध्याय प्रवचन'। दैनिक

सायं, प्रातः किया जाने वाला कर्मकाण्ड केवल दिशा निर्देशक होना चाहिए। साधक यदि अपनी शक्ति और समय का बड़ा भाग परम्परागत कर्मकाण्ड पर ही व्यय करता है तो यही कहा जाएगा कि मंजिल की तरफ अग्रसर होने के स्थान पर वह मील के पत्थरों को ही गिनता है । महर्षि दयानंद प्रणीत पंचयज्ञों में दो प्रमुख यज्ञ ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ में नए जुड़े कुछ ही मंत्र हैं। उनका शुद्ध पाठ, अर्थज्ञान और भावार्थ का चिंतन दिन के अंश का काम है ।

....

अनन्त यात्रा

यात्रा करने वाला कोई भी क्यों न हो - आवश्यकता नहीं कि केवल मनुष्य ही एकमात्र यात्री है - पशु-पक्षी, जलचर, नभचर सभी यात्रा पर निकलते हैं । सब की यात्रा में बात समान होती है कि यात्रा का उद्देश्य अवश्य होता है और यदि यात्रा का उद्देश्य कोई न हो तो उसको यात्रा कहना उचित न होगा, वह भटकना कहलाएगा ।

उत्तरी ध्रुव के साथ लगते समुद्र की मछलियाँ ठण्डक से अपने बच्चों को बचाने के लिए दो हजार मील की यात्रा करती हैं। रूस के साइबीरियन 'बनगवे' सर्दी के महीनों में छह हजार मील की यात्रा करके भारत आदि उष्णकटिबंध स्थित देशों में आते और वसन्तागमन के साथ वापसी यात्रा करते हैं। किसी प्रागैतिहासिक काल में भरणमकूल के निवासियों ने ही अमेरिका के विशाल प्रायद्वीप को आबाद किया था जिनके ध्वंसावशेषों को आज रेडइण्डियन कहते हैं। दक्षिण अमेरिका में उपलब्ध माया संस्कृति के चिह्न भी इसी लम्बी यात्र के परिचायक हैं। सारांश यह कि यात्रा में किसी न किसी उद्देश्य से किसी न किसी लक्ष्य पर जाने के लिए ही की जाती है। ये साधारण यात्राएं हमारा विषय नहीं। हम तो एक ऐसे यात्री की ऐसी यात्रा का रेखाचित्र अंकित करने लगे हैं जिसमें यात्री की यात्रा का न तो कोई अन्त है न उसकी यात्रा लक्ष्य यात्री को कभी प्राप्त हो सकता है।

यात्री का नाम है **'आत्मा'**। आत्मा शब्द का अर्थ है निरन्तर गति करने वाला। अनादि काल से गति करता यह जीवात्मा इतनी लम्बी यात्रा पर निकला हुआ है जिसमें अस्सी लाख पड़ाव हैं। और न मालूम कितने चक्कर, इन स्टेशनों के लगा चुका है। और नहीं मालूम, अभी और कितने चक्कर लगाने शेष हैं। इस अनादि अनन्त यात्रा का मूल कारण यह है कि उसको (यात्री को) आत्मा को अपने अभीष्ट पड़ाव का पता नहीं। पता नहीं क्या कारण है कि अभीष्ट साध्य पड़ाव स्वयं अज्ञेय है। अज्ञेय का अर्थ यह है कि आत्मा जिन साधनों को लेकर पड़ाव पर पहुँचने के लिए चला था उन साधनों का उसने सदुपयोग नहीं किया।

एक पिता ने अपने पुत्र को ढ़ाई रुपए दिए कि बाजार जाकर सेर भर आटा ले आओ। लड़का अवश्य ही अधिक समझदार रहा होगा। रास्ते में ताजी जलेबियाँ बन रही थी, पाव भर ली,

पैसे चुक गए, घर खाली हाथ आ गए। यही हालत जीवात्मा की रही। उसको बुद्धिमान् का एक बड़ा अमूल्य उपहार दिया गया था कि इससे काम लोगे तो जीवन की बहुत-सी परेशानियों से बच जाओगे। जीवात्मा के हाथ एक सीढ़ी लग गई थी जिस पर चढ़कर वह आसमान के तारे छू सकता था, परन्तु उसने परम सीढ़ी का उपयोग किया, गहरी अंधकारमयी कृमि कीटों से भरी तंग घाटी में उतरने में उस अंधेरी घाटी में जाकर उसको लगा कि जीवन केवल दुःख ही दुःख है। गड्ढों में पानी भरा, मच्छरों की दिन-रात भनभनाहट, साँप-बिच्छुओं की भरमार। मलेरिया बुखार से पीड़ित बच्चों को इलाज कराते डाक्टरों की फीस भरते परेशान, धूप के दर्शन नहीं; कपड़े एकबार गीले हुए, वे सूखने का नाम नहीं लेते - यह भी कोई जीवन है। परन्तु उनसे पूछा गया, कि आप सीढ़ी से ऊपर खुले मैदान और सुन्दर पहाड़ी इलाकों में जाने के स्थान पर नीचे क्यों उतरे ? कारण यह कि ऊपर चढ़ना श्रमसाध्य है, नीचे उतरने में कोई श्रम नहीं। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति स्वयं खींच लेती है। लुढ़कना आसान है। परिश्रम से बचने की तामसिक प्रवृत्ति, मनुष्य के क्लेश का मूल कारण है। फिर विषयों में आसक्ति कामना को जन्म देती है। कामना और शक्ति का संयोग होते ही सकाम कर्म की उत्पत्ति होती है। यह संसारी व्यक्ति की दौड़धूप का मुख्य कारण है। कोई धन-संग्रह करने के पीछे पागल है, कोई यश, पद और कुर्सी के लिए प्रयत्नशील है; कोई पुत्र प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ महात्माओं और मठाधीशों की चरणसेवा में लगा है - कामना, कामना-कामना! इन कामनाओं का कभी किसी ने पार नहीं पाया। एक कामना हाथ आते-आते दूसरी लुभावनी कामना सामने आकर उपस्थित हो जाती है। जीवात्मा परेशान है। उसको अपनी यात्रा के अभीष्ट लक्ष्य की तरफ देखने या सोचने का भी अवकाश नहीं। एक तो अभीष्ट लक्ष्य **'परब्रह्म'** उसकी वर्तमान इन्द्रियों के पहुँच के अन्दर नहीं, दूसरे उसको कामनाओं के दुश्चक्र से बाहर निकलने का मार्ग विस्मृत हो चुका है। जन्म-जन्मान्तरों से इन्हीं अभीष्ट कामनाओं का भोग करते-करते वह लगभग भूल चुका है कि वह कौन है। पाँच भौतिक शरीर के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? उसे इतना भी तो ध्यान नहीं कि वह स्वयं अपना मालिक है या शरीर ही उसका मालिक है। उसका सांसारिक व्यवहार तो यही बतलाता है कि उसका शरीर ही नहीं जिस-जिस पदार्थ में उसने ममत्व किया है, उसको अपना जाना है वह सब उसके मालिक हैं।

पिता-पुत्र सैर करने जा रहे थे। एक किसान पास के मेले से मोल लेकर एक गाय को गले में रस्सी बाँध कर ले जा रहा था। जिज्ञासु बालक ने पिता से पूछा, "किसान गाय को गले में रस्सी बाँध कर क्यों ले जाता है?" पिता दार्शनिक रहा होगा, बोला - "यह किसान गाय का गुलाम है।" किसान चौंक कर बोला, "क्या कहा? मैं गाय का गुलाम हूँ! मैं रसीद दिखा सकता हूँ, मेले में से खरीद कर लाया हूँ।" पिता ने कहा, "इसके गले से रस्सी खोल दो, मालूम हो जाएगा - कौन

मालिक है और कौन गुलाम है । यदि गाय तुम्हारे पीछे दौड़े तो गाय गुलाम, तुम मालिक; और यदि तुम गाय के पीछे दौड़े तो गाय मालिक, तुम गुलाम ।" संसार का कोई भोग्य पदार्थ भोक्ता के पास दौड़ कर नहीं, भोक्ता ही भोग्य पदार्थों के पीछे दौड़ता है। इस दौड़ के मूल में कामना है। कामना की उत्पत्ति, जीवात्मा की अनादि वासना है। अनादि वासना आत्मा की अविद्या अथवा अज्ञान के कारण है। आत्मा को स्वरूप का ज्ञान होने से अपने परम सखा की उपस्थिति का भी ज्ञान नहीं होता। इस नकारात्मक अनुभव से उसको एक अभाव की प्रतीति होना स्वभाविक है। प्राकृतिक जड़ पदार्थ महत्तत्त्व से अहंकार नाम का एक साधन लेकर वह अचेतन प्रकृति से निर्मित, नाना प्रकार के चित्र-विचित्र पदार्थो का संग्रह करके, उनमें ममत्व कर के अभाव प्रतीति को विफल करने का प्रयत्न करता है। इस अभाव प्रतीति का मटका बेपेंदे का है। चाहे जितनी कामनाएं उसमें भरते जाओ वह खाली का खाली ही रह जाता है। कोई विरल ही भाग्यशाली ऐसा व्यक्ति होगा जो अपनी इन विफलताओं से कोई अनुभव ले। ऐसा सौभाग्यशाली साधक प्राकृतिक विषयों, भोग्य सामग्री को जीवन की विफलता का मूल कारण समझ कर उन में वैराग्य कर देता है। अधिक सौभाग्यशाली होगा वह साधक जिसको इस स्थिति में कोई सच्चा दीक्षागुरु मिल जाय, और साधक की मनःस्थिति, उसकी स्वाभाविक प्रर्वृत्ति को जानकर, सही दिशानिर्देश कर दे। सही दिशानिर्देश मिल जाने पर साधक ध्यानकी स्थिति को प्राप्त कर लेता है। ध्यान की स्थिति में साधक क्षणभर के लिए निर्विषय हो जाता है। अभ्यासवश यह क्षण लम्बा होते-होते 'धारण' का रूप धारण कर लेता है। पुराने अभ्यास की प्रगाढ़ता के कारण साधक का अहंभाव, अभी समाप्त नहीं हो पाया है । निरन्तर अभ्यास से विषयों के साथ साधक की अहं प्रतीति भी जाती रहती है। इस अवस्था का नाम समाधि है। जीवज्ञत्ज्ञम अपनी लम्बी यात्रा के अन्तिम चरण में पहुँच गया प्रतीत होता है। ध्यान रहे कि यह वास्तविक तथ्य नहीं। उस समय **'यथा दीपो निवात स्थो'** की स्थिति में जीवात्मा की चेतना 'पर' से जड़ प्राकृतिक विषयों से सर्वथा व्यावृत्त होता हुआ अपने प्राचीनतम अज्ञान (शरीर को 'स्व' जानना) से भी मुक्त हो जाता है । उस समय वह **'आत्मज्योति'**, **'आत्मक्रीड'**, **'आत्मरति'** आदि विशेषणों से युक्त अपना साक्षात्कार **'स्वानुभव'** करता है। उपनिषत्कार का कथन है कि इस ही स्थिति में उसको अपने परम सखा परम चेतन, परब्रह्म की सत्ता का भी आभास मिल जाता है। यह अपने भीतर बाहर स्थित परम सखा की उपस्थिति कितनी आनन्ददायक होगी, इसका अनुभव किसी प्रिय परिजन के साधारण लौकिक वियोग के बाद मिलन होने के समय होने वाले आनन्द से लगाया जा सकता है। लाखों-करोड़ों या इससे भी अधिक समय से वियुक्त परम सखा की उपस्थिति का आभास प्राप्त कर के जीव आत्मा को परम आनन्द की प्राप्ति तो अवश्य हुई परन्तु उसकी यात्रा का अन्तिम पड़ाव अभी तक नहीं आया। महर्षि दयानन्द सरस्वती का मत है कि मुक्त आत्मा अर्थात् सांसारिक बन्धनों से मुक्त विवेकख्याति प्राप्त जीव आत्मा मुक्ति की अवस्था में भी अपने सूक्ष्म शरीर के साथ

परब्रह्म के भीतर यथाक्रम भ्रमण करता लोक लोकान्तरों का दर्शन करता मुक्त आत्माओं के साथ वार्तालाप आदि करता रहता है। उसके वर्णन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पंचभूतों से निर्मित स्थूल संसार से मुक्ति को छोड़ कर वहां अधिक विशेषता नहीं। मुक्त आत्माओं से मिलना, पृथक् होना, यथा काम लोक-लोकान्तरों का भ्रमण आदि से स्पष्ट है कि इस संसार के विषयों की कामना नहीं रहती। परन्तु कामनाओं ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। ये कामनाएं ही इस नश्वर संसार में मानो कि जीवात्मा की नाक में नक़ेल डाल कर यहां से वहां भटका रही थी। अब परिस्थिति भिन्न है। स्थूल संसार की जगह मुक्त आकाश है। स्थूल इन्द्रियों की जगह सूक्ष्म शरीर है। भोक्तृत्व दोनों दशाओं में एक समान है। कामनाओं का स्वरूप बदल गया है। पहले सांसारिक विषयों - धन, पद, यश, पुत्र आदि की कामनाएँ सता रहीं थीं अब परब्रह्म की आश्चर्यजनक रचना लोकलोकान्तरों का दर्शन करके मुक्तात्माओं के साथ सत्संग करके सांसारिक दुःख मिश्रित सुख का अनुभव करने के स्थान पर जिस अनुभूति का आस्वादन कर रहा है उसका नाम है **'आनन्द'**। इतना परिवर्तन एक महान् परिवर्तन है। परन्तु आत्मा की यात्रा का अन्त नहीं हो सका। कामना का रूप बदलने के साथ नकल भी रेशम की होगई होगी। यात्रा के साधन मोटर और विमान के स्थान पर अधिक वेग वाले और कामना के आधार पर चलने वाले होंगे।

परब्रह्म अनन्त है। मुक्ति काल भी गणनातीत-सा लगभग अनन्त है। उसका यात्री उस देश का बंजारा इस संसार में भटकता रहा। मुक्त होने पर भी यात्रा ही कर रहा है। शायद इसीलिए इस त्रैकालिक यात्री का नाम **'आत्मा'** है। चलना - चलना - निरन्तर चलते रहना - यही उसका रूप है ।

....

(12)

तपः श्रद्धे आदि

मुण्डक उपनिषद् में अंगिरा ऋषि का उपदेश वाक्य वानप्रस्थाश्रमियों के लिए दिशानिर्देश करने वाला होने के साथ साधना का स्वरूप बतलाता हुआ **'अव्ययात्मा पुरुष'** का साक्षात् दर्शन भी करा देता है। इस वाक्य का प्रारम्भ तो **'तप'** से और समाप्ति होती है अव्ययात्मा की अनुभूति के साथी **'तप'** से। प्रारम्भ करना इस बात का द्योतक है कि साधना का मार्ग बहिरंग और अन्तरंग इन्द्रियों के लिए साधारणतया प्रीतिकर न होगा। साधारणतया का तात्पर्य यह कि सांसारिक जीवन में जिस तरह हमारे सारे कर्मों के शुभ-अशुभ होने का निर्णय इन्द्रियों के लिए होना था, साधनाकाल में वह कर्म हो सकता है कि प्रारम्भ में वैसा सुखद प्रतीत न हो।

'तप' का अभिप्राय यह है कि साधना की भावना प्रगाढ़ होने पर साधक अपनी साधना के मार्ग में उपस्थित होने वाले प्रसंगों को जो कि जीवात्मा के ग्यारह कारणों को सुखद न भी प्रतीत होते हों उनको परीक्षा समझ कर उत्साह और उल्लास के साथ उनका स्वागत करेगा। लक्ष्य प्राप्ति में उपस्थित होने वाले दुखद प्रसंगों को साधना का एक आवश्यक अंग समझ कर उनको पार करने के स्थान पर बड़े हर्ष के साथ उनका स्वागत करता है। विघ्नों का स्वागत कर उनका सामना करके उनको परास्त करने में साधक को प्रसन्नता होती है। इसी भावना का नाम है **'तप'** ।

तापसी साधक आने वाले अनिष्ट प्रसंगों की कल्पना से भयभीत होकर साधना मार्ग को स्वीकार ही नहीं करता। राजसी साधक देखादेखी साधना मार्ग पर चल तो पड़ता है परन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों के सामने आने पर लौट पड़ता है। सात्विक साधक उत्तम कोटि का होता है। वह एक बार साधना को प्रारम्भ करने के बाद लौट कर पीछे की तरफ नहीं देखता। विघ्न पर विघ्न उपस्थित होते हैं - सहर्ष उनका सामना करता है, और अधिक उत्साह के साथ अभीष्ट लक्ष्य की तरफ बढ़ता जाता है। इस उत्तम कोटि के साधक का नाम है **'तपस्वी'**। तपस्वी हुए बिना लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं । साधारण से साधारण सांसारिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को कितना कष्ट उठाना पड़ता है, जबकि इस नैतिक लक्ष्य का कुछ भी मूल्य नहीं। साधक जिस लक्ष्य

को सामने रख कर अग्रसर हुआ है उसको बहुमूल्य कहना भी उसका अपमान होगा। उसका मूल्यांकन हो नहीं सकता।

अव्ययात्मा पुरुष के दर्शन के मार्ग में कठिन से कठिन परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर भी तपस्वी साधक अपने निश्चित मार्ग से विचलित नहीं होता। साधना को तप से प्रारम्भ करने में एक और भी सौन्दर्य है। प्रश्नोपनिषद् में सृष्टि रचना का प्रारम्भ **'तप'** से ही किया गया है। **'सतयोऽतप्यत्'** ऋषि का अभिप्राय यह है कि किसी भी याज्ञिक कार्य को सफलता के साथ सम्पन्न करने के लिए कर्ता का तपस्वी होना आवश्यक है।

तप के बाद वाक्य में दूसरा स्थान **'श्रद्धा'** को दिया गया है। साधारणतया श्रद्धा के दो रूप हैं - एक तो **'तामसी श्रद्धा'** जिसको **'अन्धश्रद्धा'** भी कहते हैं, और दूसरी **'सात्विक श्रद्धा'** जिसका निर्देश ऋषि को अभिप्रेत है । 'श्रद्धा' का शब्दार्थ सत्य को धारण करने की मनःस्थिति है। सांसारिक व्यवहार के 'असत्य' का सहारा लेकर जीवन के स्वर्णीम भाग को व्यतीत करने के बाद भी, जिस साधक को सांसारिक उपलब्धियों से, मनचाही शान्ति न मिली वह अब 'सत्य' का सहारा लेकर अपने जीवन की एक नई रूपरेखा का निर्माण करना चाहता है, जिसने अपने अतीत जीवन के अनुभवों से यह प्रमाणित कर लिया है कि **'नस्त्यकृतः कृतेन'** सकाम कर्मो के द्वारा उस **'अव्ययात्मा'** पुरुष का साक्षात्कार नहीं हो सकता। केवल वही साधक सत्य की खोज करने और उसको अपने जीवन में धारण करने का व्रत ले सकता है। साधक सत्य को धारण करने से पहले सत्य की खोज करना आवश्यक समझता है। सत्य ही खोज के लिए उसको किसी सद्गुरु - दीक्षागुरु - आचार्यादि के पास जाना पड़ता है। ऐसे सत्य की खोजियों ने भारत के भी नहीं सारे संसार की कई परिक्रमाएं की हैं। साधारण साधक भी भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक अनेक गुरुओं, महन्तों, मुनियों आदि के आश्रमों में जाकर **'मनचाहे सत्य'** का दर्शन करना चाहता है। यह भटकते साधक 'मनचाहे सत्य' का दर्शन करना चाहते हैं, **'यथार्थ सत्य'** का नहीं। सबसे पहले साधक एक राजयोगी के पास गया। उसने अष्टांगयोग का मार्ग सर्वोत्तम बताया जिसमें यम-नियम आदि की साधना से प्रारम्भ करके प्राणायाम प्रत्याहार का लम्बा कोर्स था, साधक के यह पूछने पर कि अभीष्ट सिद्धि **'अव्ययात्मा पुरुष'** के दर्शन कब तक हो जाएंगे? राजयोगी ने योग दर्शन का उद्धरण देते हुए कहा **'तीव्रसंवेगानामाहान्नः'** जिज्ञासा की तीव्रता पर निर्भर है कि कार्य सिद्धि में कितना समय लगेगा ।

जिज्ञासा प्रबल है तो संभव है कि एक दो जन्मों में ही 'आत्मा अनुभूति' हो जाय, और यदि जिज्ञासा नाममात्र ही है तो अनन्त समय तक भी प्रतीक्षा व्यर्थ हो सकती है। भटकता साधक सीधी-सादी बेलगाम बात सुनकर वहाँ से भागा। एक और हठयोगी के साधना शिविर में जा पहुँचा।

शीर्ष भुजंग मत्स्य आदि अनेक आसन सीधे, प्राणायाम की अनेक विधियाँ आजमाई, 'आत्मदर्शन' की दिशा की ओर एक पग भी न बढ़ा । निराश होकर वहां से एक मठाधीश के पास गया। मठाशीध का वैभव आकर्षक था। उस की आज्ञानुसार सर्वस्व समर्पण के बाद किसी प्रकार की चिन्ता की आवश्यकता न रहेगी। प्रातः गंगास्नान के बाद सौ गायत्री जप करना नित्यकर्म होगा। मरने के बाद बैकुण्ठ लोक की प्राप्ति होगी। अभी तक तो साधक इस जन्म की उपलब्धि को देखता था। मठाधीश ने इस लोक की उपलब्धि का प्रश्न ही समाप्त कर दिया। यह तापसी साधक बड़ा प्रसन्न हुआ। न यम-नियम व्रतों की साधना न हठयोग के आड़े तिरछे आसन, केवल गंगास्नान और गायत्री जाप और उपलब्धि बैकुण्ठवास । इन तापसी साधकों की 'श्रद्धा' श्रद्धा नहीं अंधविश्वास है। ऋषि मुनियों ने इस 'अंधं विश्वासकों' को वैय्यक्तिक और सामाजिक अधःपतन का मुख्य कारण बतलाया है। इस अंधविश्वास से ग्रस्त संसारभर के मतानुयायी इसी 'अंधविश्वास' को धर्माचरण मान कर पारस्परिक रागद्वेष से ग्रस्त होकर एक दूसरे का सर्वनाश करने पर उद्यत रहते हैं। कहाँ श्रद्धा का सात्विक रूप, जिसमें साधक प्राणीमात्र में, उसी एक मात्र चेतन की उपस्थिति जान कर प्राणीमात्र ही नहीं पदार्थमात्र में मैत्री भावना जागृत करना है। और कहाँ यह अंध विश्वास जो अहंकार और स्वार्थसिद्धि की भावना से पीड़ित सारे संसार को एक दहकती अग्नि ज्वाल में धकेल देता है । सात्विक श्रद्धालु आत्मानुभूति नामक परम सत्य को प्राप्त करने का अभिलाषी सद्‌गुरु के मार्गदर्शन में साधना पथ पर अग्रसर होकर मार्ग में आने वाले विघ्नों से हँसता हुआ टक्करें लेता अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

तीसरा शब्द है **'उपवास'**। 'उपवास' मुख्यरूप से दीक्षागुरु के वचन के ध्यान से सुनने और उन पर आचरण करने के लिए उसके समीप निवास करना है। गुरु के वचन को सुनने के समय आलस्यादि दोष उपस्थित न हों। इसलिए लघु और मित आहार करने का विधान है। गृहस्थाश्रम में सुखी जीवन बिताने वाले साधकों ने जिह्वा आदि इन्द्रियों की तृप्ति के लिए गरिष्ठ भोजन पान आदि से शरीर में मांसमेद का संचय कर लिया था। उस संचित मेद को, लघु और मित व्यवहार से अपचित करना उपवास का अभिप्राय है। इस उपवास से आलस्य में कमी होगी, अति भोजन से उत्पन्न, अनेक शारीरिक व्याधियों में कमी और निरास भी संभव है। तमोगुण में कमी आ जाने से, मानसिक और बौद्धिक विकास में उन्नति होगी। बौद्धिक विकास की पराकाष्ठा का नाम विवेकख्याति है। इस विवेकख्याति को प्राप्त करने के लिए ही यम-नियमादि योग के आठ अंगों के अनुष्ठान का विधान है।

वानप्रस्थियों के लिए चौथा व्रत **'अरण्य'** है। यास्काचार्य ने 'अरण्य' का अर्थ 'अरमणं' किया है। जो मनमोहक न हो, जिसमें इन्द्रियों को विषयों में आकृष्ट करने वाली सामग्री का अभाव

हो। खान-पान, रहन-सहन, सब सादा हो। भोजन को अधिक रुचिकर बनाने से, स्वभावतः भोजन में भूख के स्थान पर जिह्वा के रस का अधिक स्थान होगा, और आवश्यकता से अधिक भोजन पेट में चला जाएगा। इसका यह अभिप्राय नहीं कि भोजन को नीरस करने का यत्न किया जाय। भोजन में 'कृत्रिमता' कम से कम लाई जाय। जहाँ तक हो सके प्राकृतिक अवस्था में ही लिया जाय। आवश्यकता होने पर ही अग्नि संयोग किया जाय। नमक, मिर्च, मसालों का प्रयोग कम किया जाय। ऐसा सात्विक भोजन भूख के अनुसार ही किया जाएगा। इस ही तरह वस्त्रों में भी सादगी का ध्यान अधिक रखा जाय। निवास के योग्य कुटी को भी शारीरिक सुखों के साधनों से सुसज्जित न किया जाय। सारांश यह कि इन्द्रियों की तृप्ति के लिए अभी तक जिन साधनों का सहारा लिया और देख लिया कि उनसे उन इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हुई - उन तृप्ति कारक साधनों को फिर संग्रह करने का प्रयत्न न किया जाय। यह मनःस्थिति तभी संभव है जबकि साधक ने विषयों में दोष दर्शन कर लिया हो। ऐसी दशा में पांचवा व्रत उपस्थित करते हैं **'शान्त'** ।

'शान्त' किसको करना है? अशान्त कौन होता है? अशान्ति का कारण क्या है? पहले यह समझ लेना आवश्यक है। अतृप्त वासनाएं व्यक्ति को अशान्त करती हैं। वायु स्थिर हो तो झील का पानी शान्त होता है। वायु के झोंके आते हों तो पानी अशान्त होगा। उसमें तरंगे उठने लगेंगी। जब चित्त में अतृप्त वासनाओं की तरंगे उठती हैं, तब चित्त अशान्त हो जाता है। वासनाओं की पूर्ति से वासना की तृप्ति कभी हुई नहीं । इसलिए वासनापूर्ति के लिए परिश्रम करने वाले का चित्त कभी शान्त नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में मनु का प्रसिद्ध श्लोक स्मरणीय है -

'न जातु काम कामनामुपभोगेनशाम्यति ।'

कामनाओं के उपभोग से कामना कभी शान्त नहीं होती। प्रज्ज्वलित अग्नि घी की आहुति पाकर शान्त होने के स्थान पर, अधिक वेग से प्रज्ज्वलित होती है। साधक ने गृहस्थाश्रम में क्या किया? यही तो कामनाओं की तृप्ति के लिए, उनके लिए उपभेग सामग्री प्रस्तुत करता रहा। इस दुश्चक्र में फंसा, सम्पन्न गृहस्थ अधिकाधिक अशान्ति का शिकार बना। शान्त होने के लिए इस अशान्ति को दूर करना ही एक मात्र साधन है। अर्थात् साधना पथ पर अग्रसर होने के लिए अब मोहक चित्ताकर्षक और लुभावने विषयों का त्याग करना होगा। अष्टावक्र ने जनक को यही तो सब से पहला उपदेश दिया -

'मुक्ति मिच्छसि चिन्तातः विषयान् विषवन्त्यज ।'

अशान्त भवसागर से यदि मुक्ति अर्थात् छुटकारा चाहता है तो विषयों को विष समझ कर उनका परित्याग कर। अष्टवक्र का यह उपदेश हम साधकों के लिए भी उतना ही श्रेयस्कर है।

छठाव्रत- 'विद्वान्सः' बड़ा उपयोगी है। भक्त महात्मा और मठाधीश यह समझते हैं कि वेष बदल कर कुछ एक शास्त्रीय वाक्य स्मरण करके महात्मा बन जाना जीवन का परम उत्कर्ष है। **'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः'** - इस उक्ति में ज्ञान का अर्थ शास्त्रीय ज्ञान है जिसको मुण्डक उपनिषद् में **'अपरा'** कहा है।

'अपरा' में चारों वेद सांगोपांग सम्मिलित हैं। उपनिषद् कहती है कि इस 'अपरा' से ब्रह्मज्ञान न होगा। परन्तु ब्रह्मज्ञान की यह 'अपरा' एक आवश्यक सीढ़ी है। जब तक मनुष्य ब्रह्माण्ड में विद्यमान तीनो नित्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करने के बाद यह अनुभव नहीं कर लेता कि अनेक जन्म जन्मान्तरों में भी उसकी रचना के एक अंश का भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता तब तक सृष्टि के धर्ता, विधर्ता, संहर्ता के शुद्ध रूप को जानने की तीव्र प्यास उसके हृदय में नहीं उठ सकती। अपने युग के एक बड़े वैज्ञानिक न्यूटन ने अपने प्रशंसक के प्रशंसा वचनों के उत्तर में कहा - 'समुद्र पर अनन्त दूरी तक फैले रेत के ढ़ेर से मैंने केवल एक कण को जाना है"। जब अपरा के ज्ञानी का इस सीमा पर मोहभंग हो जाता है, तभी उसकी वास्तविक प्रवृत्ति 'परा' को जानने की हो सकती है। नारद सनत्कुमार संवाद भी इसी विचार को पुष्ट करने वाला है।

आचार्य कुल में सोलहों विद्याओं का अध्ययन करने के बाद 'परा' अध्यात्म विद्या की प्राप्ति के लिए परमऋषि सनत्कुमार के पास गए। सारांश यह कि विद्वान् होना आवश्यक है। विद्वान् ही स्वाध्याय और स्वाध्याय के बाद प्रवचन भी कर सकता है। साधना पूर्ति के लिए विद्वान् होना भी आवश्यक है।

सातवां आवश्यक व्रत **'भैक्ष्य'** चर्चा है। इन उपरोक्त व्रतों को पालन करना कठिन आवश्यक है। तभी तो कहा - **'क्षुरस्य धारा निशितदुरत्यया'** । परन्तु फिर भी मुनि बनने का शौक तो है **'भैक्ष्यचर्या'** का सीधा-सा अर्थ 'भीख मांगना' करके और उसको आजकल के युग में असंभव कह कर उसकी उपेक्षा कर दी गई है ।

भिक्षा का अर्थ भीख मांगना नहीं। इस सम्बन्ध में मनुस्मृति के चौथे अध्याय का श्लोक देखें -

"ऋतमुञ्छशीलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्ष्यं प्रभृतं कर्षणं स्मृतम् ।।

भिक्षा के द्वारा प्राप्त किए जाने वाले अन्न चार प्रकार के कहे गए हैं । सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट **'भैक्ष्य'** का नाम ऋत है। महर्षि कणाद की दिनचर्य्या उसका उदाहरण है। कणाद अपने आश्रम में निवास करते और खेत खलिहान में बचे अन्न के बीन कर लाते और उसी से जीवनयात्रा चलाते थे। स्थानीय शासक ने जब सुना कि मेरे प्रदेश में एक ऐसा प्रकाण्ड पण्डित दाने बीन कर पेट पाल रहा है, तो वह बहुत-सी खाद्य सामग्री लेकर उसके आश्रम गया। शासक का इरादा सुनकर कणाद ने उत्तर दिया - 'मैं यह झंझट नहीं पाल सकता। कौन इसकी निगरानी करेगा। मेरा निर्वाह बड़े आनन्द से हो रहा है। यदि फिर भी शासक का समाधान न हो तो मुझे अपने शासित क्षेत्र की सीमा बतला दें। मैं उसके शासन से बाहर चला जाऊँगा।' सर्वप्रथम और सर्वोत्तम भिक्षा का यह उदाहरण है। इसके बाद नम्बर दूसरी भिक्षा का है -

'अमृतं स्यादयाचितम्'

इस दूसरी भिक्षा का नाम **'अमृत'** है। जो बिना मांगे कोई दे जाय, उस भिक्षा का नाम 'अमृत' है। जिसको यह भिक्षा मिलती है, अवश्य ही देने वाला उस व्यक्ति की उपयोगिता को समझता होगा और कह सकते हैं कि उसके हृदय में दैवी प्रेरणा हुई होगी और वह केवल निमित्त बन कर उस उपयोगी व्यक्ति को बिना मांगे ही भिक्षा देता है। इस अयाचित भिक्षा का नाम 'अमृत' है। साधक ध्यान से देखें कि इन दोनों भिक्षाओं में मांगने का कहीं भी नाम नहीं है। इससे यह प्रमाणित हुआ कि भीख मांगने का ही नाम भिक्षा नहीं।

इसके विपरीत मांगी गई भिक्षा को मनु 'मृत' (मुर्दा) कहते हैं। **'मृतं त याचितं भैक्ष्यम्'।** एक चौथी भिक्षा भी होती है उसका नाम **प्रमृत** है। प्रमृत का अर्थ है सड़ा मुर्दा। जो पुरोहित सौदे-बाजी करके यजमान से उसकी इच्छा या सामर्थ्य से अधिक दक्षिणा लेता है उसका नाम 'कर्षण' है। **'प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्'।** साधक को तो गोपालन और शाकफल से यथासंभव निर्वाह करना चाहिए। घर-घर जाकर भिक्षा मांगना निषिद्ध कर्म है। साथ ही मनु के इस श्लोक से यह भी ध्वनित होता है कि शरीर यात्रा के लिए उपयोगी और पर्याप्त अन्नादि भोज्य सामग्री का नाम भिक्षा है। मठाधीशों की तरह आवश्यकता से हजारों गुणा भोज्य पदार्थों का संग्रह तो गृहस्थाश्रमियों के लिए भी उचित नहीं। निवृत्तराग अरण्यवादी साधकों के लिए तो सर्वथा निषिद्ध है। साधक के लिए दिये गए आदेश अभी समाप्त नहीं हुए। **'अत्ययात्मातंक'** जाने का मार्ग और साधक की उस मार्ग पर जाने की योग्यता का प्रमाण पत्र अभी शेष है। साधक को **'विरज'** होना चाहिए। तमोगुण का आश्रय लेने वाला साधक तो, साधना पथ पर चलना प्रारम्भ ही नहीं करता। इसलिए केवल एक ही नकारात्मक

विशेषण दिया उसे कि उसको विरज होना चाहिए। सकाम व्यक्ति कामनाओं की तृप्ति के लिए रजोगुण का आश्रय लेता है। यदि वह स्वाभाविक-प्राकृतिक क्रियओं का साक्षी बनकर याज्ञिक कर्मों में संलग्न रहे तो कामना पूर्ति अथवा कामना विधान से उत्पन्न सुख-दुख का भोक्ता बनने का अवसर ही न आवे। सुख-दुख आदि द्वन्द्वों से उत्पन्न मानसिक क्षोभ से व्यथित न हो। ऐसा कामनाओं की तृप्ति के लिए, प्राकृतिक पदार्थों के संग्रह की व्यर्थता को समझने वाला साधक न तो उन विषयों में अनुरक्त होगा और न उनसे विरक्त होगा। विरक्त होने के लिए पहले अनुरक्त होना आवश्यक है। जिसने अनुरक्त होना छोड़ दिया, उसको विरक्त होने का कोई अवसर ही नहीं। जिसने स्वर्णादि आकर्षक पदार्थों का मनमाना संग्रह करने के बाद देख लिया, स्पष्ट अनुभव कर लिया, कि इनके संग्रह में प्रारम्भ से आज तक, परेशानी और दुश्चिन्ता के सिवाय और कुछ नहीं, इस तत्वज्ञान के बाद उसको इन मोहक पदार्थों में अनुराग होगा ही नहीं। अनुराग के अभाव में **'वैराग्य'** को स्थान ही कहाँ रह जाता है। इसी मानसिक स्थिति वाले साधकों की प्रशंसा करते हुए महर्षि व्यास ने कहा **'वीतरागभयक्रोधः'** ऐसे साधक राग-विराग दोनों से ऊपर **'वीतराग'** हो जाते हैं। राग के अनन्तर वैराग्य का आना आवश्यक है। इसलिए साधक को 'वीतराग' होना चाहिए। वीतराग साधक ही साधना पथ की यात्रा का पूरा आनन्द उठा सकता है। ऐसे साधक का राजमार्ग कैसा प्रकाशित होता है इस बात को स्पष्ट करने के लिए कह दिया **'सूर्यद्वारेण'**।

अव्ययात्मा परमपुरुष के साक्षात्कार के लिए साधक ने जो मार्ग अपनाया है उसमें तमोगुण को स्थान ही न था । प्रयत्नपूर्वक साधक ने रजोगुण को भी विसर्जित कर दिया। अब शेष रह गया केवल 'सत्व' । इस सत्व गुण का स्वरूप बतलाते हुए कपिलाचार्य कहते हैं - **'सैत्वलघुप्रकाशम्'** इत्यादि। नभ और रज से रहित होने के कारण सत्वगुण हल्का है। और स्वभाव से प्रकाशस्वरूप है। उपनिषद् कहती है कि वीतराग साधक का साधनापथ जो कि उसको 'अव्ययात्मा' तक ले जाएगा असाधारण आकर्षक प्रकाश से प्रकाशित होता है। यह प्रकाश उसकी अपनी आत्मज्योति का होता है। इसकी प्रगाढ़ता का शब्दचित्र महर्षि व्यास के शब्दों में **'दिविसूर्यसहस्रस्यमवेद्युगपदुस्थिता'** कहा है। प्रकाश प्रगाढ़ होता हुआ भी प्रचण्ड नहीं अपितु मोहक होता है। एक बार साधक इस मार्ग का अवलम्बन कर लेता है तो इस प्रकाश के आकर्षण से वह निरन्तर साधना पर वह आगे ही आगे बढ़ता चला जाता है। इस प्रकाश की अनुभूति का नाम 'पर का दर्शन' है। इस पर के दर्शन से साधक ऐसे आनन्द का अनुभव करता है कि उसको फिर प्राकृतिक विषयों के रस इसके सामने तुच्छ लगते हैं। इस स्थिति में विद्यमान जीवात्मा के सम्बन्ध में कहा है -

निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।'

अव्ययात्मा सर्वथा वीतराग है। उसको कभी राग में आकर्षण ही नहीं हुआ। जब जीवात्मा भी ठोकरें खाने के बाद वीतराग हो जाता है तो अव्ययात्मा के साथ उसका परम सादृश्य हो जाता है, यथा -

'यथाशुद्धेशुद्धं समासिक्तं तादृगेव भवति'

जिस प्रकार शुद्ध निर्मल जल में, वैसा ही शुद्ध निर्मल जल डाला गया, तदाकार हो जाता है, इसी तरह निराकार निरंजन निर्गुण **'अव्ययात्मा'** परम पुरुष में निष्काम शान्त विवेकी जीवात्मा अवस्थित होकर तदाकार हो जाता है। ध्यान रहे कि आत्मा तदाकार हो जाता है किन्तु अपने व्यक्तित्व अथवा स्वरूप का परित्याग नहीं करता।

एक भारतीय अंग्रेजों की वेशभूषा और भाषा को स्वीकार कर लेने के बाद तदाकार तो हो जाता है परन्तु वह रहता भारतीय ही है। आत्मा भी परमात्मा की प्रमुख विशेषता निर्गुण और निराकारता को धारण करने के बाद 'अव्ययात्मा' में प्रतिष्ठित होकर परमसाम्य को प्राप्त होने के कारण तद्रूप तो हो जाता है परन्तु अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को खण्डित नहीं होने देता।